

धस्यैवंमानविकस्यचमायाविकर्षत्त्वं  
 करणातेसप्तविंशतिहपया  
 च्युच्चेर्गीलाणांवन्धव्यवच्छेदा  
 तिपातश्चभवद्येणाद्वा च्छ्रे  
 यस्तुभवक्षयेणप्रतिपतेतितर  
 तेऽस्याद्यमत्यएवाद्वर्षोप  
 वमिथ्यात्वंतक्षेपंचसम्यग्मि  
 वेदकसम्यग्हटिर्भवति तत  
 युक्तवावेषावतिष्ठति श्रेणिव  
 घातादिकं प्राग्वन्दिद्रादिकः  
 करणेतुस्यानर्द्धिविकस्य नर  
 स्तःकपायादकस्यान्येषातुर  
 वेदंततःकमेणकोषादीनसंज्ञ  
 संपरायद्वितिदंते चञ्चानाव  
 निद्राहयत्वंतसमयेच ज्ञान  
 नीवसेवैकंवज्ञातियावलम्बोर  
 मतस्तयोः स्थितिसाम्यापाद  
 समयेदंडंकरोति पुनर्द्वितीय  
 समयेत्वपरदिक्तिरथोतामे व  
 र्यसमये कार्मण्योगेनैवमं  
 रेयसमयैरपसंहरं सद्वरपारा  
 संहृत्यप्रत्यर्प्यच फलकादिव  
 नैवकमेण स्फुर्त्यमनोयोगनिति  
 व्युपस्ततत्कियमनिवर्त्ति  
 तववासौविधा कर्मा  
 मसमयंत त्वं

२१६

तथौष्टावपि  
 जिहां वित  
 न्ति इति ।

(टीका  
तुक निर्विव  
कान काट ह  
जिहा को पा

मूलम् ।  
गलंति ।

(छाय  
ग

(अन्त  
अजानी ( ।  
नरकम् (धर्णा  
अद्वेष्म ग्वार  
गिराते रहने

(भावा  
त्रके समान र  
गये हुए वे न

श्रेष्ठि-देवचन्द्र लालभाई-जैनपुस्तकोदारे ग्रन्थाङ्क: ११०

पञ्चमगणयुक्ती मरमधुमत्त्वाभिप्रणीत खरतरगच्छगणना हृषणभास्त्रपरप्रवर-

श्रीमतसाधुरङ्गाणि सङ्कलितया दीपिकया समलङ्घनं

श्री स्वरतराज्ञीय शान्त मत्त्वाभियपुरु

# श्रीसूत्रयगडाङ्गसत्रम् ।

( द्वितीयश्रुतस्कन्धामको द्वितीयो विभागः )

तथा श्रीत रामचन्द्रीयहर्षकुलगणिविरचितदीपिकाया विशिष्टभागेत संयुतम् ।

सम्पादकः—क्रियोद्वारकश्रीमन्मोहनलालजीमुनिवरविनेय स्व० अनुयोगाचार्य  
श्रीमतकेशरमुनिजीरणिवर-वित्तेयो बुद्धिमारामो गणि: ।

प्रकाशकः—सुरतचास्तठय श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्वारकोशास्य कार्यवाहको  
मोतीचंद्र मगनभाई चोकसी ।

वीरावदा २४८९

विक्रमावदा २०१९ \* \* \* शाके १८८५

विस्तावदा १९६२

प्रथम सरकाराम् । \*

निकाय राजकारणम् ।

प्रथम ५००

The Board of Trustees

1	Nemchand Gulabchand	Zaveri	1	શ્રી નેગયંડ ગુણાળાંડ દેવચાંડ	અરેસી	
2	Talukchand Motichand	"	2	દલેકુંદ ચૌટીલાંડ	"	
3	Babubhai Premchand	"	3	આયુષાંક મૈયાંદ	"	
4	Amichand Zaverchand	"	4	આનીલાંડ અરેચાંડ	"	
5	Keshrichand Hirachand	"	5	કેશરીલાંડ પીરાંદ	"	
6	Motichand Maganbhai	Choksi	6	ચોટીલાંડ મગાનભાઈ	ચોક્સી	

Hon Managing Trustee

ગાંગડ ગેઠાંગ ટ્રસ્ટી.



સંખ્યાનું દસ્તી માટે

અરેસી

નેગયંડ ગુણાળાંડ દેવચાંડ

"

દલેકુંદ ચૌટીલાંડ

"

આયુષાંક મૈયાંદ

"

આનીલાંડ અરેચાંડ

"

કેશરીલાંડ પીરાંદ

"

ચોટીલાંડ મગાનભાઈ

三

ପାଇଁ କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା

ਅਤੇ ਜਿਸ ਵਿਖੇ ਪ੍ਰਾਚੀਨ ਸ਼ਬਦਾਂ ਦੀਆਂ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਵਰਤੋਂ ਹਨ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਵਿਖੇ ਪ੍ਰਾਚੀਨ ਸ਼ਬਦਾਂ ਦੀਆਂ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਵਰਤੋਂ ਹਨ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਵਿਖੇ ਪ੍ਰਾਚੀਨ ਸ਼ਬਦਾਂ ਦੀਆਂ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਵਰਤੋਂ ਹਨ।

କାହିଁବେ କିମ୍ବା କିମ୍ବା କାହିଁବେ

( ੴ ਪ੍ਰਾਤਿਜਨਿਆਤਮਕ ਸਫ਼ਰਾਂ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਦਰਸ਼ਨ ਕੀਤੇ ਗਏ ਹਨ )



(3)

० एक हजार छह सौ बाहुनी का विप्र लोगों का अधिकारी था।

କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ

ମୁଖ୍ୟମନ୍ତ୍ରୀଙ୍କ ପାଇଁ ଏହାର ଅଧିକାରୀଙ୍କ ପାଇଁ ଏହାର ଅଧିକାରୀଙ୍କ ପାଇଁ

અથાંકન દ્વારા આવિધાન ચૂંટામણું હશે।

એવી વિધાન પરિણામનું હશે કે, જેથી આપણી સાંઘિક વિદ્યાની અભિવ્યક્તિ બનાવી જાય.

କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ

ପାଇଁ କୋଣାର୍କପାଥ-ମାଟେ ଲିଖିବି କୁନ୍ଦର ପାତା ଦ୍ୱାରା

କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା

१८ दिसंबर २०००, अमेरिका के विपक्षी राजनीतिज्ञ डेविड ब्रॉडबर्न.

ପ୍ରକାଶକ ପରିଷଦ୍ୟ ମହାନ୍ତିର ପରିଷଦ୍ୟ

ਕੀ ਜਾਂਗ ਦੇਣਾ, ਕੀ ਜਾਂਗ ਦੇਣਾ।

18

Detta är en del av en längre intervju med professor Lars-Olof Carlsson om den svenska rörelsen och dess historia.



11

੨੫ ਰਾਤ ਵਿਲੁਪ੍ਪਿਆਂ ਦਿਤੀ ਕਿਤੀ ਸੱਭਾ ਸੰਗ੍ਰਹਿ ਸੰਭਾਲ ਕੇ ਬਿਨੈਥੁਰ ਮੁਹੱਲਾ ਦੇ ਸੰਸਾਰ।

२८  
१६ विभिन्न पाल कुला १ एवं ०८ रसुनि।

શ્રી અર્પણાદિસરિકૃતા આપાંતર યુક્તા।

ପାଦରେ କିମ୍ବା ପାଦରେ କିମ୍ବା ପାଦରେ କିମ୍ବା ପାଦରେ

卷之三

દ્વારા આપેલ નિર્ધિષ્ટ માટે એક હેઠળજ શરીર વિસ્તાર રહે

બિલ્ડર્સ નું કામ (દ્વારા વિભાગ)

33 *... בְּנֵי יִשְׂרָאֵל וְבְנֵי עֲמֹק*

ପ୍ରକାଶକ ପତ୍ର ପରିଚୟ

ମୁଦ୍ରଣ ପତ୍ରିକା ପରିଚୟ

କାହାରେ କାହାରେ କାହାରେ କାହାରେ କାହାରେ

ପ୍ରକାଶକ ମହାନ୍ତିର ଅଧ୍ୟାତ୍ମିକ ପୁନଃପ୍ରେସ୍

સુરિલ બગેરે તરફથી માફશિલ થયા છે અને લોમાં હર્મન લોકાની તરફથી આખાર થિયું.

શ્રી જનમાણિકા ( અનુભાવિત ) અનુભાવિત આખાર આ ૧૦ શ્રી જનમાણિ-

કા ( અનુભાવિત ) અનુભાવિત કરી ચેતિ આ સુદૂર પણ અનુભાવિત આખાર થિયું.

શ્રી જનમાણિકા ( અનુભાવિત ) અનુભાવિત કરી ચેતિ આ સુદૂર પણ અનુભાવિત આખાર થિયું.

શ્રી જનમાણિકા ( અનુભાવિત ) અનુભાવિત કરી ચેતિ આ સુદૂર પણ અનુભાવિત આખાર થિયું.

શ્રી જનમાણિકા ( અનુભાવિત ) અનુભાવિત કરી ચેતિ આ સુદૂર પણ અનુભાવિત આખાર થિયું.

શ્રી જનમાણિકા ( અનુભાવિત ) અનુભાવિત કરી ચેતિ આ સુદૂર પણ અનુભાવિત આખાર થિયું.

શ્રી જનમાણિકા ( અનુભાવિત ) અનુભાવિત કરી ચેતિ આ સુદૂર પણ અનુભાવિત આખાર થિયું.

શ્રી જનમાણિકા ( અનુભાવિત ) અનુભાવિત કરી ચેતિ આ સુદૂર પણ અનુભાવિત આખાર થિયું.

શ્રી જનમાણિકા ( અનુભાવિત ) અનુભાવિત કરી ચેતિ આ સુદૂર પણ અનુભાવિત આખાર થિયું.

## જનમાણિકા

૧૮ પ્રદીપ

નુદીન બ્રહ્માણ્ડ

卷二

ପ୍ରକାଶ ପରିମାଣରେ ଏହାରେ ପ୍ରଦର୍ଶନ କରିବାରେ ଯାହାରେ ପରିମାଣ କରିବାରେ ଯାହାରେ ପରିମାଣ କରିବାରେ ଯାହାରେ ପରିମାଣ କରିବାରେ ଯାହାରେ ପରିମାଣ କରିବାରେ

କୁଳାଳ ପରିମାଣ କରିବାରେ ଏହାର ଅଧିକାର କରିବାରେ ଏହାର ଅଧିକାର କରିବାରେ ଏହାର ଅଧିକାର କରିବାରେ

၁၃

## निवेदन ।

मगवान् श्री महावीर रवामित्री के मुख से “ उपज्ञेह वा १ ” “ विगमेह वा २ ” “ शुब्रेह वा ३ ” इस प्रकार त्रिपदी सुण करके गणधरों ने द्वादशाष्टी की रचना करते समय प्रथम आचाराङ्ग सूत्र की रचना की कारण की “ सठ्वेस्मि आयारो तितथस्स पत्रचणे पदमयाए सेसाह अंगाह एकारस अणुपुनिवेष ” ( आचा० नि० गा. ८ )

तीर्थकर भगवान् अपने तीर्थ प्रवर्तन के-समय आहि में आचार को हि प्रधानता देते है । आत्मकदव्याणार्थ-जीवों के लिए तो “ चरण करण ” ही मोक्षप्राप्ति का प्रधानत साधन है । प्रथमुत्त सूत्रकृताङ्ग दुसरे नस्वर का सूत्र है, सूत्रकृताङ्ग का आचाराङ्ग सूत्र के साथ सम्बन्ध बतलाते हुवे नियुक्तिकार श्री भद्रचार्मि कहते है “ जीवो छकाय प्रह्लवणाय तेसि चहेण बंधोति ” ( आ० नि० गा. ३५ ) उपरोक्त पाठसे रपट है की आचाराङ्ग सूत्र में बतलाए हुए पृथकीकाय आदि घट, जीवनिकाय प्राणियों के वरपरे याने हिसो से उत्पन्न होनेवाले कर्मों का “ बंध ” उसको समझों और समझने के बाद ज्ञानपूर्वक किया द्वारा लाग करो “ बुद्धिज्ञाज्ञति तिउहिज्ञा बंधुणं परिजापिया ” इत्यादि उपरोक्त सूत्रकृताङ्ग के आदिम सूत्र में ( सू. १ ) श्री गणधर सुधर्मास्वामि बतलाते है कि कर्म-

<sup>१</sup> भगवान् महावीर ने अपनी दीर्घकालिक साधना के बाद जो अनुभव रख प्राप्त किया गया है कि कोइ भी पुरुष

॥ २ ॥

उल्लेख इस प्रकार है ।

सम्बन्धत १९४९ वर्षे कार्तिक सुदि पूर्णिमासी मेदनीपूरवरे ॥

(४) प्रति कच्छ मांडवी नगर में श्री घर्मनाथस्वामि प्रमादस्य शानभडार में सुरक्षित है, पत्र सं. ७६ पञ्च पाठी ।  
प्रान्त में पुष्टिपक्षा इस प्रकार है—

संगत २६६७ वर्ष मागसिर गासे शुक्ल पक्षे एकादशवर्षा तिथी गुरुगामरे श्री जेमलमेर हुर्ग प्रवारे, राउलश्री भीमजी राज्ये, श्री लोका गच्छे आचार्य श्री द रत्नसीजी पठनार्थ, संघपति तेजपाल पुत्रे संघपति जीना, ततः पुत्रे संघपति कच्चरा, स्वहस्तेन लिखिता, कृपि श्री पृथ्वीमल्ल कपिरहना, लिखापिता वाच्यमाना शुभं भवतु ।

उपरोक्त प्रतियों के आगार से रक्षण्य गुनिजी गणिजी ने संशोधन करने का प्रयास किया और भव्य जीवो के उपकारार्थ द्वितीय दीपिका श्री हर्षकुलगणि रचित भी इसमें संमिलित की गई है, इसलिये पढ़नेवालों को बड़ी सुविधा रहेगी ।

संशोधन करते समय दृढ़दृष्टिएवं हर्षकुलगणि की दीपिका संमुख रखके संशोधन किया है किसी किसी जगह पर उपयोगी पाठ समाज करने के लिप्पण भी किए गये हैं । हर्षकुलगणिरचिता दीपिका इस प्रतिमें संभूर्ण नहि छपा है, इसका गहनवूर्ण गाग हि इसमें दिया है ।

पाठकप्रवर श्री साधुरंगगणि का विशेष परिचय नहीं मिलने से यहा नहीं है सकता हुं और जो परिचय है सो इस मध्य के अंतिम प्रशस्ति पृष्ठ-स. १५४ पर दी गई है, इससे उनका परिचय मालूम हो जाता है ।

उपरोक्त दोनों दीक्षाओं के आधार पर स्वर्गस्थ गणि श्री बुद्धिमुनिजी महाराज ने अत्यत परिश्रम करके संपादन किए हैं विशेष करके तो शरीर अवश्य दोने पर भी फारम का खुद ही सशोधन करते थे। एवं वंडित कपुरचढ़जी चारौया को भी तचियत की उद्यादा अवश्यता के कारण सशोधन के लिए दिए गये थे। उद्यादा सावधानी रखते पर भी यदि कोई त्रुटीया रह गई हों तो सुझ वाचक वर्ण सुधार के पहे एही प्रार्थना है।

ज्ञानवृद्धि के देह से उपरोक्त प्रतियों को प्रदान करने में जीन महाशयोने सहायता दी है वह घन्यवाद के पात्र है। श्री देवचंद लालभाई ट्रस्ट के कार्येचाहक श्रीयुत् केशरीचंद्रजी हीराचंद्रजी के द्वारा प्रस्तावना आदि लिखने की सूचना मिलने पर 'निवेदन' में लिखा है। एवं गणि श्री बुद्धिमुनि जी महाराज के शिष्य जयानंदमुनिने भी मूलसूत्र की अकारादि परिशिष्ट तथा दीपिकागत सुभाषित गद्य पद्य संग्रह लिखने में भी प्रयत्न किया है।

अतः संपादक महाशयजी का परिश्रम को ग्रंथ पठनपाठन करके ज्ञानवृद्धि साथ सफल करे। इति शुभेच्छा ।

निवेदक :—  
ठिं० माधवलाल चान्द  
घर्मशाला—पालीताणा।

उपाध्याय श्री सुखसागरजी म. के शिष्य  
मुनि मङ्गलसागर

सं. २०१८ कालिक शुक्ला ११

परिशिष्ट नं. ?

मूलसूत्राणामकाराद्यतुक्तमः ।

अ

अह पुरिसे पुरिथ०  
अहावरे दोषे दंड०  
अहावरे तगे पुरि०  
अहावरे चउरथे पुरि०  
अहभिक्षु लुदे०  
अचमाचसो आता दीदेती०  
अहावरे दोषे पुरि पंच०  
अहावरे चउ० पु० नियति०

पाठ	व्याख्या	पाठ	व्याख्या
१	अहावरे दोषे दंड०	३७	
२	अहावरे तगे दंड०	३९	
३	अहावरे चउ० दंड०	३९	
४	अहावरे पंच० दंड०	४०	
५	अहावरे छहे भोस०	४१	
६	अहावरे सत्तमे किरिया०	४१	
७	अहावरे अटुमे किरिया०	४२	
८	अहावरे नयमे किरिया०	४२	
९	अहावरे दममे किरिया०	४३	

अहा० एकारसमे किरिया०  
 अहा० वारसमे किरिया०  
 अहा० तेरसमे किरिया०  
 अहुतरं च णं पुरिस  
 अहुआ आणुगामिए  
 अहुवं वा अच्छुराए  
 अहावेरे दोच्छस ठाणं  
 अहा० तष्टस ठाण०  
 अहा० पठम[स्स] ठाण०  
 अहा० दोच्छ० ठाण० धम्म०  
 अहा० तष्ट० ठाण० भीस०  
 अविरिति पञ्च बाले  
 अहावर पुत्रराणं

पत्राक	४४	अहा० पुर० कम्मनिया०
	४५	अहा० पुर० रक्खेषु०
	४६	अहा० पुर० अज्ञार०
	४७	अहा० पुर० पुद्विजोणिया०
	४८	अहा० पुर० जाव कम्म०
	४९	अहा० पुर० कम्मनिया०
	५०	अहा० पुर० उदप्सु०
	५१	अहा० पुर० चेव पुढिं०
	५२	अहा० पुर० नाणविहाण०
	५३	अहा० पुर० ऊणविहाण०
	५४	अहा० पुर० चउप्पय०
	५५	अहा० पुर० उरपरि०
	५६	अहा० पुर० पुथपरि०

स्वरूपाक्ष

सूत्र-  
दीपिका ।

अहा० पुर० खहयर०  
अहा० पुर० इहेगतिया०  
अहा० पुर० सत्त्वानाणा०  
अहा० पुर० सत्वाडदा०  
अहा० पुर० उदएसु०  
अहा० पुर० नाणविह०  
अहा० पुर० वाडकाय०  
अहा० पुर० पुढविच्चाए०  
अहा० पुर० सन्वे पाणा०  
असतएं मणेण०  
अन्नचेरेण मणेण०  
अहारुम्माणि शुंजति०  
असेसं अक्खयं वा०

पत्राक

अहि० पुर० खहयर०

८७

अहेगतिया०

८८

सत्त्वानाणा०

८९

सत्वाडदा०

९०

उदएसु०

९१

नाणविह०

९२

वाडकाय०

९३

पुढविच्चाए०

९४

सन्वे पाणा०

९५

मणेण०

९६

मणेण०

९७

शुंजति०

९८

वा०

९९

अहारुम्माणि

१००

शुंजति०

१०१

वा०

१०२

अहारुम्माणि

१०३

शुंजति०

१०४

वा०

१०५

अहारुम्माणि

१०६

शुंजति०

१०७

वा०

१०८

अहारुम्माणि

१०९

शुंजति०

११०

मूल-

सूत्राणा०-  
मकाराय-  
तुकम्बः ।

पत्राक

मूलाणा०-

मकाराय-

तुकम्बः ।

पत्राक

१२२

१२३

१२४

१२५

१२६

१२७

१२८

१२९

१३०

१३१

१३२

१३३

१३४

१३५

१३६

१३७

१३८

१३९

१४०

१४१

१४२

१४३

१४४

१४५

॥ ४ ॥

पत्रांक	२४	२६	२७	३३	४९	६०	७५	१००	११३	११७	८	८
---------	----	----	----	----	----	----	----	-----	-----	-----	---	---

आउसतो गोयमा० १३४  
 आउसो गोयमा० १३४  
 आउसतो उदगा० १५३  
 इह खलु पाइण् वा० १३४  
 इह खलु पंच मह० १३४  
 इह खलु घम्मा पुरिसा० १५३  
 इमं सञ्च इमं तहित० १५३  
 इह खलु दुवे पुरिसा० १५३  
 इबते. चत्तारि पुरिस० १५३  
 इह खलु पुरिसे अझ० १५३  
 इह खलु सम अझ० १५३  
 इह खलु कामभोगा० १५३

उ

पत्रांक	१३४	१३४	१५३	१५३	१५३	१६	१८	१९	२१	२२	२३	२३
---------	-----	-----	-----	-----	-----	----	----	----	----	----	----	----

आउसतो गोयमा० १३४  
 आउसो गोयमा० १३४  
 आउसतो उदगा० १५३  
 इह खलु पाइण् वा० १३४  
 इह खलु पंच मह० १३४  
 इह खलु घम्मा पुरिसा० १५३  
 इमं सञ्च इमं तहित० १५३  
 इह खलु दुवे पुरिसा० १५३  
 इबते. चत्तारि पुरिस० १५३  
 इह खलु पुरिसे अझ० १५३  
 इह खलु सम अझ० १५३  
 इह खलु कामभोगा० १५३

मूल-  
सूत्र-  
दीपिका ।  
॥ ५ ॥

रहुं अहेयं तिरियं ।  
रहुं अहेयं ति० विआय०  
एवं परो पागिभता०  
एवं से भिक्खु विरए०  
एत्य वि सिषा एथ्य०  
एवं से भिक्खु धर्मशरी०  
एवमेव ते इथिकामेहि०  
एवमेव समणुगमम०  
[ एवं ] ओसहीयं चत्ता०  
एवं खलु भगवच्या०  
एवं से भिक्खु विरते०  
एषहि दोहि उणेहि०

११८ पत्रोक्त १०४  
१२४ " १०५  
१२८ पत्रोक्त १०६  
१२९ पत्रोक्त १०७  
१३० पत्रोक्त १०८  
१३१ पत्रोक्त १०९  
१३२ पत्रोक्त ११०  
१३३ पत्रोक्त १११  
१३४ पत्रोक्त ११२  
१३५ पत्रोक्त ११३  
१३६ पत्रोक्त ११४  
१३७ पत्रोक्त ११५  
१३८ पत्रोक्त ११६  
१३९ पत्रोक्त ११७  
१४० पत्रोक्त ११८  
१४१ पत्रोक्त ११९  
१४२ पत्रोक्त १२०  
१४३ पत्रोक्त १२१  
१४४ पत्रोक्त १२२  
१४५ पत्रोक्त १२३  
१४६ पत्रोक्त १२४  
१४७ पत्रोक्त १२५  
१४८ पत्रोक्त १२६  
१४९ पत्रोक्त १२७  
१५० पत्रोक्त १२८  
१५१ पत्रोक्त १२९  
१५२ पत्रोक्त १३०  
१५३ पत्रोक्त १३१  
१५४ पत्रोक्त १३२  
१५५ पत्रोक्त १३३  
१५६ पत्रोक्त १३४  
१५७ पत्रोक्त १३५  
१५८ पत्रोक्त १३६  
१५९ पत्रोक्त १३७  
१६० पत्रोक्त १३८  
१६१ पत्रोक्त १३९  
१६२ पत्रोक्त १४०  
१६३ पत्रोक्त १४१  
१६४ पत्रोक्त १४२  
१६५ पत्रोक्त १४३  
१६६ पत्रोक्त १४४  
१६७ पत्रोक्त १४५  
१६८ पत्रोक्त १४६  
१६९ पत्रोक्त १४७  
१७० पत्रोक्त १४८  
१७१ पत्रोक्त १४९  
१७२ पत्रोक्त १५०  
१७३ पत्रोक्त १५१  
१७४ पत्रोक्त १५२  
१७५ पत्रोक्त १५३  
१७६ पत्रोक्त १५४  
१७७ पत्रोक्त १५५  
१७८ पत्रोक्त १५६  
१७९ पत्रोक्त १५७  
१८० पत्रोक्त १५८  
१८१ पत्रोक्त १५९  
१८२ पत्रोक्त १६०  
१८३ पत्रोक्त १६१  
१८४ पत्रोक्त १६२  
१८५ पत्रोक्त १६३  
१८६ पत्रोक्त १६४  
१८७ पत्रोक्त १६५  
१८८ पत्रोक्त १६६  
१८९ पत्रोक्त १६७  
१९० पत्रोक्त १६८  
१९१ पत्रोक्त १६९  
१९२ पत्रोक्त १७०  
१९३ पत्रोक्त १७१  
१९४ पत्रोक्त १७२  
१९५ पत्रोक्त १७३  
१९६ पत्रोक्त १७४  
१९७ पत्रोक्त १७५  
१९८ पत्रोक्त १७६  
१९९ पत्रोक्त १७७  
२०० पत्रोक्त १७८  
२०१ पत्रोक्त १७९  
२०२ पत्रोक्त १८०  
२०३ पत्रोक्त १८१  
२०४ पत्रोक्त १८२  
२०५ पत्रोक्त १८३  
२०६ पत्रोक्त १८४  
२०७ पत्रोक्त १८५  
२०८ पत्रोक्त १८६  
२०९ पत्रोक्त १८७  
२१० पत्रोक्त १८८  
२११ पत्रोक्त १८९  
२१२ पत्रोक्त १९०  
२१३ पत्रोक्त १९१  
२१४ पत्रोक्त १९२  
२१५ पत्रोक्त १९३  
२१६ पत्रोक्त १९४  
२१७ पत्रोक्त १९५  
२१८ पत्रोक्त १९६  
२१९ पत्रोक्त १९७  
२२० पत्रोक्त १९८

पत्रोक्ता०

सूत्र-  
दीपिका ।

॥ ५ ॥

क  
फिहिए नाए समणाचसो०  
किरियाइ वा अकिरि०  
किरियाति वा जाव०  
कहाणे पावए वा चिऽ०  
कि तेसि तहरपगा०  
गंता व तत्था अदुवा०

ग

॥ ५ ॥

चौमणः—से कि कुन्वं०  
 जंपि य इमं समाणाणं०  
 जे खलु गरुथा सारंभा०  
 जे [य] अतीया०  
 जे इमे तसा थावरा०  
 जे इमे काममोगा०  
 जपि य इमं संपरा०  
 जावि य से अनिभतरिया०  
 जहा से वहए तस्म वा०  
 जे पए सक्री वा असक्री०  
 जे केइ खुड्हगा पाणा०

पञ्चाक

३०१

जमिदं ओरालमाहारं०  
 लेयावि बीओदग मोतिं०  
 जीवाणुभाग लुविचित०  
 जे यावि भुजति तदप्य०  
 जे गरहिय ठाणमिहा०

३०

३१

३२

३३

३४

३५

३६

लोडकामकिचा ण य०  
 णं ण कुज्जा विहुणे०  
 णेंगतिएणचतिय०

३०

३१

३२

३३

३४

३५

३६

पञ्चाक	१०६	११७	१२५	१२६	१३०	११९	१२०	१२२	१८	३२	३५
--------	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	----	----	----

मूल-  
सूत्राणा-  
मकाराद्य-  
तुकमः ।

पत्रांक	११७	ते अन्नमत्रसतु०
	१२६	तं सुंजमाणा मिस्ति०
	१३३	तेण कालेण तेण समए०
	१३३	तत्थ एं नालदाए०
	१३३	तत्स एं लेवस्स गाहा०
	१३४	तर्स्स च ण शिहपदे०
	१३९	तसेहि पाणेहि तिहाय०
	१४०	तसा वि तुच्छति तसा०
	१५०	तत्थ आरेण जे तसा०
	१५१	तत्थ जे आरे० जाव आई०
	१५३	तए एं से उदए पेडाल०
	१२५-	थ शुलं उरव्वमं इह मारि�०
पत्रांक	५८	दीपिका ।
	५८	ते इणमेव जीवितं०
	५९	तं जहा अझ अझकाले०
	६५	तत्स एं पगमचि०
	७०	तेण परगा अंतो०
	७३	तेण तत्थ देवा भवंति०
	८४	ते सब्बे पावाडया०
	८१	तत्थ एं जीवा हस्थि०
	८७	ते जीवा माडए उम्ब०
	८७	तत्थ खलु भगवता०
	९७	तत्थ लखु भगवता०
	१००	तत्थ खलु भगव० दुवे०
	१०१	तत्थ से अपिचिं चि ]ता
		तत्थ खलु भगव० छज्जीव०

सूत्र-  
दीपिका ।  
॥ ८ ॥

ते इणमेव जीवितं०  
तं जहा अझ अझकाले०  
तत्स एं पगमचि०  
तेण परगा अंतो०  
तेण तत्थ देवा भवंति०  
ते सब्बे पावाडया०  
तत्थ एं जीवा हस्थि०  
ते जीवा माडए उम्ब०  
तत्थ खलु भगवता०  
तत्थ लखु भगवता०  
तत्थ खलु भगव० दुवे०  
तत्थ से अपिचिं चि ]ता  
तत्थ खलु भगव० छज्जीव०

सूत्र-  
दीपिका ।

॥ ८ ॥

॥ ६ ॥

थावरकायाओ विष्प०

द

देहाचुए कमवितिए०  
दोसे इ वा पेसे इ भय०  
दीसति समियाचारा०  
दक्खिखवणाए पडिलभो०  
दयावर घम्म दुगुडु०  
दुहबो यि घम्मंपि०

ध

घम्म कहतस्स उ०

न

नो इणमटे समटे०  
नतिथ लोए अलोए वा०

२

पत्रांक  
१४१

नतिथ जीचा अजीचा वा०  
नतिथ घम्मे आहम्मे वा०  
नतिथ वधे व मुकखे वा०  
नतिथ पुत्रे व पावे वा०  
नतिथ आसवे संवरे वा०  
नतिथ वेयणा निजरा वा०  
नतिथ किरिया अकिरि०  
नतिथ कोहेव माणे वा०  
नतिथ माचा व लोभे वा०  
नतिथ पेज्जे व दोसे वा०  
नतिथ चाडरते सचारे०  
नतिथ देवा व देवी वा०  
नतिथ सिढ्डी असिढ्डी वा०

पत्रांक  
१०७

१०७  
१०८  
१०८  
१०८  
१०८  
१०८  
१०९  
१०९  
१०९  
१०९  
११०

खूबकुताङ्गः

खूब

दीपिका ।

॥ ७ ॥

न दिथ सिद्धी नियं राणं०  
न दिथ साहु असाहु चाऽ  
न दिथ कलाण पावे वाऽ  
न किञ्चि रुचेणऽभिं०  
निगमयस्ममि इमा०  
न जातथ अभिओरेणं०

४

पुन्वामेव तेस्मि णाय०  
पुढवी एवो महवभुते०  
पठमे दड समादाणे०  
पुरे कह अह ? इमं उणेह०  
पञ्चं जहा चणीए०  
पिचाग पिछीपाचि०

पाठक	११०	पुरिसं च विद्युत्ता०	५०	भामं उपायं सुचिणं०
	१११	पुरिसेति पिञ्जति०	५१	गण [ ह ] देवाणुपिया०
	११२	वाले पुण एवं विषष्टि०	५२	भूयामिसंकाह दुगुंछ०
	११३	दुद्रस्त आपाह इसं०	५३	भगवं च न उदाहु०
	११४	४	भ० च न उ० दर खलु गाहा०	५४३

पाठक	१२३	पत्राक्	१२३	सूत-
	१२४	सूताणा-	१२४	मकाराध-
	१२५	मकाराध-	१२५	तुकमः ६
	१२६	ग	१२६	
	१२७	वाले पुण एवं विषष्टि०	१२७	
	१२८	दुद्रस्त आपाह इसं०	१२८	
	१२९	४	१२९	
	१३०	भामं उपायं सुचिणं०	१३०	
	१३१	गण [ ह ] देवाणुपिया०	१३१	
	१३२	भूयामिसंकाह दुगुंछ०	१३२	
	१३३	भगवं च न उदाहु०	१३३	
	१३४	भ० च न उ० दर खलु गाहा०	१३४	
	१३५	भ० च न उ० केह ख० परि०	१३५	
	१३६	भ० च न उ० सतेगतिया०	१३६	

मूल-  
सूताणा-  
मकाराध-  
तुकमः ६

॥ ७ ॥

भ० च ं उ० स० नौ खलु०

भ० च ं उ० स० स० मणुस्ता०

भ० च ण उ० स० भवति आर०

भ० च ं उ० स० पाणा०

भ० च ं उ० स० पाणा भवंति०

भ० च ं उ० स० समणो०

भ० च ण उदा० ण प॒य भूय०

भ० च ण उदा० आउस्तो०

भ० च ण उदा० तते ं०

### म

महया हिमवंतमलय०

महन्वए पच अणुव्वए०

मेहाविणो सिक्षिवि०

१४६

१४७

१४८

१४९

१५०

१५१

१५२

१५३

१५४

१५५

१५६

१५७

१५८

१५९

१६०

१६१

१६२

### ल

लोयं च खलु मए०  
लद्धे ( हु ) अटु अहो०

लोय अजागितिह०  
लोयं विजाणितिह०

### क

विज्ञति तेसि परक्षमे०  
वितेसिणो मेहुपपसंप०  
वायाभिओङ्गण जपाच०

### स

सुयं से आउसंतेण०  
से जहानामए केइ०  
सतो णाथ्य विणासो०

से किणं किणावेमाणे०  
से जहानामए गंडें०  
से जहानामए अरई०  
से जहानामए चमिए०  
से जहानामए लक्खेवे०  
सउणीपजर जहा०  
से वेमि पाइण वा० ४ सते०  
से मेहावी जाणेज्जा०  
से मेहावी जाणिज्जा वाहिर०  
से वेमि० पाइणं वा० ४ जाच०  
से वेमि पाइणं वा०  
से भिक्षु जाणेज्जा०  
संति विरति उवसम०

पत्राङ्क १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३

से भिक्षु घम्म किई०  
समणेति वा मादणेति०  
सुय मे आउस इ० स० किरिया०  
से जहानामए केइ०  
से जहानामए केइ० पुरि० कल्छं०  
से जहानामए केइ० पु० सालीणि०  
से जहानामए केइ० पु० गाचधा०  
से जहानामए केइ० पु० अंतोस्त्वे०  
से एगइओ आगहेउ०  
से पगतिओ आणुगा०  
से एगइओ उच्चर०  
से एगइओ पाडिपहिय०  
से एगतिए सपिन्छे०

पत्राङ्क ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३

पत्राक	५३	से एगतिओ केणइ आदा०
	५३	से एगतिओ केणइ आया०
	५३	से एगइओ केणइ आदा०
	५३	से एगइओ तो विति०
	५४	से एगइओ पो० चिँ० गाहाब०
	५४	से एगतिओ समण०
	५४	से जहानामए केइ०
	५४	से जहानामए ( केइ ) रक्खेँ०
	५४	से जहानामए अणगारा०
	५४	से जहानामए समणो०
	५५	सुर्य मे आउस० इ० ख० आहार०
	५५	सुर्य मे आउस० इ० ख० पञ्चखां०
	५५	से किंतं अस्त्रिदिदुर्देते०

से एगातिए गंठिल्हें० से एगातिए उरविभय० से एगातिए सोचरिय० से एगाइओ वाहुरि० से एगाइओ सावणी० से एगाइओ मानिल्हय० से एगाइओ गोघाय० से एगातिओ गोपाल० से एगातिओ सोचणी० से एगातिओ सोय० परि  
स्तेगतिया मणुस्सा० से एगाइओ केणति० से एगा० केण० आयाहे

सन्धयजोणिया वि खलु ०  
समुच्छिहिति सत्थारो ०  
साऽऽजीविया पहुचिता ०  
समिष्ठ लोय तस पाव ०  
सीओदं सेवउ धीय ०  
सीओदं चा तह धीय ०  
सिया य वीओदगइ ०  
समारभते वणिया ०  
सिणायगाण तु दुवे ०  
सिणायगाण तु दुवे ०  
सहवेसि जीवाण दयहु ०  
सिणायगाण तु दुवे ०  
सिणायगाण तु दुवे ०

# दीपिकागत-सुभाषित-गद्य-पद्य-संग्रहस्याकाराद्युक्तमाणिका ।



पत्राक

<p><b>अ</b></p> <p>अमृतशेततो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्षियः । अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म, आत्मा कपिलदर्शने ॥</p> <p>अब्दंगेण व सगड न तरइ बिगाँ च जो साहु । सो रागदोसरहिओ, मत्ताएँ विहीइ तं सेवे ॥</p> <p>अज्ञातश्विसोहिए, जीवनिकाएहि सघ ( हे ) दो लोए । देसियमहिसयचं, जिणोहि तेलोकहदसीहि ॥</p> <p>अज्ञाणनिरंतरतिमिर पूरपूरियमि भवभवणे । को पडह ? पराथे, जह इ गुरुदीवा न दिवंति ॥</p>	<p>पत्राक</p> <p>१४</p> <p>३२</p> <p>१०५</p> <p>१११</p>	<p>अहु गुणां मञ्चे, इक्षेण गुणेण संघपचकर्व । तित्खुलय कुणंतो, तुगवरो सो इहं नेओ ॥</p> <p>अपपत्तिय जेण सिया, आसु कुपेज्ज वा परो । सठवसो तं न भासिज्जा, भासं अहियगामिणि ॥</p> <p>आ</p> <p>आया चेव अहिसा, आया हिसति निच्छब्दो । एसो जो होई अपमत्तो, अहिसओ हिसओ इयरो ॥</p> <p>हृ</p> <p>इसीपठभाराय, उवरि खलु जोयणांमि जो कोमो ।</p>	<p>१११</p> <p>११२</p> <p>१०५</p> <p>१०५</p> <p>१११</p>
------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------	---------------------------------------------------------	---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------	--------------------------------------------------------

## छत्रकृताङ्गः

कोसस्त च छब्माए, सिद्धाण्डोगाहणा भणिया ॥

दीपिका ।  
स्त्र

उचालियंभि पाए, इरियासमियस्त सकमदाए ।  
वावजेज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तज्जोगमासज्जा ॥ ॥ १० ॥

एकस्य जन्ममरणे, गतगश्थ शुभाशुभा भवावत्ते ।  
तस्मादा कालिनहित—मे केनैन्वासनः कार्यम् ॥  
एरण्डफलचीजादे—र्घन्षच्छेदयथा गतिः ।  
कर्मवन्धनविच्छेदात्, सिद्धस्यापि तथा भवेत् ॥

कुमुमपुरोमे वीजे, मशुराच्चा नाकुरः समुद्धवति ।  
यत्रैव तस्य वीजं, तज्जोवोदप्यते प्रमनः ॥  
को दुःख पाविज्ञा ॥ करस्त व सुक्खे हि विम्फ्टो हुञ्चा ?

पत्रांक	११२	को व न लहित्तु ? मुक्ख, रागहोसा जह न हुञ्जा ॥	१०९
		कुलालचकहोलेनु, मुख्याणा हि यथा गतिः । पूर्वप्रयोगतः सिद्धांश्चेद्यतितस्तथा ॥	१११
	१०५	केवलमणोहिचउदस—दसनवपुन्तीहि सप्य रहिष्ट । सुद्धमसुद्ध चरणं को जाणई ? करुज्जभावं व ॥	११२
	२५	कालाइदोसवसाओ, कहवि दीधति तारिचा न जह । सठवरय तद्विन निधन्ति, नेव कुरुज्जा अणासाचं ॥ कालोचियजग्याए, सचउररहियाण उरजसत्ताणं । जणजत्तारहियाणं, होइ जहां जर्हण सया ॥	११३
	७७	केवद्यं काल हु दे माणुषिप्याण तित्ये आणुसज्जित्सह । गोगमा । इफामीसवासप्रहस्ताइं सम तित्ये अणुस- विगसद्, तित्य पुण चाउचणो समणसंचो समणा समणीओ सावया सावियाओ ॥	११४

दीपिका-	गत-	पत्रांक
	सुभापित-	११२
	गद्य पद्य-	१०५
	संग्रहस्था-	१११
	कमणिका ।	११३

च

चत्तारि पंच जोयण सयाँ गधो उ मण्यलोयसस् ।  
उहुं वच्चइ लेणं, न हु देवा तेण आविति ॥

ज

जे जत्तिया य हैऊ, भवसस ते चेव तचिया मोक्षदे ।  
गणणाईया लोगा, दोण्हवि पुण्णा भवे तुला ॥  
जहाया होही पुक्छाला, जिंदपासमि उत्तर तहया ॥  
इक्षस्स निगोयसस्, अणतभागो य सिद्धिगाओ ॥  
जो य पमतो पुरिसो, तरस य जोगं पडुच्च जे छचा ॥  
वाचिडजते नियमा, तेसि सो हिसओ होइ ॥  
जे वि न वाचिडजंती, नियमा तेसि पि हिसओ होइ ॥  
सावज्जो य पओरेण, सठवभावेण सो जम्हा ॥

जो य पओग लुंजइ, हिसत्थं जो य अन्नभावेण ।

अमणोय जो पुंजइ, इरथ विसेसो महं बुतो ॥

जा जयमाणसस भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्रसस् ।

सा होइ निडबरफला, अवज्ञतयविसोहिजुत्तसस् ॥

जं अन्नाणी कम्म, खवेइ बहुयाहि वासकोडीहि ।

तं नाणी तिहि गुतो, खवेइ ऊसासमितेण ॥

लिण पचमु कहाणएमु चेव महरिसितचाणुभावाओ ।

जरमंतरनेहेण य, आगच्छंति सुरा इहयं ॥

त

तस्स असचयओ स-चयओ ( य ) जाइ सचाइं ।

जोगं परप विणशसति, नहिय हिसाफळं तरस ॥

तो बहुगुणनासाणं, समसत्तचरितगुणविणासाणं ।

न हु वसमांगतबं, रागदोसाण पावाणं ॥

पत्राक

तपासथारनिसन्नोऽवि, मुनिवरो भद्रागमयमोहो ।  
जं पावइ सुपिसुहं, कतो ? तं चक्षवहृषि ॥

॥ ११ ॥

त य हिसामिरेण, सावन्जेणाति हिसभो हीई ।  
अणचज्जे य पओगे, ण सठवभावेण सो जम्हा ॥  
नाणी कमरस स्थगड़—सुहिंओ तो हिंझो य हिसाए ।  
जयइ असढ अहिस( त्थ )—सुहिंओ अवहिओ सो उ ॥ १०५

त य हिसामिरेण, सावन्जेणाति हिसभो हीई ।  
सुहुदस य सपच्ची, अफला भणिया जिणवरेहि ॥  
त चापो गौरयामावा—ऋ तिर्थक् प्रेरकं विना ।

त च धमास्तिकायस्याभावाहोकोपरि ब्लेत् ॥  
नुलोकतुल्यविहरम्भा, सितच्छन्ननिभा शुभा ।  
उद्दं तस्याः क्षितेः सिद्धा, लोकान्ते समवस्थिताः ॥

१११

नो किण्हे नो जीले नो लोहिए तो हालिदे नो शुणिछे  
नो सुरभिंधे नो दुरभिंधे नो तिते नो कहुए नो  
कसाए नो अंधिले नो महुरे ( नो लच्छे ) नो बटे नो  
तंसे नो चउरसे नो परिमंडले नो दीहे नो हस्से नो  
गुहए नो लहुए नो सीए नो उण्हे नो करखडे नो मउए  
नो इत्थी नो पुरिसे नो अन्हा ॥

११२

प्रापन्यो नियतिचलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति  
तुणा शुमोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि  
यत्ते तामाहय भवति न भावितोऽक्षित नाशः ॥ ११३  
पञ्चेन्द्रियाणि निविध बलं च, उच्छ्रुता स निकास-  
मथान्यदायुः । प्राणा दरैते भगवद्विरुक्तो—स्त्रेषां  
वियोजीरण तु हिंसा ॥

१०५

दीपिका—  
गत-  
शुभापिता—  
गद्य-पद्य-  
सप्तस्पष्ट-  
काराधनु-  
क्रमणिका ।

प्रस्तुक्ष एवं विश्वेऽस्ति मन् प्रपञ्चः पुण्यपापयोः  
द्विभिन्नं(हि) जगत्सर्वं सुरुदुःखन्यवस्थया ॥  
पूर्वप्रयोगतोऽस्त्र—भावाद्बन्धविमोक्षतः । स्वभाव-  
परिणामाच, सिद्धस्योद्देवगतिभवेत् ॥  
पलए महागुणाणं, हवति सेवारिहा लहुगुणा वि ।  
अत्यमित दिणनाहे, अहिलसह जणो पहवं यि ॥

१०८

व

विस्तुतिः सरुक् व्याख्यापकित्वा दरः,  
सूर्योऽच्युत्युलितिवोऽनलोऽयविलभुक् सोमः कलङ्का-  
कितः । रचनयोऽपि विसंशुलः खलु वपुः संस्थैरपत्तेः  
कृतः, सन्मार्गस्वलनाद्ववन्ति विपदः प्रायः प्रमूणामषि ॥

१११

व

व्राहा द्वनशिरा हरिर्देशि सरुक् व्याख्यापकित्वा दरः,  
सूर्योऽच्युत्युलितिवोऽनलोऽयविलभुक् सोमः कलङ्का-  
कितः । रचनयोऽपि विसंशुलः खलु वपुः संस्थैरपत्तेः  
कृतः, सन्मार्गस्वलनाद्ववन्ति विपदः प्रायः प्रमूणामषि ॥

म

सुहेपसदनिमोक्षा—व्यथा दृष्टाऽश्वलावृतः ।

पूर्वसङ्क्षिप्तिमोक्षा—तथा तिद्विगतिः स्मृता ॥

१११

सतोऽशा सुरभिस्तन्ती, पुण्या परमभाषुपा ।  
प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्तिं व्यवस्थिता ॥

१०३

य

यथाऽघस्तियंगृह्णं च, लोष्टवाऽवर्जितवीचयः ।  
स्वभावतः प्रचत्तन्ते, तयोऽवैगतिरात्मनः ॥

१११

व

रतो वा मूढो वा, जो पञ्जजह पळोगं । हिंसा वि-  
तथ जायह, तथा सो हिंसको तुतो ॥  
रागदेहो विनिर्जित, किमरण्ये करिष्यसि ॥ अत  
नो निर्जितावेतो, किमरण्ये करिष्यसि ॥  
राजानं दण्डुलयमेव मनुरे शकेऽपि नैवादरः, विचो-

१०५

१११

पाजीनरक्षणचयथकुताः प्राप्नोति नो वेदनाः । संसार-  
न्तरवस्थं पीह लभते शं सुकृचक्रिंयः, स्रोषातप्रक्षेपोऽमृद-  
त्ववमचिराचायात्सुरेन्द्रार्चितः ॥

स

सञ्जनं स—जमाओ अप्याणमेव रक्षित्वज्ञा ।  
मुच्छ आइचायाओ, पुणो वि सोही न (त) या (?) विरहौ ॥

संथरणं मि असुङ्गं, दुन्ह वि गिण्डंतदित्याणऽहिम्,

पत्ताक | आउरविडंतेण, तं चेव हिमं असंथरणे ॥

१२७ हि सत्यं उजंते सुमहं दोसो, अ(प्य)णतरं इयरो ।  
अमणो य अपदोसो, जोगनिमित्तं च विकेओ ॥

स

क्षय नीत्वा स लोकान्तं तत्रैव समये बजेत् ।  
लब्धप्रसिद्धत्वपर्यायः परमेष्ठी सनातनः ॥

पत्ताक | दीपिका— गत-  
१०६ सुभाषित-  
१०५ गद्य-पद्य-  
११० संप्रहस्या-  
काराच्छतु-  
क्रमणिका ।

दीपिका— गत-  
सुभाषित-  
गद्य-पद्य-  
संप्रहस्या-  
काराच्छतु-  
क्रमणिका ।

अंगिष्ठि-देवचन्द्र-लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे मन्थाक १०९ अठुसन्धान

ॐ नमः प्रवचनाय । ॐ नमोऽहंते श्रीवर्ण्णमातस्चामिते ।

परमसुखिहितश्रीमत्त्वरतशणकछविभूषणमहोपाध्यायश्रीमत्साधुरङ्गाणिवर्यगुमिकतया दीपिकया समलङ्घतं

## सूर्यगाडाङ्गभूतम् ।

तस्य द्वितीयशुतस्तकन्धात्मको द्वितीयो विभागसंतत्राद्यं पौण्डरीकाध्ययनं ।

सुर्यं से आउसंतेण भगवया एवमक्खायं—इह खलु पौँडरीए नामऽलङ्घयणे, तस्सन णं अयमटु  
पञ्चते—से जहा नामए पुक्खरिणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लङ्घटा युडरीकिणी  
पासादीया दरिसणिज्ञा अभिलहवा पाडिलहवा । तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ देसे देसे ताहि  
ताहि बहवे पउभवरपुँडरीया बुइया । अणपुँडिया ऊसिया रहला वण्णमंता गंधमंता रसमंता  
फासमंता पासादीया दरिसणिज्ञा अभिलहवा पाडिलहवा । तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्जदेसमाजे

एगे महं पउमवरपुङ्डरीप बुइए, अणुपुविद्धिए ऊसिते रुडले वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते  
पासादीए जाव पडिल्लवे । सबावंति च णं तीसे य पुक्खविरिणीए तत्थ देसे ताहि वहवे  
पउमवरपुङ्डरिया बुइता, अणुपुविद्धिए जाव पाडिल्लवा । [ सबावंति च णं तीसे णं पुक्खविरिणीए  
बहुमज्जसदेसभाए एगे महं पउमवरपुङ्डरीप बुइए अणुपुविद्धिए जाव पडिल्लवे ( सू० ? ) ] ॥

वयार्थ्या—श्रुतं मया आयुष्मता भगवतेवमार्थ्यातं किमार्थ्यातं ? भगवता ‘ बहु खल्प पौङ्डरी(ए)यं नामम्-  
ज्ञाय(णो)णं, इह-द्वितीयहँ श्रुतस्फन्धे द्वितीये ‘ खल्प ’ शब्दो वाक्यालङ्कारि, ‘ पौङ्डरीकेण ’ ध्वलकमलेना-  
नोपगा भगविष्टीति क्लत्वाऽस्याव्ययनस्य पौङ्डरीक इति नाम कृतम् । तस्य चायमर्थः; णामिति वाक्यालङ्कारे । ‘ प्रक्षसः ’  
प्रस्तुपितः ‘ से जाह ’ति तथ्या ‘ नाम ’ इति सम्मावनेऽपुक्खरिणी ‘ स्याद् ’ मवेदेवमभूता । तथ्या—‘ बहुदका ’ बहु-  
जला तथा ‘ बहुसेया ’ + बहुकर्दमा ‘ बहुपुक्खला ’ बहुसप्तणि प्रचुरोदक[भूता]भूता ‘ लब्धार्थी ’ यथार्थी, यथा नामता  
तथा स्वमावेन ‘ पौङ्डरीकिणी ’ श्वेतकमलसहिता—बहुशेतपथा ‘ पासादीया ’ निर्मलजलपूर्णच्छावृ ‘ दर्शनयेन्या ’  
, अभिरूपा , [ आभिमुख्येन सदाऽन्विष्यतानि ] हंसचक्रवाकसारसादीनि जलान्तरगतानि वा करिमकरादीनि यस्यां सा  
अभिरूपेति, तथा ‘ प्रतिरूपा ’ स्वच्छत्वात्सर्वत्र प्रतिविम्बनिं समुपलङ्घनते । ‘ तीसे णं पुक्खविरिणीए ’ तस्याम् पुङ्करिण्या-

सत्र तत्र देशे देशे-पैकैकप्रदेशे, नास्ति स प्रदेशः पुष्टकरिण्याः पुष्टकरिण्याः यत्र तानि पुण्डरीकाणि न सन्ति। तत्र तत्र देशे देशे बहनि  
 पश्चवरपुण्डरीकाणि ‘युह्य’ चि उक्तानि-प्रतिपादितानि विद्यन्ते इत्यर्थः । आउपृथ्या, विशिष्टवचनया स्थितानि ।  
 तथोन्निकृतानि-जलोपरि व्यवस्थितानि तथा, रुचिराणि, दीसिमान्ति तथा शोभनवर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति । अभिरूपाणि  
 इत्यादिपूर्ववत् । तस्याश्च पुष्टकरिण्याः सर्वतः पश्चात्तायाः ( सर्वतः पश्चवेष्टितायाः ) बहुमध्यदेशमागे एकं महापश्चवर-  
 पुण्डरीकमुक्तमानुपृष्ठेण व्यवस्थितमुच्छ्रेत्, रुचिरं वर्णगन्धरसस्पर्शकोऽपेत् । अभिरूपं प्रतिरूपं प्राप्तादीयं दर्शनीयं अतीव  
 शोभायमानं पश्चवरपुण्डरीकं विद्यते ॥ १ ॥

अह पुरिसे पुराहिथमाओ दिसाओ आगस्म तं पुक्खरिणीए तीरे द्विचा पासति  
 तं महं एं पउमवरपुण्डरीयं, अणुपुंगिटुं ऊसियं जाव पडिलवं । तते णं से पुरिसे एवं वयासी—  
 अहमंसि पुरिसे लेपन्ने कुसले पंडिते विष्णते+मेहावी अबाले मगगत्थे मगगविञ्च मगगस्स गति-  
 परक्कमन्नू, अहमेयं पउमवरपुण्डरीयं उज्जिविवस्सामि ति कहु इति तुचा से पुरिसे अभिक्कमेति तं  
 पुक्खरिणी, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए, पहीणे तीरं,

+ यद्यपि । विष्णते । इत्येतत्वैवाचो ‘व्यक्त’ इति लिखिततथापि मूले ‘मेयन्ने’ इति पाठः सर्वात्मपि दीपिकाप्रतिष्ठु ।

अपते पउमवरपुण्डरीयं, नो हवाए नो पाराए, अंतरा पुक्खवरिणीए सेयंसि विनिःसब्रे, पढ़मे  
पुरिसजाए ( सू० ३ ) ॥

अथानन्तरमेवमधुतपुराकरिण्याः पूर्णस्या दिग्ःः कथिहेऽकः पुरुषः ममागत्य ता पुक्खरिणी, तद्याम ( पुराकरिण्याः )  
'तीरे' तटे द्विषत्वा तदेतत् ( पक्षयति, वत्सत् ) पमें पूर्णोक्तरिणकलापोर्णें म पुरुषः, पूर्विदिग्मागव्यस्थितः 'एवं',  
वह्यमाणनीत्या 'वदेत् वृगावृ-' अहमंसि'ति अहमस्थित पुरुषः, किम्भुगः ? ('नेऽशो' मनोऽभिलिप्तिरुप्यरुप्य-  
याविपरिश्राण्यः) 'क्षेत्रश्चत्तो-निषुणः, तया 'परितः', पर्मो देवकालोपागः । 'व्यक्तो' वालमायानिककान्तर्त्तः-  
परिणतवृद्धिः 'मेवाची' एलानोहलकनयोरुपायगः+तया 'आचालो' प्रव्यपदयाः पोउग्रापैतरितर्त्तः 'मार्गस्थः' महिं-  
राचीर्णमार्गनिष्ठगो मार्गतास्तया मार्गस्थः या 'गति' 'मर्मनं'-त्रिक्षिकादेशगमनं, तजानातीति  
पराकमस्त्रो, यदिग्ः 'पराकमः' मार्गस्थं तद्बोद्दमात्ममात्म इत्यर्थः, तदेवाम्भुतोऽहं गेतत्प्रभरपुरुषे देशव्यव-  
स्थितमुत्तेजस्यामि-निरकामयित्यामीति छत्रेद्वागतः, वःयुवत्याऽयो पुरुषस्तां पुक्खरिणीमधिषुरां क्रामे-चदभिषुवं गच्छेत् ।  
यान[यार]नास्त्री तद्वत्तरणाभिप्राणेणाभिषुवं क्रामेचार[लार]ग 'ण' मिति वाचयान्होरे, तद्याः पुराकरिण्या महत्यगमि-  
जले कहौसे च मरनः । तत्राऽक्षकूठं निपत्तवादत्याक्तुलीभूतः 'प्रदेण' स्तीरादात्मानं उदत्तुपमगमी विश्वितप्रसारपुण्ड-

+ मन्त्रनोमन्तरगोपितिः ।

रीकमप्राप्तस्तमाच तीरादपि प्रभ्रष्टः, तीरपञ्चोन्तराल एवावतिषुति । यत एवं अतो ‘नो हव्वाए’ नार्वाकृतवर्त्यसौ  
मवति ‘नो पाराए’चि न पारगमनाय समश्चौ मवति । एवमसाहुभयप्रभ्रष्टोजनि, इत्ययं प्रथमः पुरुषजातः ॥ २ ॥

अथ प्रथमपुरुषानन्तरं द्वितीयपुरुषस्वरूपमुच्यते—

अहावरे दोच्चे पुरिसेद्विक्खणाओ दिसाओ आगस्म तं पुक्खरिणी, तीसे  
पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपुंडरीय, अणुपुविडितं जाव पाडिरुचं, तं च  
एत्थं एगं पुरिसजातं पासति पहीणतीरं अपत्तपउमवरपुंडरीय नो हव्वाए नो पाराए अंतरा  
पुक्खरिणीए सेयांसि निसज्जं । तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी—अहो !! णं इसे पुरिसे  
अवेयज्ञे अकुसले अपंडिए अवियते अमेहाची बाले णो मगगत्थे णो मगगवित्तु णो मगगस्स गति-  
परक्कमन्तु, जन्त्वं एस पुरिसे [ मन्त्रे ]—अहं णं खेयज्ञे अहं कुसले जाव पउमवरपुंडरीय उद्धि-  
क्खिवस्तामि, णो[य] खल्लु एयं पउमवरपुंडरीय एवं उद्धिकखेयच्चं, जहा णं एस पुरिसे मज्जे, अहमंसि  
पुरिसे खेयन्ते कुसले पंडिए वियते मेहाची अबाले मगगत्थे मगगवित्तु मगगस्स गतिपरक्कमन्तु,  
अहमेयं पउमवरपुंडरीय उद्धिक्खिवस्तामि[ न्ति कहु ] इति बुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणी,

जावं जावं च णं अभिकमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं अपते पउमवपुङ्डरीयं  
णो हवाए णो पाराए [ अंतरा पुक्खारिणीए ] सेयांसि विनि]सक्षेत्रे, दोचे पुरिसजाए ( सू० ३ ) ॥

॥ ३ ॥

नयाख्या—अथ ( अपरो द्वितीयः ) कश्चित्पुरुषो दक्षिणदिग्भागादागत्य तां पुक्करिणी, तस्याश्च पुक्करिणीस्तीरे स्थित्वा  
तत्रस्यश्च पञ्चमति गददेकं पञ्चवरपुङ्डरीकमात्रपूर्वेण व्यवस्थितं प्रासादीयं यावत्प्रतिरूपं, ततस्तीरे व्यवस्थितः, तं च वै-  
व्यवस्थितं चैकं पुरुणं पदयति, किम्भूतं ? तीरात्परिअर्थं अप्राप्त[पथ]वरपुङ्डरीकमुम्यश्रवं अन्तरालं एवावसीदन्तं दद्याद्वितीयः  
पुरुपस्तं प्राकृतं पुरुपमेवं वदेत्—अहो ! योइसी कर्दमनिमग्नः पुरुपः सोऽस्येदसोऽकुशलोऽपर्णिहतोऽसेवाशी बालो न मार्गस्थी  
नो मार्गाशी नो मार्गाश्य गतिपराकमङ्गुः, अकुशलत्वादिके कारणमाह—यद्यस्मादेष पुरुप एतत्कृतवान्, तद्यथा—अहं  
सेदद्वःः कुशल इत्यादि भणित्वा पञ्चवरपुङ्डरीकमुक्तदेवप्यामीत्येवं प्रतिज्ञातवान् । न वैतत्पञ्चवरपुङ्डरीकमेवमुक्तेसन्ध्य-  
यथाऽनेनोक्तमात्रान्धं, ततोऽहमेवास्योत्क्षेपेण कुशल इति दर्शयितुमाह—‘ अहमंसी ’त्यादि, अहं सेदद्वःः कुशलः  
पर्णिहतो मेघाशी, अहमेतत्पञ्चवरपुङ्डरीकमुक्तदरिण्यामि, इत्युक्तवाऽमाचापि द्वितीयः पुरुपः पुक्करिणीमध्यस्थं ब्रजेत्,  
तावताऽग्नेये पानीये कर्दमे च मग्नः तीराङ्गो द्वितीयतीरं च न प्राप्तः, उम्यश्रवोऽभृत, पञ्चमपि नोद्धै अन्तराल एव  
व्यवस्थितः, इत्यादि । एवं द्वितीयोऽपि पुरुपः ॥ ३ ॥

अहावरे तच्चे पुरिसजाए—अह पुरिसे पच्चात्थमाओ दिसाओ आगस्म तं पुक्खारिणी, तीसे

पुक्खारिणीए तीरे ठिच्छा पासति तं महं एगं पउमवरपुङ्डरीयं अणुपुविद्वितं जाव पडिलुं, ते तथ  
दोन्निपुरिसजाते पासति पर्हाणे तीरं अपत्ते पउमवरपुङ्डरीयं, णो हवाए णो पाशाए जाव सेयंसि  
निसन्ने । तते णं से पुरिसे एवं वदासी—अहो ! ! णं इमे पुरिसा अखेयन्ना अकुसला अपंडिया अचि-  
यन्ना अमेहाची बाला णो मगतथा णो मगविऊ णो मगासस गतिपरकमनू । जन्नं एते पुरिसा  
एवं मन्ने—अम्हे एते पउमवरपुङ्डरीयं उक्किक्किस्सामो, नो [य] खलु एयं पउमवरपुङ्डरीयं एवं  
उक्किक्केतबं, जहा णं एए पुरिसा मन्ने, अहमांसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियते मेहाची अबाले  
मगतथे मगविऊ मगासस गतिपरकमनू, अहमेयं पउमवरपुङ्डरीयं उन्निक्केवेस्सामि [निकहु] इति  
दुच्छा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खवारिणं, जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदय  
महंते सेए जाव अंतरा पुक्खवारिणीए सेयंसि विनि]सन्ने, तच्चे पुरिसजाए ( सू० ४ ) ॥

र्यास्या—अथ दुरीयः पुरुषः पश्चिमदिविभागादागल्य पुक्खरिण्यस्तीरे स्थित्वा प्रथमपुरुषद्वितयवत् पूर्वोक्तं वचन-  
प्रपञ्चं कथयित्वा कमलोद्धाराय प्रविष्टः । कमलमुद्धर्तुमसमर्थं अन्तराल एव कर्दमे मगः, इति दुरीयः पुरुषः ॥ ४ ॥

२ शुत-  
स्कन्धे  
आंशेऽ-  
इयते  
पञ्चम-  
पुरुष-  
वर्णनम् ।

॥ ४ ॥

अथ चतुर्थः पुरुषः—

अहावरे चउथे पुरिसजाए—[ अहु पुरिसे ] उत्तराओ दिसाओ आगम्मा तं पुक्खवरिणीं तीसे पुक्खवरिणीए तीरे ठिच्छा पासति [ तं महं ] एगं पउमवरपुंडरीयं [ अणुपुविद्धियं ] जावपाडिरुवं, ते तत्थ तिन्नि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपते जाव सेयंसि विनि]सद्वे । तते णं से पुरिसे एवं चदासी—अहो ! ! णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मण्णस्स गतिपरकमन्नू, जन्न एते पुरिसा एवं मन्ने—अमहे एतं पउमवरपुंडरीयं उन्निकिखसामो, णो[ य ] खलु एयं पउमवरपुंडरीयं[एवं] उन्निकलेयबं, जहा णं एते पुरिसा मन्ने, अहमांसि पुरिसे लेयज्ञे जाव मण्णस्स गतिपरकमन्नू, अहमेयं पउमवरपुंडरीयं उन्निकिखसामि[नि कहु इति बुच्छा से पुरिसे तं पुक्खवरिणीं आभिकमेह, [ जावं च णं आभिकमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव विनि]सद्वे, चउथे पुरिसजाए ॥ ( सू० ५ )

न्यालय—अथ चतुर्थः पुरुष उत्तराया दिशः समागल्य गत्पुरुषिकं दृष्टा तथैवोक्त्वा तथैव प्रोदरणाय प्रविष्टः, पूर्वपुरुषनिकत्वं पहेनिमप्तः, एवं चत्वारोऽपि पुरुषाभर्तुर्दिश्यु निमप्तः ॥ ५ ॥

मध्यगाढ़ाङ्-

स्त्रं दीपिका-  
निवर्तम् ।

॥ ४ ॥

साम्रां पञ्चमं पुरुणं तद्विलक्षणमविकृत्याह—

अह भिक्खु द्वै हे तीरट्टी स्वेच्छे जाव [ गति ] परक्कमन्नु अन्नतरीओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगम्म म तं पुक्खरिणीए तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिचा पासति तं महं एं पउमवरपुँडरीय जाव पडिरुवं, ते तथ्य चत्तारि पुरिसजाए पासति पहीणे तीरं अपत्ते [ पउमवरपुँडरीय नो हवाए नो पाराए ] अंतरा पुक्खरिणीए जाव (?) सेयंसि विनि]सन्ने । तते ऊं से भिक्खु एवं वदासि—अहो ! ऊं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव नो मग्गस्स गतिपरक्कमन्नु, जन्ने एते पुरिसा एवं मन्ने—अमहे [ एयं ] पउमवरपुँडरीय उत्तिक्खिवस्सामो, ऊ[ य ]खल्लु एयं पउमवरपुँडरीय एवं उत्तिक्खेतवं, जहा ऊं एते पुरिसा [ मन्ने ] । अहमंसि भिक्खु ल्लहे तीरट्टी स्वेच्छे जाव मग्गस्स गतिपरक्कमन्नु, अहमेयं पउमवरपुँडरीय उत्तिक्खिवस्सामि न्ति कहु इति तुच्चा से भिक्खु ऊं अभिकमे तं पुक्खरिणी, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिचा सहं कुजा 'उपयाहि खल्लु भो पउमवरपुँडरीया ! उपयाहि' अह से उपयातिते पउमवरपुँडरीए ( सू० ६ ) ॥

पूर्णाडाङ्ग-  
पञ्च  
दीपिका-  
नितम् ।

॥ ५ ॥

व्याख्या—अथ चतुर्थपुरुषादनन्तरं पञ्चमः पुरुषस्तस्यामूलिनि विशेषणानि—‘भिष्मः’ पचनपाचनादिसाचयातुष्टानरहितो निदोपाहारभोजी रागदेपराहितः, अत एव ‘ल्हे’ रूपः, संसाराभेदस्तीरार्थी उथा सेदङ्गः, पूर्वव्याख्यातान्येवामूलिनि विशेषणानि, स च पञ्चमः पुरुषो भिष्मः, अन्यतरस्या दिशोऽनुदिशो बाह्यगत्य तां पुष्टकरिणी, तस्याश्च तिरे स्थित्वा समन्तादवलोकयन् चहुमध्येशमागे तन्महदेशमागे तन्महदेशं पश्चवपुण्डरीकं पश्चयति, ताँश्च चतुरः पुरुषान् पश्चयति । किम्भूतान् ? त्यक्ततीरान् आप्राप्तप्रथमपुण्डरीकान् पक्षजलावमग्नान्, युनस्तीरमयागन्तुमशक्तान् इद्या ततोऽसौ भिष्मुरेवमिति वृद्धयमाणनीत्या वदेत् । तथया—अहो ! ! इमे चत्वारः पुरुषा अखेदङ्गा यावत्त्रो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञाः । यथैते पुरुषाः एवं झातवन्तो, यथा—वयुपुण्डरीकमुद्देशप्रयामः—उद्दिष्यामः । न च तत् खलु पुण्डरीकमेवमनेन प्रकारेण उद्देशेत्यन्यं, यथैते मन्यन्ते—वयुपुण्डरीकं तदेवप्यामः, न तथोद्दारोऽस्य मविष्यति । परं अहमस्मि रूपो भिष्मुर्याचद्विशिष्टोऽहमेतत्पुण्डरीकं—‘पुष्टकेष्यामि’ उत्तरनिष्यामि—सपुद्दिष्यामि, ‘एवमुखत्वाऽसौ’ नाभिक्रामेत—तां पुष्टकरिणीं न प्रविशेत्, तत्रस्य एव तस्यास्तीरे स्थित्वा तथाविषं ग्रन्थं कुर्यात्यथा—‘ऊहूँ उत्पत्’, उत्पत खलु चाक्यालङ्कारे ‘हे पश्चवपुण्डरीक ! तस्याः पुष्टकरिण्या मध्यपदेशात् खलुपत (ख)सुत्पत् इत्येवं तन्छब्दश्रवणादनन्तरं तदुत्पतिमिति ॥ ५ ॥

पतहृष्टान्तमय दाण्डनितके योजयति, अथ श्रीमहावीरः स्वयिष्यानाह—

किद्दिप नाए समणाउसो !, अट्टे पुण से जाणितवै भवति । भंते ति समाणं भगवं महावीरं

२ श्रुत-  
स्फुर्ये  
आयो-  
द्यपते  
दाण्डनितक-  
योजना-  
रमः ।

॥ ५ ॥

निगंगथा [य] निगंथीओ [ य ] वैद्यति नमसंस्ति, वंदिता नमस्तिता एवं वयासी—किहिते नाए समणाउसो !, अटुं पुण से ण जाणामो । समणाउसो ! निः समणे भगवं महावीरे ते य बहवे निगंथे य निगंथीओ य आमंतेता एवं बदासी—हंत समणाउसो ! ते आतिकखासि विभावेमि किद्देमि पवेदेमि सअटुं सहेउयं सनिमित्तं भुजो भुजो उवदंसेमि से बोमि ( स० ७ ) ॥

ल्याल्या—‘कीर्तिते’ कथिते मयाऽस्मिन् ज्ञाते हे श्रमण ! आयुष्मन्तोऽर्थः पुनरस्य ज्ञातव्यो भवति भवद्धिः । एतदुक्तं भवति—नास्योदाहरणस्य परमार्थं युं जानीथ, इत्येवपुक्ते भगवता ते बहवो निर्गन्धश्च तं अमणं भगवन्तं महावीरं ते निर्गन्धादयो वन्दनते ( कायेन ), नमस्यन्ति—स्तुवन्ति । वन्दितवा [ नमस्यत्वा ] चैवं वक्ष्यमाणं वदेयुः—‘कीर्तितमुदाहरणं भगवता, अर्थं पुनरस्य समणन जानीम, इत्येवं पृष्ठो भगवान् श्रमणो महावीरस्तान्निर्गन्धादीनेवं वदेव—[ हंते ]ति सम्प्रेषणे, हेभमणा आयुष्मन्तो ! षड्वच्छ्रिंहं पृष्ठस्तसोपपत्तिकमाख्यामि—भवतां [ ‘विभावयामि’ ] आविर्भावयामि— प्रकटार्थं करोमि ‘कीर्तयामि’ पर्यायकथनद्वारेण तथा ‘पवेदेमि’ति प्रवेदयामि—प्रकरेण हेतुद्वान्तेविचमन्ततावारोपयामि । कंश प्रतिपादयामीति दर्शयति—साथं—पूर्णकरिणीदृष्टान्तं सहेतुकं प्रतिपादयिष्यामि, यथा ते पुरुषा अप्राप्तप्रार्थिताथः पूर्णकरिणीकहमे दुरुचारे निमग्ना एवं वक्ष्यमणास्तीर्थिका अपारणाः संसारसागरस्य, तर्वैव निमज्जन्तीत्येवंरूपोऽर्थः सहष्टान्तः प्रदर्शयिष्यते । सनिमित्तं—सकाराणं दृष्टान्तार्थं भयो भयोऽपैरपैरहेतुदृष्टान्तेरूपदर्शयामि । सोऽहं साम्रातमेव ब्रजीमि, श्रुतुत युग्मामि ।

लोयं च खलु मए अप्पाहहु समणाउसो ! सा पुक्खारिणी गुइया । कर्मचं च खलु मए  
अप्पाहहु समणाउसो ! से उदए गुइए । कामभोगे य खलु मए अप्पाहहु समणाउसो ! से  
सेए गुइए । जणजाणवयं च खलु मए अप्पाहहु समणाउसो ! ते वहवे पउमवरपुङडरिया गुइता ।  
रायाणं च खलु मए अप्पाहहु समणाउसो ! से एगे महं पउमवरपुङडरिए गुइए । अन्नउदिथया  
य खलु मए अप्पाहहु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाया गुइता । धर्मचं च खलु मए अप्पा-  
हहु समणाउसो ! [ से ] भिक्खु गुइए । धर्मतित्थं च खलु मए अप्पाहहु समणाउसो ! से तीरे  
गुइए । धर्मकहं च खलु मए अप्पाहहु समणाउसो ! से सदे गुइए । निद्याणं च खलु मए  
अप्पाहहु समणाउसो ! से उपपाते गुइए । एवमेयं च खलु मए अप्पाहहु समणाउसो ! से एव-  
मेयं गुइयं ( सू० ८ ) ॥

व्याख्या—लोकमिति मनुष्यक्षेत्रं, [ च शब्दः, सम्बन्धे ] खलुरिति वाक्यालक्ष्मारे, मया लोको मनुष्याऽस्त्रारस्तमा-  
तमन्याहहय-व्यवस्थाय ‘अप्पाहहय [ चा, आत्मना वा मयाऽस्त्राय ] न परोपदेशतः, सा पुढकरिणी पक्षाधारभूतोक्ता ।  
तथा कर्म चाटपकार, यद्वलेन पुरुषपुङडरीकाणि भवन्ति, तदुदकं वाटान्तवेन उपन्यस्तं । कामभोगाश्च मया कर्दमोऽभिहितः ॥

यथा महति पक्षे निमग्नो दुःखेनात्मानमुद्भवत्येवं विषयेभवत्यामको नात्मानमुद्भवमित्येतत् कर्त्तमविषययोः साम्यमिति ।  
 ‘जना’ सामान्यलोकाः ‘जानपदा’ विशिष्टार्थदेशोतपन्नाः गृहान्ते, ताँश्च समाश्रित्य—मया दार्ढनितकत्वेनाङ्गीकृत्य तानि  
 बहूनि पञ्चवरपुण्डरीकाणि दृष्टान्तत्वेनाभिहितानि । राजानमात्मन्याहृत्य तदेकं पञ्चवरपुण्डरीकं दृष्टान्तत्वेनाभिहितम् । तशाऽन्य-  
 तीर्थिकान् समाश्रित्य ते चत्वारः पुरुषजाता अभिहितास्त्रेषां राजपुण्डरीकोदृष्टान्तसामर्थ्यवेकल्पात् । तथा धर्मां च खलवा-  
 त्मन्याहृत्य अमणायुधमन् । स भिष्मः रुक्षघृत्तिरभिहितः, तस्यैव चक्रवत्त्यादिराजपञ्चवरपुण्डरीकस्योद्धरणसामर्थ्यसङ्काचाव ।  
 धर्मतीर्थं च खलवाश्रित्य मया तचीरुक्तम् । तथा सद्भूमदेशनां चाश्रित्य मया स भिष्मोः सम्बन्धी शब्दोऽभिहितः । तथा  
 निर्विणं, गोक्षपदमशेषकर्मश्यरूपमीष्टप्राग्याराख्यभूमागोपर्यवस्थितं क्षेत्रस्थां चात्मन्याहृत्य स पञ्चवरपुण्डरीकस्यो-  
 हपातोऽभिहितः । ‘एवं’ गूर्वोक्तप्रकारेण [ए]तल्लोकादिकं च खलवत्तमन्याहृत्य—आश्रित्य मया श्रमणायुधमन् । ‘से’  
 एतत्पुण्डरिण्यादिकं दृष्टान्तत्वेन किञ्चित्साध्यमयादेवमुक्तमिति ॥ ८ ॥ एतावता सामान्येन दृष्टान्तदार्ढनितकयोजना कुर्ता,  
 अथ विशेषण प्रवानभूतराजदार्ढनितकं तदुद्धरणार्थत्वात् सर्वप्रयासस्थेति दर्शयितुमाह—

इह खलु पाइणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगतिया मणुस्ता भवन्ति । अणु-  
 पुवेणं लो[गं]गतं (?) उचवन्ना, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे पार्णियागोया  
 वेगे कायमंता वेगे [र]हस्यमंता वेगे सुचणा वेगे दुबज्जा वेगे सुरुचा वेगे दुरुचा वेगे, तेसि च

पां मण्यथाणं एगे राया भवति ।

व्याख्या—‘इह’ मनुष्यलोके, खलुवक्षियालङ्कारे, प्राच्यां प्रतीच्यामुदोच्यामपाच्यामन्यतरस्यां वा दिघि ‘सन्ति’ विद्यन्ते ‘एके’ केचन तथाविधा मनुष्या आनुपूर्वेण इमं लोकमाश्रितयोत्पन्ना भवन्ति । तानेव दर्शयति, तथ्यथा—आयो अनायास्तथा एके उच्चैर्गोत्रीया इक्ष्वाकुलप्रसुताः, [एके] नीचैर्गोत्रीया, एके +दीर्घकायाः, एके हस्तकायाः, सुवणाः, एके दुर्वणाः कृष्णरूपादिवणाः, एके ‘सुरुपाः’ सुविमर्कचारुदेहाः, एके ‘दुरुपाः’ वीभत्सदेहाः, एतेषां मध्ये कश्चिद्देवेकस्तथाविष्वकर्मीह्यादाजा भवति । स कीदृशः ?

महाया हि मवंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविमुख्यरायकुलवंसप्पस्युप निरंतररायलक्खण-विराइयंगमंगे बहुजणबहुमाणपूर्वते सवगुणसमिद्दे खवन्ति ए मुदिते मुद्दाभिसिते माऊपिउसुजाए दयापिपुर्व सीमंकरे सीमंधरे खेमंधरे मणुस्तिसदे जणवयपिया जणवयपुरोहिषु सेतुकरे केतुकरे नरपवरे पुरिसपवरे पुरिससीहे पुरिसवरपुंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अद्वे दिन्ते विन्ते विच्छिन्नविपुलभवणसवणासणजाणवाहणाइन्ते बहुजणबहुधणवहुजायरुवरयए

+ “कायो” महाकायः प्राचुत्वं, तद्विद्यते येषां ते कायवन्तः “इषि बहुदृश्यते ।

आओगप्यओगसंपउते विच्छितिपउरभन्तपाणे बहुदासदासीगोमहिसगवेलगप्यमृए [ पाडिपुणि-  
 कोसकोहुगाराउहागारे बलवं हुच्छलपच्चामिते ओहयकंटयं निहयकंटयं मालियकंटयं उद्धियकंटयं  
 अकंटयं ओहयसत् निहयसत् मालियसत् उद्धियसत् पराइयसत् ववगयहुडिभ-  
 क्खमारिभयाविष्पुक्क, रायवण्णओ जहा उववाईए, जाव पसंताडिबडमरं रज्जं पसाहेमाणे  
 विहरति । तस्स णं रङ्गो परिसा भवति ।

एतद्वाख्यानं औपपातिकोपाङ्गात् ज्ञातव्यं, यावते शाजान उपशान्तडिभडमरं\* ‘ रज्जं ’ति राज्यं प्रसाधयन्ति ।  
 तस्य चैवंविघ्नणसम्पुद्देतस्य राहु एवंविधा पर्षद्वचति ।

उगा उगपुत्ता, भोगा भोगपुत्ता, इक्खागपुत्ता, नाया नायपुत्ता, कोरवा कोरव-  
 पुत्ता, भदा भदपुत्ता, माहणा माहणपुत्ता, लेच्छई लेच्छहुपुत्ता, पसत्थारो पसत्थारपुत्ता, सेणावई  
 सेणावईपुत्ता, तेस्स च णं एगतरीए सही भवति कामं, तं समणा वा माहणा वा संपहारिसु गमणाए ।

\* “ तत्र ‘ डिमः ’ परानीकश्चालिको ‘ डमर ’ स्वराट्क्षेभः, पर्याये वैतावत्यादरख्यापनार्थमुपात्तो । ” इति बू० ।

तथ अन्नतरेण धर्मेण पक्षवत्तारो भवति, वर्यं इमेण धर्मेण पक्षवद्दसामो, से एवमायणह  
भयंतारो जहा मए एस धर्ममे सुअवखाए सुपक्षचे भवति । तं जहा—  
व्याख्या—उग्रा उप्रुत्रा; एवं मोगपुत्रादयोऽपि दृष्टव्याः, शेषं सुगमं, याचत्सेनापतिष्ठा इति + । तेषां मध्ये कश्चि-  
कलपचार-  
वाक्मतम् ।  
देवेकः ‘ श्रद्धाचान् ’ धर्मलिप्युभेवति । कामामित्यच्युतार्थे । अवधुतमेतयथाऽप्य धर्मशङ्कालुः, अवधार्य च तं धर्म-  
लिप्युतया श्रमणा ब्राह्मणा वा ‘ सम्प्रधारितवन्तः ’ समालोचितवन्तो धर्मप्रतिबोधनिभित्तं तदन्तिकगमनाय, तत्र चा-  
न्यतरेण धर्मेण स्वसमयप्रसिद्धेन प्रज्ञापयितारो वयमित्येवं सम्प्रधार्य राजान्तिकं गत्वा एवमूलुस्तथाऽप्यतयथाऽहं कश-  
यामयेवमिति वक्ष्यमाणनीत्या ‘ भवन्तो ’ युर्यं जानीत भयान्नातरो वा ‘ यथा ’ येन प्रकारेण मध्येष धर्ममः स्वारुप्यातः  
सुप्रज्ञसो भवतीत्येवं तीर्थिकः स्वदर्शनातुरज्ञितोऽन्यस्यापि स्वाभिप्रायेण राजादेवुपदेशं ददाति । तत्राद्युपरुपजातस्तज्जीव-  
तच्छरीरवादी राजानमुहित्येवं धर्मदेशानं चक्रे, तदथा—

॥ ८ ॥

उहुङ् पादतला अहे केसगमतथ्या तिरियं तयपरियंते जीवे, एस आयपज्जवे कसिणे, एस  
जीवे जीवति, एस मए णो जीवति, सरीरे धरमाणे धरति विणदुम्मित य णो धरति । एयतं  
+ नवर-‘ लेळ्हुङ् ’ति लिपुकः, स च बणिगादिस्तथा ‘ प्रशास्तारो ’ उद्घृष्यपजीवितो मन्त्रिपश्यतयः । इति बहदृत्तौ ।

जीवितं भवति । आदहणाए पेरोहं निजाति, अगणिज्ञामिष् सरारे कवोत्वणणिं अट्टिणि भवन्ति ।

न्याख्या—‘ऊङ्घं’ उपरि पादवलादधश्च केशाप्रमस्तकानिर्यक्तव्यपर्यन्तो जीव, एवावता यदेवैतच्छरीं स एव जीवो, नैतस्मान्तरीराहुयतिरिक्तः कश्चिदत्साख्यः पदाथोऽस्तीति यदेतच्छरीं स एवात्मा । [अयं काय एव] तस्यात्मनः पर्ययः ‘कृत्स्नः’ सम्पूर्णः ‘पर्यायोऽक्षस्थाविशेषः’, यावत्कालमिदं शरीरं जीवति तावत्कालं जीवोऽपि जीवति, शरीरे भूते जीवोऽपि भ्रियते । यावदिदं शरीरं पञ्चभूतात्मकं अव्ययं \* धरति गावदेव जीवोऽपीति, तस्मैश्च विनष्टे जीवस्यापि विनाशः । [तदेवं] यावदेतच्छरीं वातपिच्छेष्माद्वारं पूर्वस्वभावादप्रच्युतं तावदेव जीवितं भवति, तस्मैश्च विनष्टे तदात्मा—जीवोऽपि विनष्ट इति कृत्वा आदहनाय अमशानादौ नीयते, तस्मैश्च शरीरे अग्निना ड्यामि[इमापि]ते कपोतवणिन्यस्थीनि केवलमुपलभ्यन्ते, परमस्थिव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न हृश्यते, येन तदस्तिव्यतिरितुपजायते, तथा—आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छांति, एवं असंते असंविज्ञमाणे, जोस्ति तं असंते असं विज्ञमाणे तोस्ति तं सुअवर्बायं भवति—अद्वो भवति जीवो अद्वं सरारं, तस्मा ते एवं नो विष्पुडिवेदेति—न्याख्या—तदुवान्धवा जघन्यतोऽपि चत्वारः—‘आसन्दी’ मञ्चकः, स पञ्चमो येषां ते आसन्दीपञ्चमाः पुरुषास्तं कायं अग्निना ड्यामित्वा पुनः इवं ग्रामं प्रत्यागच्छान्ति । यदि बुनस्तशात्मपापि शरीरसाङ्क्रान्तः इयात्तरः शरीरशन्निर्गच्छन्

\* अभङ्ग—मखण्डं ।

स्यगडाङ्-  
सं दीपिका-  
न्वितम् ।

हरयेत्, न च हरयते, तस्मा तज्जीवतन्तुरीरभिति रिथतम् । तदेवं येषां मते—असौ जीवोऽसत्—अविद्यमानः, तत्र तिषु-  
गच्छन् नोपलभ्यते, येषां पशुस्तेषां तत्स्वाख्यातं भवति, येषां पुनरन्यो जीवोऽन्यच्छरीरं तद्वया, ते तु अनधरुदया  
प्रवर्तमाना एवमिति वक्ष्यमाणं तेव विप्रतिवेदयन्ति—न जानन्ति, तदेवाह—यद्यप्यमात्मा शरीराद्विन्नस्तहि किं स्वरूपः ?  
कियत्प्रमाणो वा ? तथथा—

॥ ९ ॥

अयमाउसो ! आता दीहेति वा हस्सेति वा परिमंडलेति वा वदेति वा तंसेति वा चउरंसेति  
वा आयतेति वा छलंसिष्टति वा अद्वंसेति वा । किणहेति वा नीलेति वा लोहिष्टति वा हालिद्वेति  
वा सुकिलेति वा । सुचिभगंधेइ वा दुषिभगंधेइ वा । तित्तेइ वा कदुष्टति वा कसाइष्टति वा  
अंबिलेति वा महुरेति वा लक्षणेति वा । कक्षवदेति वा मउष्टति वा गुरुष्टति वा लद्धुष्टति वा  
सीष्टति वा उसिणेति वा निञ्चेति वा लुक्षेति वा ? । एवं असए असंविज्ञामाणे जोस्ति तं सुअ-  
क्षायं भवति—अन्नो जीवो अद्वं सरीरं, तम्हा ते नो एवं उवलब्धंमति ।

न्याख्या—( आयुष्मन् ! ) यद्यप्यमात्मा शरीराद्विन्नस्तहि किं दीघो वा दस्त्रो वास्त्रित ? तथा अयमात्मा कियत्प्रमाणो  
दीघो दस्त्रो वाऽनुप्रयामाकरन्तुलपरिमाणो वा, ? किं परिमङ्गलः ? किं वा बृच्छः ? त्रयसः ? चतुरसः ? पदंशो वा ( अद्यांशो

१५

द्वितीयेशु०  
आत्मभाव-  
निलपणे-  
तेकेहस्ता-  
न्साशार-  
वाकाशा-  
नाम् ।

॥ ९ ॥

वा ? ) । तथा वर्णतः कि किण्हेति वा नीलेति वा लोहिदेति वा सुकिलेति वा हालिदेति वा । तथा गन्धतः कि सुबिगंधेह वा दुभिगंधेह वा । तथा रसतः कि तिचेह वा कडुपति वा कसाइपति वा अंबिलेह वा महुरेह वा लवणेह वा । ( तथा स्पर्शतः ) कि कक्खदेति वा मउपति वा गलुपति वा सोपति वा उसिषेति वा उसिषेति वा निद्वेह वा लुक्खेह वा । एवं असंविजमाणे जैसिं तं सुअक्खायं भगवति—अन्नो जीवो अन्नं शरीरं, तम्हा ते नो एवं उचलबंधति । इत्यादि—सर्वं सुगमम् । अतो येषां मर्ते केनापि प्रकारेणासवेद्यमानः—शुरीरादपुथ्यभूत आत्मा तेषां तत्स्वारुप्यातं भवति, यथाऽन्यो जीव अन्यचक्षुरीरमित्येवं ये प्रतिपादयन्ति ते नात्मानपुष्पलभन्ते—ते नात्मस्वरूपवेचारः, ये तु शरीरात्पुथ्यभूतो जीवाख्यः पदार्थ इति स्वग्रन्थेषु निक्षिप्तवन्तस्तद्दुय्या, कथं ? यथा—

से जहा नामए केहु पुरिसे कोसीओ असिं अभिनिवाहिताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! असी अयं कोसी, एवामेव पातिथ केहु पुरिसे अभिनिवाहिताणं उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया इसं सरीरं । से जहा नामए केहु पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिवाहिताणं उवदंसेति—अयमाउसो ! इयं इसिया, एवामेव नातिथ केहु पुरिसे उदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नाम केहु पुरिसे मंसाओ आटु अभिनिवाहिताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! मंसे अयं अट्ठी,

एवामेव नाथि केह पुरिसे उवदंसेतारो—अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नामए केह  
पुरिसे करतलाओ आमलकं अभिनिवृहिताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! करतले अर्यं आमलए,  
एवामेव णाथि केह पुरिसे उवदंसेतारो—अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नामए केह  
पुरिसे दहीओ नवनीयं अभिनिवृहिताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! नवनीयं अर्यं तु दही, एवामेव  
नाथि केह पुरिसे उवदंसेतारो—अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नामए केह पुरिसे  
तिलेहितो तेलं अभिनिवृहिताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! तिले अर्यं पित्राए, एवामेव नाथि  
केह पुरिसे उवदंसेतारो—अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नामए केह पुरिसे इकखूतो  
सोतरसं अभिनिवृहिताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! खोतरसे अर्यं छोए, एवामेव नाथि केह  
पुरिसे उवदंसेतारो—अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नामए केह पुरिसे अरणीतो  
आँग अभिनिवृहिताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! अरणी अयमणी, एवामेव नाथि केह पुरिसे  
उवदंसेतारो—अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । एवं असंते असंविज्ञमणे जोसि तं

द्वितीये  
शु०  
विविध-  
दृष्टान्ते-  
रात्माभावं  
प्रसाधनं  
चारवा-  
कानाम् ।

सुअक्षवायं हवह, तं जहा—अद्वा॒ जीवो॑ अन्नं सरीरं, तम्हा॑ तं मिच्छा॑ । से॑ हंता, तं हणह॑ खणह॑  
छणह॑ डहह॑ पयह॑ लुँपह॑ आँउपह॑ विलुँपह॑ सहसकारेह॑ विपरामुसह॑ । एतावता॑ × पातिथ॑ जीवे॑,  
पातिथ॑ परलोए॑, ते॑ णो॑ एवं॑ विपडिवेदेंति॑, तं जहा—

व्याख्या—यथा नाम कश्चित्पुरुपः ‘कोशतः’ परिचारा॑ + दसि॑-खड़मभिनिर्वृत्य॑-समाकुङ्घयान्येपामुपदर्शयेत्, यथा॑  
इयमायुषमन् ! \* असि॑ ’खड़ः अयं च ‘कोशः’ परिचारः, एवमेव जीवशरीरयोरपि नास्त्युपदर्शयिता, तद्यथा॑-अयं जीव  
इदं च शरीरमिति॑ । न चास्त्येवमुपदर्शयिता कश्चिदत्तो न शरीराद्धिक्त्रो जीव इति॑ । अस्मिंश्चार्थे॑ \* बहवो॑ व्यान्तः॑: सन्तीत्य-  
तो॑ दर्शयितुमाह, तद्यथा॑-कश्चित्पुरुपो॑ ‘मुज्जा॑’त्तणविशेषाद॑ ‘इसिंयं’ ति॑ तदर्दभूतां॑ शिलिकां॑ पृथककल्य॑ दर्शयेत् । तथा॑  
मौसादस्थि॑, करतलादामलकं, तथा॑ दृग्नो॑ नवनीते॑, तिलेभ्यस्तेलं, तथेक्षो॑ रसं, तथाऽरणिग्रोडनिन्॑ ‘अभिनिर्वृत्य॑’ पृथककल्य॑  
दर्शयेत्, एवमेव शरीरादपि॑ जीवमिति॑ । न चास्त्येवमुपदर्शयिता, तस्माचाचनिमध्या॑ यत्केश्चिद्गुच्यते॑-यथाऽस्त्यात्मा॑ परलो-  
कानुयायीति॑ । एवं॑ चाचार्कस्तज्जीवतच्छरीरवादी॑ शरीरादपृथग्भूतमेवात्मानं॑ मन्यमानः॑ आत्माऽभावप्रतिपादको॑ नास्तिकः॑  
प्राणातिपातदोपमविन्दन्॑ प्राणिनामेकेन्द्रियादीनां॑ ‘हन्ता॑’ व्यापादको॑ भवति॑ । प्राणतिपाते॑ दोषामावमम्युपगम्यान्येपा-॑

× ‘पातिथ॑’ति॑ शब्दो॑ नास्त्यत्र वृहद्वृत्यनिवितामु॑ सचार्टवपि॑ मुद्रितप्रतिपु॑ परमस्त्यविलासवपि॑ दीपिकाप्रतिपु॑ मूलेऽत्र॑ रक्षितः॑ ।  
+ प्रस्ताकारात्॑ ‘म्यान्’ इति॑ लोके॑ \* ‘अस्मिन्॑’जीवनारितप्रलृपणार्थे॑ ।

पूर्णगडाङ्ग-  
एत  
दीपिका-  
निवरम् ।

मपि प्राणपृष्ठातकारिणापुण्डेशं ददाति, तथथा-प्राणिनः खड्डादिना घातयत पृथिव्यादिकं खनते ल्यादि उगमम् । या-  
देताचानेव-शरीरमात्र एव जीवस्ततः परलोकिनोऽमाचाचारित परलोकस्तदभावाच्च यथेष्टमासत खादत पितृत सुखमतुभवत  
दहत पचत, अत्र दोषो नास्ति, जीवस्याभावाच्च परलोको नापि पुण्यं न पापं, इत्येवं लोकायतिकास्तज्जीवतच्छरीरचादिनो  
नैवेतद्वक्ष्यमाणं विप्रतिवेदयन्ति-नाभ्युपगच्छन्ति । तथाथा—

॥ ११ ॥

किरियाइ वा आकिरियाइ वा, सुकडेइ वा, दुकडेइ वा, कल्हाणायति वा पाचायति वा, साहूति  
वा असाहूति वा, सिद्धीति वा असिद्धीति वा, निरएति वा अनिरएति वा । एवं ते विरुचरुचेहि  
कम्मसमारंभेत्वा हि विरुचरुचवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए ।

व्याख्या—ये एवं मन्यन्ते-नास्ति जीवो नास्ति परलोकस्ते नैवं विप्रतिवेदयन्ति-नाभ्युपगच्छन्ति । किं नाभ्युपग-  
च्छन्ति ? ‘क्रिया’ सदतुष्टानातिमकां ‘अक्रिया’ असदतुष्टानरूपां, एवं नैव ते विप्रतिवेदयन्ति । कुतः ? यद्यात्मा क्रियाच-  
रताहि कर्मचन्धः, क्रियया शुभं कर्म बधयते अक्रियया त्वशुभं, ततश्च कोऽपि मोक्षा स्यात् । स तु परलोकगामी जीव एव, स  
तु मूलतोऽपि निराकृत एव, ततश्च कः कर्म बधनाति ? कश्च कर्मफलमतुभवति ? जीवाऽभावात्, अतः सत्रक्रियादिचिन्ता द्वो-  
त्सादितैव, अतः क्रियामकियां च न मन्यन्ते । तथा सुकृतं च दुःखतं च, कल्याणमिति पापमिति चा, साधुकृतमसाधुकृत-  
मित्यादिका चिन्तैष नास्ति । तथाहि—‘सुकृतानां’, कल्याणविपाकिनां साधुतयाऽवस्थान ‘दुःखतानां’, पापविपाकिनां

द्वितीये  
श्रृ०  
चारवाक-  
भगवेप-  
संहारः ।

॥ १२ ॥

असायुत्वेनावस्थानं, एतदुभयमपि सत्यात्मनि तत्कलभूजि सम्भवति, तदभावाच्च कुर्वोत्तर्थकौ हिताहितप्राप्तिपरिहारौ स्थारां ? । तथा अशेषकम्भूष्यरूपां सिद्धिमपि अस्तिद्विमपि नाऽभ्युपगच्छन्ति, आत्माभावात् । तथा दुष्कृतेन—पापातुचन्द्रियना असाइन्द्रुष्टानेन नरकोऽनरको वा तिर्यग्नरामरणतिलक्षणः स्यादित्येवमादिका चिन्तैव न भवेत्, तदाघारस्यात्मसङ्गावस्यानभ्युपगमादिति भावः । एव [ ते ] नास्तिका आत्मामार्वं प्रतिपाद्य विलुप्तूपैः पशुधातमांसभक्षणसुरापाननिलोऽनादिभिर्कर्मसमारम्भैः सावद्यासुष्टानैः कृपीचलातुष्टानादिभिर्विलुप्तूपाच् कामभोगाच् समाददवि तदुपभोगार्थमिति ।

साम्रांतं तज्जीवतच्छरीरादिमत्पुरपांहरन्नाह—

एवं पृगे पागाडिभूता णिकवद्मम मामगं धर्मं पद्मविंति, तं सहहमाणा तं पात्तियमाणा तं रोएमाणा साहुं सुअक्खवाए, समणोन्ति वा माहणोन्ति वा कामं खलु आउसो ! तुमं पूययामि, तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण चा पायुंछणेण वा, तत्थेगे पूयणाए समाउद्दिसु, तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु ।

व्याख्या—[‘एवं’ उक्त प्रकारेण] ‘एके’ केचन नास्तिकः धृष्टाः सन्त एवं वदन्ति—अयमात्मा शरीरादपुथ्यभूतोऽस्ति, एताचरा शरीरे मृते जीवोऽपि म्रियते, न परं शरीरात्पृथग्भावं भजते । स एव जीवस्तदेव शरीरं, न शरीरात्पृथग्भात्मा, इत्येवं

द्युगडाङ्-

सं॒

दीपिका-  
निवत्म् ।

॥ १२ ॥

षटाः-सन्तः प्रवर्चन्ते । स्वकीयदर्शनाबुसारेण प्रवद्यां प्रतिपदा + मरीगोडगमे+ धर्मः सत्यो, नाइपर इति[ परेष्यः ] प्रजा-  
पयन्ति । ततश्चान्ये श्रीताः नास्तिकोक्तं भग्नं विपयिणामतुकुलं अद्वानाः प्रतीयन्तो मनसि रोचयन्तरसतथा अनितथमावेन  
गृहन्तवसत्र कर्त्ति कुर्वन्तवसतथा ‘साधु’ शोभनगेतद्यथा इवाहयातो यथाऽपारिथितो भवता धर्मोऽन्यथा हिमादिवत्वर्तमानाः  
परलोकभग्नात्सुखसाधनेषु मध्यमांसादिषु प्रवृत्ति अकुर्वणा मातुराजनमकलवक्षिता भवेत् युः, ] ततः शोभनमरुरि भवता हे-  
अमण ! ब्राह्मण ! यदयं धर्मोऽस्माकमावेदितः, कामसिद्धमेतदस्माकं धर्मकथनं । सत्तुशब्दे वाक्यालङ्घे । हे यायुषमंस्तथा  
वयमश्वनुहृताः, अन्यथा कापटिक्तेस्तीर्थिक्तेवैक्षिता अभूमः, तस्मादुपकारिणं ‘दा’ भवन्तं दूजयामि, अहमपि कविदायुषमतो-  
भवतः प्रत्युपकार करोमि, ‘अस्पोण वा पाणेण वा’ इत्यादि चतुं सर्वे सुगमम् । तर्तुरे के चतुर्वृत्तं दूजया दूजायां वा  
'समाउद्दिष्टु' ति समावृत्ता-प्रदीप्तास्ते राजानः पूजा प्रति प्रवृत्ताः ‘पूजाए निकाहंसु’ पूजायां ‘निकाचितवन्तः’  
नियमितवन्तः, भवक्षितस्तज्जीवतल्लहरिरमित्यभ्युगमन्तः, अन्यो गीर्वोऽन्यथा शरीरमित्येतत् परित्याङ्गं, अनुष्टुनगण्येतद-  
तुरुपमेव विद्येयमित्येवं निकाचितवन्तः, के ते ? दर्शनिनः-स्वदर्शनप्रतिपञ्चान् राजादीन् ।

सुवामेव तेस्मि णायं भवद्व-समणा भविस्तसामी अवणगारा आकिञ्चणा अपुत्ता अपसु परदत्तभी-

+ “ यशपि चाहितानां नारित प्रस्तुया तथापि औजालिगते प्रत्रय पश्चामासितकीमुते छमाचति प्रवद्य, अथवा नीलपट्टा-  
याङ्गीकुतः फश्रिदस्त्येव प्रवद्यालिशेषः ” इति दर्श० ।

द्वितीये  
शु॒  
लोकदृष्ट-  
प्रश्नेष्वत्व-  
सासंन-  
चारवा-  
कानाम् ।

॥ १२ ॥

[इणो]गी भिक्षुणो पावं कमरं नो करिस्सामो, समुद्दाए ते अपणो अपडिविरया भवंति । सयमाइयंति अनेवि आदियाविति अक्षंपि आयंति समणुजाणति, एवामेव ते हाथिकामभोगे- (सु)हि मुचिछ्या गिछ्या अड्योववद्या लुङ्घा रागदोसवसद्वा, ते णो अपणं समुच्छेदिति, णो परं समुच्छेदिति, णो अणाहैं पाणाहैं भूताहैं जीवाहैं सत्ताहैं समुच्छेदिति । पर्हीणा पुवसंजोगं आरियं मरगं असंपत्ता इति ते णो हवाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसद्वा, इति पढमे पुरिसजाते तजीवतस्सरीरपुत्ति आहिए ( सू० १ ) ॥

याह्या—तथा तैर्दर्शनिधिः प्रवद्याप्राहणकाल एवैतपरिज्ञातं भवति, यथा—वयं परित्यक्तपुत्रकलन्नः ‘श्रमणा’ यतयो भविष्याम ‘अनगारा’ गृहरहितास्तथा निकाङ्गानास्तथा [अपुत्रा] ‘अपश्वो’ गोमहिष्यादिरहिताः परदत्तमोजिनः, द्वतः पचनपाचनादिक्यारहितवाद् । तथा ‘मिश्रवो’ मिश्रोपजीविनः, कियद्वयते ? अन्यदपि यत्किञ्चित्पापं सावधं कर्मा—तुष्टानं तत्सर्वं न करिष्या( म इत्येवं )मीत्येवं समयगृह्यानेनोत्थाय पूर्वं, पश्चाते—लोकायतिकभावमुपागताः ‘आत्मनः’ स्वतः पापकर्मभ्योऽप्रतिविरता भवन्ति, विरत्यसावे च यत्कुर्वन्ति तदशयति—पूर्वं सावधारमभाग्निवृत्तिं विधाय नीलपटादिकं वा लिङ्गमास्थाय स्वयं सावधमतुष्टानं ‘आददते’ स्वीकुर्वत्यन्यानप्यादापयन्ति—ग्राहयन्ति अस्यमध्याद-

दानं-परिग्रहं स्वीकृत्वन्तं समतुजानन्ति, एतमेव पूर्वोक्तप्रकारेण स्त्रीसमयनिष्ठु कामभोगेषु मूर्च्छिलाः ‘ गृद्धाः ’ काङ्गावन्तो  
, ग्रथिताः ’ अवद्वाः ‘ अष्टुपपत्ता ’ लुभ्याः रागद्वेपवशागाः कामभोगान्वा वा, ते एवं कामभोगेष्ववद्वद्वाः सन्तो नात्मानं  
संसारात्कर्मपाशाद्वा समुच्छेदयन्ति, नापि परं सदुपदेशदानतः कर्मपाशावपाशितं समुच्छेदयन्ति-कर्मवन्धान्वोटयन्ति,  
नाभ्यन्यान् प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् समुच्छेदयन्ति । ते चेवंविद्यास्तज्जीवतच्छरीरवाहिनो लोकायतिकाः ‘ पूर्व-  
संयोगा ’ तुष्ट्रदारादिकात् ‘ प्रहीणाः ’ प्रश्नाः, आदर्थमार्गमसम्प्राप्ताः, ऐहिकाऽप्युप्रिमकलोकद्वयात् प्रश्नाः, अन्तराल  
एव भोगेषु विषयान्विष्टस्तिष्ठन्ति, न विवक्षितं पुण्डरीकोत्क्षेपणादिकं कार्यं प्रसाधयन्ति । इत्ययं च प्रथमपुरुषस्तज्जीवतच्छरीर-  
वादी परिसमाप्त हृति । इति प्रथमः पुरुषः । अथ द्वितीयपुरुषजातमधिकृत्याऽह—

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंच महाभूतिएन्ति आहिजाति, इह खलु पाईणं वा दाहिणं वा पडीणं  
वा उत्तरं वा संतेगतिया मणुस्सा भवन्ति अणुपूर्वेण लोयं उववद्वा, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया  
वेगे एवं जाव दुरुवा वेगे, तेसि च णं महं एगे राया भवति [महया०] एवं चेव निरवसेसं जाव  
सेणावितिपुता, तेसि च णं एगतिए सहृदी भवति । कामं तं समणा य माहणा य पहारिसु गमणाए ।  
तत्थऽन्नव्ययेण धम्मेण पञ्चतारो वयमिमेणं धम्मेण पञ्चवइस्सामो, से एवमायाणह भयंतारो ! जहा  
मए एस धम्मे सुअकख्वाए सुपञ्चते भवति ।

व्याख्या—इह खलु द्वितीयः पुरुषजातः पञ्चमिः [ भूतैः ] पृथिव्यते जोवारनाकारैश्चरति पञ्चभूतिकः, स च सौख्य-  
मतावलम्बी । स प्रथमपुरुषवच्चाजयमामागत्य स्वीयं भग्नं यथा प्रकाशयति तथा [ दर्शयितुमा ] ह—

इह खलु पंच महव्यभूता, जोहि नो किञ्जाति किरियाति वा आकिरियाति वा, सुकडेति वा दुकडेति  
वा, कल्पणएति वा पावएति वा, साहूति वा असाहूति वा, सिद्धिति वा असिद्धिति वा, निरएति वा  
आनिरएति वा, इति [ अविच ] अंतसो तणमातमावि । तं पिहुदेसेणं पुढो भूतसमवातं जाणेज्ञा, तंजहा—  
व्याख्या—‘इह’ द्वितीयपुरुषवक्तव्याधिकारे, खलु शब्दो वाक्यालङ्कारे, पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि विवरन्ते ।  
तेषां च सर्वव्यापितया अभ्युपगमनमहत्वं, पञ्चेव, परस्य पशुस्य क्रियाकर्त्तवेनानभ्युपगमाव । पञ्च भूतानि कार्यकारीणि,  
न-कोऽपि पषुः पदार्थैऽस्ति । साहूयानां हि मते पंच महाभूतान्येव सर्वक्रियाकारीणि, न कोऽपि पषुः आत्माभयः पदार्थः,  
स तु किमपि न करोति, यतस्तन्मतं—“अमूर्तश्चेत्नो ओरी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अकर्ता निर्गुणः स्फूर्तम्,  
आत्मा कापिलदर्शने ॥ १५ ॥” साहूया एवं घदनित-पञ्चभूतरम्यपुरगमयमानैतो-ऽसमांकं ‘क्रिया’ परिसन्दर्भिमका  
चेष्टाभ्या [ अक्रिया वा-निन्द्यपारतया स्थितिरूपा ] क्रियते, तथाहि-सौख्यानां दर्शनं सच्चरजस्तमोरूपा प्रकृतिः सर्वा  
अर्थक्रियाः करोति, पुरुषः केवलमुपश्मुक्ते, तस्याश्च प्रकृतेर्भूतगतिमकायाः सत्वरजस्तमसां चयापचयाभ्यां क्रियाऽक्रिये स्पाता-  
मिति कृत्वा भूतेभ्य एव क्रियादीनि प्रवर्तन्ते, भूतव्यतिरेकेणापरस्यामावादिति भावः । तथा सुकृतं सत्वगुणाधिक्येन भवति

मूर्यगडाङ्ग-

सुन्तं

दीपिका-  
न्त्वितय् ।

॥ १४ ॥

दुःक्षतं रजस्तमसोरुक्टटतया प्रवत्तते, एवं कलयाणमिति वा पापकमिति वा साधिचति वा असाधिचति वा इत्येतत्सत्त्वा-दीनां गुणानामुत्कर्षतया यथासम्भव मायोजनीयं । तथा सिद्धिरसिद्धिर्या, तथा 'नरकः' पापकर्मणां यातनासथानं, अनरकस्तिर्थदमनुष्यमराः, एतत्सर्वे सत्त्वादिगुणाधिष्ठिता भूतात्मिका प्रकृतिर्विघ्नते, लोकायतिकाभिप्रायेणापीडैव तथाविश्वसुख-दुःखावस्थाने स्वर्गनरकाधिति इत्येवमन्तरशस्तुणमात्रमपि यत्कार्यं तद्भौतेरेव प्रधानलूपापन्नैः क्रियते । तदेवं सौख्याभिप्रायेणात्मनस्तुणकुठन्जीनरणेऽप्य सामर्थ्यर्थात्, लोकायतिकाभिप्रायेण त्वात्मन एवाभावात्, भूतान्येव सर्वकार्यकर्तृणीत्येवम् । युपामाः । तानि च समुदायरुपापचानि नानास्वभावं कार्यं कुर्वन्ति । तं च तेषां भूतानां समवायं पृथगभूतपदोद्देशेन जानीयाद् । तथाहि—

पुढवी एगे महबूमते आऊ दुच्चे महबूमते तेऊ तच्चे महबूमते आगासे पंचमे महबूमते, इच्छेते पंच महबूमया अणिम्माविया अकडा णो किन्तिमा तो कडगा अणादिया आणिहणा अवंज्ञा अपुरोहिता सतंता सासता आयछट्टा । युण एगे एवमाहु—

व्याख्या—पृथिव्येका काठिन्यलक्षणा महाभूतं, तथा 'आपे' द्रवलक्षणा महाभूतं, तथा 'तेज' उष्णोद्योत लक्षणं महाभूतं, वायु( गै )तिकम्पतलक्षणं सर्वद्रव्याधारभूतमाकाशमितयेवं पृथगभूतो यः पदोद्देशस्तेन कायाऽऽकारतया यस्तेषां समवायाः, स एकत्रेऽपि लक्ष्यते । न न्यूनानि नाप्यधिकानि विश्वव्यापितया महान्ति, त्रिकालसवनाद्भूतानि, एतान्येव क्रमेण व्यवस्थितानि, अपरेण काळेश्वरादिना केनचिदपि न निर्मितानि—अनिष्पदितानि, ॥ १४ ॥

द्वितीये  
श्रुतो  
सांख्यमत-  
स्त्वरूपम् ।

तथा परेण अनिम्नपरितव्यानि, तथा कुहतानि—न केनचिचानि क्रियन्ते, अभेन्दुष्टुर्वद्विशसापरिणमेन निष्प्रकल्पात्, तथा न बटवत्कृत्रिमाणि, कर्तुकरणव्यापारसाइयानि न भवन्तीत्यर्थः, तथा परन्यापारामावतया ‘नो’ नैव कुहतानि, न अपेक्षितपरब्यापारस्वमाचानि, विश्वापरिणमेन निष्प्रकल्पत्वाकृतकव्यपदेशमाल्लिन भवन्ति । तथा अनायनिष्ठनानि, अवन्धानि—अवश्यकार्यकारीणि, तथा न विद्यते ‘पुरोहितः’ कार्यं प्रति प्रवर्तयिता येषां तात्यपुरोहितानि, तथा ‘स्वतन्त्राणि’ स्वाधीनानि, तथा ‘शाश्वतानि’ नित्यानि, तदेवम्भूतानि पञ्च महाभूतान्यात्मषष्ठानि ज्ञात्यन्यानि । एके पुनरेवमाहुः—

सतो णतिथ्य विणासो असतो णतिथ्य संभवो । एतावताव जीवकाए, एतावताव अतिथिकाए, एतावताव सबलोए, एतं मुहं लोगस्स करणयाए । आवे अंतसो तणमायमवि ।

व्याख्या—तथा सौख्याभिप्रायेण ‘सतो’ विद्यमानस्य प्रधानादेनास्ति विनाशः[तथा] ‘असतः’ शशविषणादेनास्ति ‘सम्भवः’ समृत्यपतिरस्ति, अतः सौख्या आत्मनः कायकारित्वं न मन्यन्ते । यद्यात्मा क्रियायाः कर्ता स्यात्तरोऽसदुत्पादयति, अत आत्मा अकर्ता निर्गुण इति । ततः सौख्या एवं बदन्ति एतावानेव जीवकायो, यदुत—पञ्च महाभूतानि, तथा एतावानेव—भूतास्तिर्त्वमात्र एवास्तिकायो, नापरः कवितीर्थिकाभिप्रेतः पदाश्चेऽस्ति । एतावानेव सर्वलोकः, पञ्च महाभूतानि लोकनिष्पत्तो ‘मुख्यानि’ प्रधानकारणान्येतान्येव जानीहि । भूतान्येचान्तश्शत्रुणमात्रमपि कार्यं कुर्वन्ति, पञ्च महाभूतेभ्यः परस्य कस्याप्यमाचादिति । अथ स चैवावद्येकत्रात्मनोऽकिञ्चित्करत्वादन्यत्र चात्मनोऽसत्त्वादन्यत्र नात्मा पापकर्म-

भिन्नस्यत इति दर्शयितुमाह—

से किणं किणावेमाणे, हणं घायमाणे, परं पयोवेमाणे, अति अंतसो पुरिसमवि किणिता घा-  
रयेति वा । एवमेव ते विरुचरुवेहि कम्मसमारंभेहि विरुचरुवाहि कामभोगाहि समारभंति भोय-  
[यणाए]णे(?), एवामेव ते अणारिया विपडिवक्ता तं सद्वहमाणा तं पञ्चियमाणा जाव इति । ते णो  
हवाए णो पाराए, अंतरा य कामभोगेसु विस्त्राव, दोचे पुरिसजाए पञ्चमहव्यभितेष्टि आहिते(सू०१०)॥

व्याख्या—‘से’ति यः कश्चित्पुलः क्रयार्थः ‘क्रीणन्’ क्रीणतः क्रीणतः क्रापयतो, गतो शातपतस्तथा प्राणिनो  
'स्त्र' हिंसंस्तथाऽपरे 'घीतयन्-व्यापादयन्', तथा पञ्चन् पालयन्, क्रीणतः क्रापयतो, गतो शातपतस्तथा पचतः  
पातयतश्चापरांस्तथाऽप्याद्यतः पुरुषापि पञ्चेन्द्रियं गिरीण नातपिता अपि पञ्चेन्द्रियाधाते नास्ति दोषोऽनेने ‘जानीहि’,  
अचग्न्तु । किं पुनरेकेन्द्रियाऽनस्पतिषात इत्यपि शब्दार्थः, न तर्वैवादिनः सौख्या वाहेस्तप्य वा ‘नो’, नैतोद्दृश्यमाणं  
‘विप्रतिवेदयन्ति’ जानन्ति, तथ्या—किया सारथाउत्तातुरुपा, एतमक्रिया या स्थानादिलक्षणा यावदेवमेव तिळपूर्वे-रुचा-  
वचनानाप्रकारैर्जलस्तानावगाहनादिनेस्तथा प्राणपूर्पमद्दुरारिगिः कर्मसमारम्भेन्द्रियपूर्वान्—नानाप्रकारान् सुरापानमांगक्षणा-  
गम्पगमनादिकान् कामभोगान् समारभन्ते स्तः पराश्र प्रेरयन्ति—नास्त्यत्र दोष इत्येवं प्रतार्थस्तकार्थकरणाय प्रेरयन्ति,

द्वितीये  
श्रुत०  
संख्याना-  
सावधा-  
प्रश्नातः ।

॥ १५ ॥

एवं तेऽनाया अनार्यकमङ्कारित्वाद्विलङ्घं मार्गो विप्रतिपद्मः । 'तं सहहमाणा' तमात्मीयमेव कुमतं पञ्च महाभूतात्मकं श्रद्धानास्तमेव च सत्यमित्येवं 'प्रतीयन्तः' प्रतिपद्मानास्तमेव चैपश्च रोचयन्तस्तद्दमस्थाऽत्यथातरं प्रशंसयन्तः । स्वाहयातो धर्मो भवता, अस्माकमयं धर्मोऽत्यन्तमभिप्रेतः, सावधानुषानेनाप्यधर्मो न भवतीत्यइयवमायिनः स्त्रीकामेषु मूर्छिताः, इत्येवं पूर्ववत्तेयं, यावदन्तरे कामभोगेषु विषणाः ऐहिकामुदिमकीभयकार्यं अद्याः नात्म[नः] त्राणाय नापि परेषां मिति । एवं द्वितीयः पुरुपजातः पञ्च महाभूताभ्युपगमिको व्याख्यात इति, साम्रवं दृतीपुरुणं ईश्वरकारणिकमधिकृत्याऽऽह—

अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिषति आहिज्जाति, इह खलु पाइणं वा ४ संतेगद्या मणुस्सा भवति अणुपुरेणं लोयं उवचक्षा, तंजहा—आरिया वेगे, जाव तोसि च णं महंते एगे राया भवति जाव सेणाचातिपुता, एतोसि च णं एगतीए सहृदी भवति । कामं तं समणा य माहणा य पहारिसु गमणाए जाव जहा मए एस धर्मे सुअक्खाए सुपक्षते भवति ।

व्याख्या—तदेवमीश्वरकारणिक आत्माद्वैतवादी वा दृतीयः पुस्तजात आहयायते । इह खलु पुरुप्रस्तवावे, खलु शब्दो वाक्यालङ्घारे, प्राच्यादिषु दिक्षवन्यतरस्यां दिशि व्यवस्थितः कश्चिदेवं ब्रूयात्, तद्यथा—राजानमुदिदिश्य तावद्याचत्स्वाहयातः सुप्रज्ञातो धर्मो भवति इत्यादि सर्वं पूर्ववद्वग्नतव्यं । अथ य ईश्वरप्रणीतं जगदिदं मन्यते स कस्यापि राङ्गः समीपमागत्य आत्माभिप्रेतं धर्मं प्रलपयति—

इह खलु धम्मा पुरिसादिया पुरिसोत्तरा पुरिसपणीया पुरिससंभूया पुरिसपञ्जोतिता  
पुरिसअभिसमव्वागता पुरिसमेव आभिभूय चिह्निति ।

व्याख्या—‘हह’ संसारे, खलिवरि शाकयालक्ष्मारे, धर्माः—सचेतनाचेतनरूपाः पदाथाः पुरुषादिकाः, पुरुष—ईश्वर-  
आत्मा वा कारणमादियेषां ते पुरुषादिका ईश्वरकारणिका आत्मकारणिका वा, तथा पुरुषोत्तरा:, तथा  
पुरुषसभूताः ‘पुरुष(प्र)धोतिताः’, पुरुषप्रकाशिताः, प्रदीपमणिद्वयादिभिर्या बटपटादयः पदाथाः प्रकाशयन्ते तथा  
सर्वेऽपि पदाथाः पुरुषेण—ईश्वरेण प्रकाशिताः, ते च धर्मां जीवानां जन्मजरामरणव्याधिरोगाशोकमुखदुःखजीवनादिकाः  
आजीवघमोस्तु मूर्चिमातां द्रव्याणां वर्णगच्छस्त्रपश्चिः, असूतिमतां च घर्मधर्ममकाशानां गत्यादिका घर्ममाः, सर्वेऽपीश्वर-  
कृताः । सर्वेऽपि पुरुषमेवाभिन्नात्य तिषुन्ति । आस्मकर्थं हृष्टान्तमाह—

से जहानामए गंडे सिया सरीरे जाते संबुद्धे सरीरे अभिसमव्वागते सरीरमेव  
आभिभूय चिह्निति, एवामेव धर्ममा पुरिसादिया, जाव [पुरिसमेव] आभिभूय चिह्निति ।  
व्याख्या—‘से’ ति तन्त्रान्तर्दोषेण । ‘नाम’ हृति सम्भावनायां । यथा नाम गण्डं ‘स्या’ हृवेत् । गण्डं रोगविशेषः ।  
सर्वमालयते प्राणिनां गण्डादिसपुरुषः । तच शरीरे जाते, शरीरे हृदिस्त्रिपतं, शरीरे अभिसमव्वागतं—शरीरं नायाय घ्यव-  
स्थितं, न रदवयकेऽपि शरीरास्यप्रभुत इति । शरीरमभिभूय—[भूय—] घ्याय (?) फीडपिला तिषुन्ति, न शरीराद्वहिर्भवति,

द्वितीये  
श्रुत०  
ईश्वरका-  
रणिक-  
मतम् ।

॥ १६ ॥

यथा तटिपटकं शरीरैकदेशभूतं न युक्तिशतेनापि शरीरात्पृथगदर्शयितुं शक्यते, एवमेव ये धर्मश्चेतनाचेतनरूपास्ते सैऽपीश्वरकर्तुकाः, न ते ईश्वरात्पृथकर्तुं पार्थन्ते । पुनर्दृष्ट्यन्वितरमाह—

से जहानामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे (अभिख)संबुद्धा सरीरे अभिसमन्वागया सरीरमेव आभिभूय चिट्ठइ, एवामेव धरमा[वि] पुरिसाइया जाव पुरिसमेवाभिभूय चिट्ठन्ति । व्याख्या—तद्यथा नाम ‘अरति’श्चितोद्गललक्षणा ‘स्याद्’ भवेत्, सा च शरीरे जातेत्यादि गण्डवनेया, दाष्टान्तिकेऽप्येवमेव सर्वे धर्माः पुरुषप्रभवा इत्यादि एवंवचेयम् । पुनर्दृष्टान्तरमाह—

से जहानामए वास्त्रम् सिया पुढविजाए पुढविसंबुद्धे पुढविअभिसमन्वागय युढविमेव आभिभूय चिट्ठइ, एवामेव धरमा[वि] पुरिसाइया जाव [पुरिसमेव] आभिभूय चिट्ठन्ति । व्याख्या—यथा ‘वल्मीकि’ पृथ्वीविकाररूपं स्यात्ततच्च पृथ्वीभिसमन्वागयं, पृथिवीमेवाभिसमन्भूय तिष्ठति, एवमेव यदेत्तेचेतनाचेतनरूपं तत्सर्वमीश्वरकारणिकमात्मवित्तरूपं वा, नात्मनः पृथ्वमवित्तमर्हति । पृथिव्या वल्मीकीचतुर् । तथा—

X वृद्धहत्यादशेषु नारायणं शब्दः ।

खण्डाङ्गः

स्वर्तं  
दीपिका-  
निवितम् ।

॥ १७ ॥

से जहानामए रुक्खे सिया पुढविजाए जाव पुढविसंबुद्धे पुढविअभिसमत्रागए पुढविसेव  
अभिभूय चिद्दुइ, एचासेव धम्मा वि [ पुरिसादिया ] जाव [ पुरिसमेव ] अभिभूय चिद्दुति । से जहा-  
नामए पुक्खरिणी सिया\* पुढविजाता जाव पुढविसेव अभिभूय चिद्दुति, एचासेव धम्मा वि पुरिसा-  
दिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिद्दुति, से जहानामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए [ जाव ]  
उदगसेव अभिभूय चिद्दुति, एचासेव धम्मा[वि] पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिद्दुति ।  
से जहानामए उदगबुब्बुए सिया[ उदगजाए जाव ]उदगमेव( जाव ) अभिभूय चिद्दुइ, एचा-  
सेव धम्मा वि पुरिसा[दिया] जाव पुरिसमेव अभिभूय चिद्दुति ।

व्याख्या—एतत्सर्वं सुगमं, पूर्वोक्तेऽप्याः मर्वेऽपि दृष्टान्ताः । एतानामा यदीश्वरठतत्वेनाम्युपगम्यते तसर्वं तथ्यं,

\* “यथा नाम पुण्यकरिणीस्थाते-तडगरुपा मवेत्” इति शुद्धतो । × नामयमं शब्दोऽा शुद्धदृश्यादर्थेषु ।  
+ केवलं दाढ़पुरीयप्रतिकृतायस्य सूत्रय न्यास्या ‘से’ ( वद् ) यथा नाम ‘उदकपुण्यकर्णं’ ग्रन्तरपानीयं-उदकप्राचुर्यं,  
तज्ज ‘तद्दर्मत्वात्’ तद्दर्मत्वात् तद्दर्मत्वात् कोगाभिभूय तिष्ठति, एं दण्डनितिकेऽपि” परम्भूता लक्षणान्तरे लिपितात्तिरित, पर  
पाञ्चात्येन लेखकेन केनापि लिपिता सम्भावयते, समस्तानां दृश्यान्तव्याणामेवभूयाया द्याख्याया अतुपलभ्यात् ।

द्वितीये  
शुद्ध०  
ईश्वर-  
कारणिक-  
निरूपका  
दृष्टान्ताः ।

॥ १७ ॥

अपरं सर्वं मिथ्येति तदाविभावयन्नाह—

जंपि य इमं समणां निगंथाणं उहिदुं पणियं वियंजियं दुवालसंगं गणिपिडगं, तंजहा—  
आयारो सूयगडो जाव दिट्ठिचाओ, सवमेयं मिच्छा, ण एयं ताहियं ण एयं अहाताहियं

ब्याह्या—यदपि चेद् प्रत्यक्षासबभूतं ‘ अमणातां ’ साधूतां ‘ उहिदं ’ तदर्थं प्रणीतं, व्यजितं-प्रफटीकुरम् ।  
दादशाङ्कं गणिपिटकं, तद्यथा—आचाराङ्कं याचिद्दृष्टिवादः, सर्वमेतन्मध्या, अनीश्वरप्रणीतरत्वात्, यदीश्वरप्रणीतं तदेव सत्य-  
मन्यतसर्वं मिथ्येत, एतदपि गणिपिटकं ईश्वरप्रणीतं न भवति, स्वेच्छाया कलिपतं, तेन मिथ्या । अनया प्रस्तुपणाया अभूतोऽह्वाचन-  
त्वमावेदितं । गणिपिटकं सर्वं दृष्टिवादपर्यन्तमतश्यमपि तश्यतया प्रतिपादयन्ति, अचौरे चीरतवत् असद्दृताश्वरिण फुर्वन्ति  
जैनाः । एतावता ईश्वरप्रणीतमेव तश्यं नापरं किमपि । अश्य यतसत्यतया मन्यन्ते तदेवाह—

इमं सच्चं इमं ताहितं इमं अहाताहितं, [ते] एवं सक्षं कुवांति ते एवं संठावेति, ते एवं  
सक्षं सोवदुवयंति । तमेव ते तज्जाहयं दुवक्षं णो तिउद्दंति ।

ब्याह्या—यदीश्वरप्रणीतं तदेव तश्यं, तदेव यथातश्यं, ते ईश्वरकरणिका एवं संज्ञां कुर्वन्ति, स्वदशोनादुरागिणः संज्ञां  
संस्थापयन्ति । एवम्भूतां संज्ञां वक्ष्यमाणनीत्या तियुक्तिकामपि सुष्टु सामीव्येन तथाऽऽग्रहितया तदभिमुखा युक्तीः  
स्थापयन्ति, तत ईश्वरप्रणीतं सर्वं सचेतनाचेतनं जगदित्यादिप्रस्तुपणाया तमेव तदभ्युपगमजातीयं दुःखहेतुत्वाहुःस—मष्टकारं

कर्म न जोटयन्ति । अस्मिन्द्वये दण्डान्तमाह—

सउणीपंजरं जहा, ते पो विष्पाडिचेदेंति तं जहा—किरियाचाई वा जाव अणिरण्ति वा,  
एवामेव ते विलवल्लोहि कम्मसमारंभेहि विलवल्लवाई कामभोगाई समारभंति भोयणाए, एवामेव  
ते अणिरिया विष्पाडिवदा एवं सहहमाणा जाव इति णो हवाए णो पाराए, अंतरा कामभोगे सु-  
विसद्वेन्ति । तच्चे पुरिसजाते ईसरकारणिएन्ति आहिते ( सू० १३ ) ॥

व्याख्या—यथा ‘शकुनिः’ पश्यविशेषः पञ्जरं नातिवर्चते, पौनःपुन्येन ब्रात्त्वा त्रैन् वर्चते, एवं तेऽपि एतम्भूता-  
भुपगमवादिनः कर्मचन्थनं ‘नातिवर्चन्ते’ त वा श्रोटयन्ति । ते च स्याप्रदाभिमानग्रहप्रस्ता नेव दद्यमाणं ‘विप्रतिवेदयन्ति’  
न ममयग् जानन्ति, तद्यथा—क्रियामक्रियां वा शोमनामशोमना वा, यावदयं [ अ ] नरक इत्येवं मदमाद्विवेकरहितत्वान्वा-  
यारयन्ति । एवमेव यथा कथ्यज्ञिते विलप्लृष्टैः ‘कर्मसमारम्भेनीनाप्रकारैः सारथातुषुनैर्व्योपायभूतेर्व्यपुषादाय  
विलप्लृष्टा—नुचावचान् कामभोगान् समाचरन्ति[ मोडनाय ], इत्येवं ते अनायि निरुद्धं मार्गं प्रतिपाद्या न ममयग्रवादिनो  
मग्नन्ति । तदेवमीश्वरकर्तृत्वमाद्वितपश्च युक्तिमिविचार्यमाणो न कथ्यज्ञित् घटां प्राच्छ्रवति । अंतेतन्मतनिरासे वहकमसित  
( तद् ) वृहद्वीकातोऽप्रधारणीयं, अत्र ग्रन्थविमितरमयान् लिखितमिति । एवं ते प्रतीयन्तः अद्यानाश ‘ नो हवाए नो  
पाराए अंतरा कामभोगे सु विसद्वं ति इत्येवं दुरीयः पुरुजात ईश्वरकारणिक इति । असमज्ञसमापितया त्यक्ता

द्वितीये  
श्रुत०  
ईश्वर-  
कारणिक-  
मतोप-  
संहारः ।

॥ १८ ॥

पूर्वसंयोगमात्रासे निविक्षिप्तस्थानमनुरागल एव कामनोगेषु शूलिंगो विषण्ण इत्यचान्तरव्यभिति दृतीयः पुरुषजातिः समाप्तः ।

अथ चतुर्थं पुरुषजातमधिक्तयाह—

अहावरे चउत्थे पुरिसज्जाए नियतिवाइपांति आहिजाति—इह खलु पाईणं [ वा ४ तहेव जाव सेणावहपुता वा, तेस्मि च णं एगतीए सहुङी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिसु गमणाए जाव मए एस धरमे सुअकखाए सुपद्वते भवइ ] ।

इयाख्या—अथ चतुर्थः पुरुषजातो नियतिवादिक आख्यायते, स तु नियतिवादी, ( एवमाह— ) नाव कश्चित्कालेश-रादिकं कारणं, नापि पुरुषकारः, तेपां नियतिवलादेवार्थसिद्धेन्यतिरेव कारणं, उक्तञ्च—“ प्राप्तव्यो नियतिवलाश्रयेण गोऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि यत्ने, नाभावं भवति न भाविनोऽस्मित नाशः ॥ १ ॥ ” इत्याऽदिको ग्रन्थः प्राप्तव्येतत्वयो, यावदेव धर्मानि नियतिवादस्त्रपः स्वाख्यातः सुप्रक्षसो भवतीति । स च नियतिवादी स्वाभ्युपगमं दर्शयितुमाह—

इह खलु द्वे पुरिसा भवन्ति—एगे पुरिसे किरियमातिकखाति एगे पुरिसे नोकिरियमातिकखाति, जे य पुरिसे किरियमाइकखइ, दोवि ते पुरिसा तुल्ला,

## एगटा, [ कारणमावन्ना ] ।

व्याख्या—इहाऽस्मिन् जगति, खलुशब्दे वाक्यालङ्कारे, द्वौ पुरुषौ भवतः, तत्रैकः क्रियामाहयति, क्रिया हि देशोऽशान्तराचासिलक्षणा पुरुषस्य भवति, न काले श्वरादिना ग्रेरितस्य) ता० भवति, अपितु नियतिप्रेरितस्य, एवम-क्रियाऽपि, यदिवा क्रियावादमक्रियावादं च समाश्रितो तौ द्वाचपि नियत्यधीनत्वातुल्यो । यदि युनत्वौ स्वतन्त्रौ भवतस्तदा क्रियाऽक्रियामेदाच्च तुल्यो द्यातां इत्यत एकाश्चौ, एककारणापञ्चत्वादिति, नियतिवशेन तौ नियतिवादमनियतिवादं च समाश्रिताविति भावः । उपलक्षणार्थत्वाचास्यान्योऽपि यः कश्चित् कालेश्वरादिकं पक्षान्तरमाश्रयति सोऽपि नियति-ग्रेरित एव दृष्टव्य इति ।

बाले पुण एवं विष्पाडिवेदेति कारणमावन्ने—अहमांसि दुक्खवामि वा सोयामि वा ज्ञानामि वा तिष्पामि वा पीडामि वा परित्पामि वा, अहमेयमकासि, परो वा जं दुक्खवाति वा सोयाति वा ज्ञानाति वा तिष्पह वा पीडह वा परित्पह वा, परो एवमकासि, एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विष्पाडिवेदेति कारणमावन्नो । मेहाची युण एवं विष्पाडिवेदेति कारणमावन्नो—अहमांसि दुक्खवामि वा सोयामि वा ज्ञानामि वा पीडामि वा परित्पामि वा, णो अहं एवम-

द्वितीये  
शु० नि-  
यतिवादी  
मतम् ।

कासि । परो वा जं दुक्खति वा जाव परितप्यह वा नो परो एवमकासि, एवं से मेहावी सकारणं

वा परकारणं वा एवं विपडिवेदेति कारणमावज्ञे ।

व्याख्या—नियतिवाद्येवं प्रलयति—यो ‘बालो’ मूर्खः स एवं जानाति यत्सुखदुःखाद्यते जन्मतां तत्सर्वं काले-  
श्चरादिकृतं जायते । तदथा—योऽहमस्मि दुःखं—शारीरमानसमुभवामि तथा ‘सोचामि’ इषानिष्टविप्रयोग[संप्रयोग]कृतं  
शोकमतुभवामि तथा ‘तिपपामि’ शारीरबलात् श्वरामि तथा ‘पीडामि’ सवाद्याभयन्तरया पीडया पीडामनुभवामि ।  
तथा ‘परितप्यामि’ परितापमतुभवामि ‘ज्वरयामि’ अनर्थकर्मणि प्रवृत्तमात्मानं गर्हामि, अनर्थाचास्त्रो विद्वरयामि ।  
तदेवं यदहं सुखदुःखशोकादिकमतुभवामि तत्सर्वं मध्येव परपीडयाऽङ्गितं ममोदयमागतम् । तथा परोऽपि यत्सुखदुःखादिक-  
मतुभवति मध्य वाऽऽपादयति तत्सर्वयमेव कृतमिति दर्शयति—‘परो चे’ त्यादि । तथा परोऽपि यन्मां दुःखयति शोचयति  
इत्यादि प्राग्नवज्ञेयं, तत्सर्वमहमकार्षम् । बालोऽहं एवं [विप्रतिवेदयति—जानीते । स्वकारणं वा परकारणं वा सर्वं दुःखादि  
पुरुषाकारार्थादिकृतमिति जानीते, तदेवं नियतिवादी पुरुषाकाराकारणवादिनो बालत्वमापाध्य स्वमतमाह ‘मेहावी’ ल्यादि,  
(‘मेहावी’ नियतिवादपक्षाश्रयी एवं विप्रतिवेदयति—जानीते । ‘कारणमापन्’ इति नियतिरेव कारणं सुखदुःखाद्यतु-  
भवस्य । तदथा—योऽहमस्मि ‘दुःखयामि’ शोचयामि तथा ‘तिपपामि’ तिपपामि परितापमतुभवामि,  
नाहमेवमकार्षं दुःखं, अपि तु नियतित एवेतनमध्यागतं, यतो—नहि कस्यचिदादिकृतं, येनानिष्टा

मुयगडाङ्ग-  
संत्र-  
दीपिका-  
निरम् ।

दुःखोत्पादिकाः क्रियाः समारभते । नियत्यैवात्मा अनिक्तलब्धिं तत्कार्यं चेन दुःखी भवेत् । कारणमापन इति परेऽप्येव-  
मायोजनी(या)यम् । एवं स नियतिचारी दृष्टं पुरुषकार परित्यज्य [अहट] नियतिपशाश्रयेन महाऽनिवेदी स्वकारणं पर-  
कारणं च दुःखशोकादिकमचुभवनियतिहरमित्येवं विप्रतिवेदयति, नात्मना कृतं । कारणं चार्जुरुम्या[सदतुष्टानतस्या]पि  
त दुःखप्रत्ययते, परस्य हु भद्रुष्टायिनोऽपि तद्वयतीत्यतो नियतिरेव कर्त्रीति नियतिवादे इयते परमपि यत्किञ्चित्चत्सं  
नियत्यधीनमिति दशंपितुमाह—

॥ २० ॥

से वेमि—पाइणं वा ४ जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमागच्छंति, ते एवं विपरिया-  
समावज्जंति, ते एवं विवेगमागच्छंति, ते एवं विहाणमागच्छंति, ते एवं संगतिशंति उवेहाए नो  
एवं विपरिद्वेदंति । तं जहा—

व्याख्या—सोऽहं नियतिगादी ‘ब्रह्मिमि’ प्रतिपादयामि, ये केवल प्रान्यादिषु दिक्षु ब्रह्माः स्यान्नाश्र प्राणिनस्ते  
मैवेऽप्येवं नियतित एवौदारिकादिगरीरमम्बन्धमागच्छन्ति, नात्मेन केनचित्कर्मादिना शरीरं शायन्ते, तथा चाल-  
कुमार—यौवन—पृथ्विर—वृद्धावस्थादिक विनिमयं पर्यायं नियतित एवातुमवन्ति, तथा नियतित एव ‘विवेकं’ शारीरात्पृथग्  
मावमनुभवन्ति, तथा नियतित एव विविधं ‘विघानं’ अवस्थाविदोपं कुन्तजकाणबलउभामनकजरामरणं रोगाशोकादिकं  
वीमत्समागच्छन्ति । तदेवं ते प्राणिनस्ते नीत्या सङ्गति यान्ति यन्ति—नियतिमापनाः नानाविष-

द्विरीये  
शु० मत-  
वत्स्फोप-  
संहारः ।

॥ २० ॥

विषानभाजो भवन्ति । तदुत्पेश्या—नियतिवादोत्पेश्या यत्कञ्चनकारितया परलोकभीर्वो नैतदिप्रतिवेदयन्ति—जानन्ति ।

उदेवाऽह—

किरियाति वा जाव निरपृचि वा आणिरएत्ति वा, एवं ते विरुचरुचोहि कम्मसमारंभेहि विरुचरुचाऽं कामभोगाऽं समारंभंति भोयणाए । यवामेव ते अणारिया विषपडिवज्ञा तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हवाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसज्ञा । चउथे पुरिसजाते णियइवातिएति आहि[ए.]ज्ञाति ।

व्याख्या—ते नियतिवादिनो नियतिपथमेवाश्रितः नान्यतिकमपि विदन्ति—कियामकियां सिद्धिमसिद्धि चेत्यादि न जानन्ति । नियतिमेवाश्रित्य तमेव निर्युक्तिं नियतिवादं श्रहशानास्तमेव प्रतीयन्त इत्यादि तावचेयं यावदन्तरा कामभोगेषु विषणा आत्मानमन्यांशोद्दुमशक्ताः ऐहिकापृष्ठिमकाङ्क्षा सुक्षिप्राप्ता अन्तराल एव संसारपदे ममनाः [पदावर]पुण्डरीकोद्धरणासमर्थः सन्त एवमेवावतिष्ठन्ते इति चतुर्थः पुरुषजातः समाप्त इति । एतावता चतुर्थः पुरुषो नियतिपक्षाश्रित उक्तः । उपसङ्गिष्ठक्षुराह—

इच्छेते चत्तारि पुरिसजाता णाणापक्षां णाणासीला णाणादिट्टी णाणारुई नाणा-

बूद्धगडाङ्-

पूर्वं

दीपिका-  
न्तिरम् ।

रंभा नाणाडङ्गवसाणासंजुत्ता पहीणपुबसंजोगा आरियं मनगमसंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए,  
अंतरा कामभोगेसु विसन्ना । ( सू० १२ ) ।

द्वितीये  
शु० भिक्षु-  
रूपञ्चम-  
गुरु-  
स्वरूपम् ।

व्याख्या—‘इत्येते’ पूर्वोक्तास्तज्जीतन्त्वलीरपञ्चमहाभूते-शरकर्मसृत्व-नियतिराद-पशाश्रयिणश्वत्त्वाः पुरुषाः नाना-  
प्रकारा‘प्रज्ञा’मतियेषां ते तथा ‘नानाछन्दा’ नानाशीला’ नानाऽभिप्रायाः ‘नानाऽभिप्राया इत्यर्थः, नानारूपा ‘हट्टि’।  
दर्शनं येषां ते नानाहट्ट्यः । तथा नानाहट्ट्यः । नानाप्रकारधर्मस्तुपुताः नानाऽव्यवसायसंयुक्ताः—  
घरमर्थमुद्यताः परित्यक्तपृत्वसंयोगाः—मादुपितृकलन्त्रपुत्रस्त्वचन्द्र्याः आर्यमार्गमसम्प्राप्ताः, इति पूर्वोक्तया नीत्या ते चत्वारोऽपि  
नास्तिकादयः पुरुषाः ‘नो हठव्वाए’ त्ति [नैहि] रसुखवगाजो भवन्ति तथा ‘नो पाराए’ त्ति अपम्राप्तत्वादार्थमार्गस्य  
सर्वोपाधिशुद्धय प्रशुणमोक्षपद्विलक्षण न सासारपारगमिनो भवन्ति । न च परलोके शुभ[ सुख ]माजो भवन्तीति,  
किन्तवन्तराल एव—गृहवासार्यमार्गयोमेऽप्यवर्तिन एव कामभोगेषु ‘विषणाः’ अह्युपएवा, दुर्पारपक्षमप्ता इव करिणो  
विपीदन्तीति स्थितम् । उक्ताः परतीर्थिकाः, याम्ब्रत लोकोत्तर रुक्षवृत्ति शिक्षुं पञ्चमं पुरुषाजातमविक्त्याह—

से वेमि पाईणं चाऽ० ४ संतेगतिया मणुस्सा भवन्ति, तं जहा-आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चा-  
गोया वेगे तीयागोया वेगे हस्समंता वेगे सुवक्त्रा वेगे दुरुक्ता वेगे सुरुक्ता वेगे दुरुक्ता

॥ २१ ॥

वेगे × तेसि च णं खेत्वत्थूणि परिगाहियाणि भवन्ति, तं जहा—अपयरा वा भुजयरा वा ×, तेसि  
 च णं जणजाणवयाद् परिगाहियाद् भवन्ति, तं जहा—अपयरा वा भुजयरा वा, तहयगरोहि कुलोहि  
 आग्रम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुटिता संतो वि एगे णायओ [अणायओ] य उवगरण  
 च विष्पजहाय भिक्खायरियाए समुटिता, असतो वा [वि] णायओ य उवगरण  
 च विष्पजहाय भिक्खायरियाए समुटिता, [ जे ते सतोः वा असतो वा णायओ य अणायओ य  
 उवगरणं च विष्पजहाय भिक्खायरियाए समुटिता ] पुब्वेच तेहि णायं भवति, तं जहा—

व्याख्या—यादुकामभोगेष्व(ना)सक्तः सचन्तुरा नावसीदति पश्चवरपुण्डरीकोद्धरणाय च समथौ भवति तदेतदहं ब्रचीमि-  
 प्राचीनादिकासन्यतरां दिशमुहिद्य एके केचन मनुष्यः सन्ति, आर्याऽनार्यः उच्चैर्गीत्राः नीचैर्गीत्राः \* कायचन्तः' प्रांशुवः  
 'इस्वाः' वामनाः \* सुवण्णः दुर्वण्णः सुरूपाः कुरुपाः, एके केचन कर्मपरवशा भवन्ति, तेषा च क्षेत्राणि धास्तूनि-[ गृहाणि ]

× × नास्तेतच्छन्तरंतो मूलपाठः चधुतिकमुद्वित्रपतिष्ठ, वृत्तिस्तु विहिता वृत्तिक्षत्पृष्ठैः ।  
 \* एततच्छन्तरंतो वृत्तिपाठः “ कुरुपः ” इत्यतोऽनन्तरमस्ति सर्वास्वपि दीपिकाप्रतिष्ठु, परं सूत्रातु सारतो युज्यते ऽन्नवातो-  
 ऽन्न नियोजितः ।

खातोल्लिक्ष्मा[ दी]नि परिगृहीतानि भवन्ति, तान्येव चिशिनाइ—अलपतराणि स्तोक[ ? प्रभूत ]तराणि वा भवन्ति, तेपसेव जन-  
[ जान ]पदा: परिगृहीता भवन्ति, तेऽपवतरा: प्रभूतरा वा भवेषुस्तथा तेषु चात्तर्यादिविशेषणचिशिएषु तथाप्रकारेषु  
कुलेष्वागमय एवम्भूतानि गृहाणि गत्वा, तथाप्रकारेषु कुलेषु वा आगमय—जन्म लड़वा अभिभूय च विषयकपाणादीन् परी-  
पदोपमग्निं वा सम्यग्गुह्यानेतोत्थाय—प्रवद्यां गृहीत्वा एके केचन तथाविषयस्वरूपान्तो मिक्षाचर्याणां समुत्थितास्तथा ‘ननो’  
विद्यमानानपि वा ‘एके’, केचन महामन्त्रोपेता: ‘ज्ञातीन्’ स्वजनान् ‘अज्ञातीन्’, परिज ]नास्तयोपकरणं च—  
कामभोगाहं बनधान्यहिरण्यादिकं विविधं प्रकैर्णा ‘हित्वा’ लक्ष्यता मिक्षाचर्याणां समुत्थिताः ! अननो वा ज्ञाती(नज्ञाती)-  
उपकरणं च विप्रहाय मिक्षाचर्यामेके केचनापगतस्वजननविषयाः समुत्थिताः ! ये ते पूर्वोक्तविशेषणचिशिष्टा मिक्षाचर्यामा-  
मभुव्यताः ‘पूर्वमेव’ प्रवद्याप्रदणकाल एव तेरेतत् ज्ञातं भवति, तथाया—

इह खलु पुरिसे अन्नमन्त्रं ममट्टाए एवं विष्पडिवेदेति, तं जहा—खेतं मे वत्थु मे हिरण्यं  
मे सुवन्नं मे धनं मे धनं मे कंसं मे दूसं मे, विपुलधणकणरयणमणीतियसंख्वासलप्पवाल-  
रत्तरयणसंतसारसावतेयं मे, सदा मे रुद्वा मे गंधा मे फासा मे, एते खलु सम कामभोगा  
अहं खलु एतोर्सि । से मेहाचीं पुबामेव अप्पणो एवं समाभिजाणोजा, तं जहा—  
न्यास्य।—इह जगति, खलु—वर्चिष्ठालक्ष्मा, अन्यदन्यदस्तूदिष्य ममैवद्वोगाय मविष्यतीत्येवमसो प्रबलयां प्रतिपक्षः ॥ २२ ॥

द्वितीये  
शु०  
प्राणिनो-  
श्राणरवं-  
कामभोगैः॥

प्रविवाजिषुर्वा॑ ' प्रवेदयति ' जानाति, यथा-क्षेत्रं ' चास्तु ' गृहं हिरण्यं सुवर्णं धनं धान्यं कौस्यं दृष्ट्यं [तथा] विपुलधनकर्तक-  
रत्नगणिमौक्तिकशङ्खचिलाप्रवालरक्षत्नादिकं सत्सारं ' स्वापतेयं ' दृव्यजातं सर्वं मे, तत् ' मे, समोपभीगाय  
प्रविष्यति । तथा शब्दाः॒ स्वपाणि गत्याः॒ इति॑ स्वपर्णः॒ एते॑ सर्वे॑ खलु॑ मे कामभीगाय भविष्यति, अहमप्येषा योगक्षेमार्थं  
प्रमविष्यामि, इत्येवं सम्प्रधार्यं पूर्वमेवास्मान्विजानीया-देवं पर्यालोचयेत्यथा—

इह खलु॑ मम अन्नयरे [ दुक्खे ] रोगात्मके समुत्पज्जेजा॑ अणिटु॑ अकंते अपिष्ट॑ असुभे॑ अम-  
ण्वे॑ अमणामे॑ दुक्खेणो॑ सुहे॑ से॑ हंता, भयंतारो॑ ! कामभीगा॑ ! इमं मम अन्नतरं दुक्खं रोगायंकं प-  
रियाइयह, अणिटु॑ अकंतं जाव दुक्खं पो॑ सुहं, ताऽहं दुक्खामि॑ वा सोयामि॑ वा जूरामि॑ वा  
तिपामि॑ वा पीडामि॑ वा परितपामि॑ वा इमाओ॑ मं अन्नयराओ॑ दुखाओ॑ रोगात्मकाओ॑ परिमोयह,  
अणिटुओ॑ जाव अमणामाओ॑ दुक्खाओ॑, णो॑ सुहाओ॑, एवं नो॑ लङ्घपुर्वं भवति ।  
व्याख्या—‘इह’ संसारे, स्वल्बवधारणे । ‘इह’ मतुऽयभवे॑ ममान्यतरहःख-शिरोवेदनादिकं ‘आतङ्को॑’ वा आशु-  
जीवितव्यपहारी शुलादिकः॑ समुत्पद्यते॑ । कीदृशः॑ ? अनिष्टः॑ अकान्तः॑ अप्रियः॑ अशुभः॑ अमनोऽः॑ अवनामः॑ दुःखः॑, दुःख-  
हेतुत्वात्॑ ‘णो॑ सुहे॑’ सुखलेश्वनाप्यस्पृष्टः॑, एवंविषः॑ आतङ्क आयाति॑ तदा कामभीगान्॑ प्रत्येवं वर्त्ति, यथा—‘हंत’ इति॑ खेदं,  
भयान्नातारो॑ युग्मं क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णघनघान्यादिकाः॑ परिग्रहविशेषाः॑, तथा शब्दादयो॑ वा विषयाः॑, हे॑ म[ग]चन्तः॑ !

कामभोगाः ! युं मया पालिताः परिगृहीताः [श], अतो युयमपीदं दुःखं रोगात्कं ‘परियाहयह’ ति विभागशः परिगृहीत युं, अत्यन्तपीडयोदिशः पुनस्तदेव दुःखं रोगात्कं च विशेषणदारेणोचारयति—[अनिट्] अमान्तमप्रियमशुभं, याचदमनोद्धुःखमेव, ततोऽशुभमित्येवमधुतं ममोत्पचं, युं विमजत, अहमतीव ‘दुःखाभि’ दुःखित इत्यादि पूर्वन्त्रेयं, हल्यतो [ऽमुष्मान्] मामन्यतरादुःखादोगादा प्रतिमोचयत । अनिष्टादित्यादि विशेषणानि पूर्वद्वयाल्येयानि, प्रथमं प्रथमान्तरानि, पुनर्द्वितीयान्तरानि, साम्रांतं पञ्चमयान्तरानि । एवं तेन दुःखोद्धिनेन प्रतिपादितं पर ज्ञेतल्लङ्घयुधं भवति, न हि ते क्षेत्रादयः परिग्रहविशेषाः नापि शब्दादयः कामभोगास्तं दुःखितं दुःखादिमोचयन्तीत्येवदेव लेशतो दर्शयति—

द्वितीये  
शुभं  
केनाय-  
ग्रामात्म-  
कमोदया-  
गतसुख-  
दुःखस्य ।

इह खलु कामभोगा नो ताणाए वा[ नो ]सरणाए वा, पुरिसे वा एगया पुर्वि कामभोगे विष्प-  
जहाति, कामभोगा वा एगया तं पुरिसं विष्पजहाति, अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमांसि, से किमंग पुण वर्णं अन्नमत्त्रोहि कामभोगेहि मुच्छामो इति संखाए एं वर्णं च कामभोगे विष्पजहिस्तामो ।

च्याख्या—इह खलिवमे कामगोगा अत्यन्तमम्यस्ता न ‘तस्य’ दुःखितस्य त्राणाय शरणाय[ वा ] भवन्ति । सुलालितानामपि कामभोगानां पर्यवसानं दर्शयति—‘पुरो वा’ प्राणी ‘एकदा’ गोगोत्पत्तिकाले जराजीर्णकाले वा अन्यस्मिन्वा गजाद्युपद्रवे ‘तान्’ कामभोगान् परित्यजति स वा प्राणी द्रव्याद्यमावै तेः कामभोगे स्तप्यउत्ते । स च प्राणेवमव्याखयति—इसे कामभोगा अन्ये तेम्यशाहमन्यः, तदेवमेतेपु परभूतेषु किमिति वर्णं मूर्च्छां कुर्मः ? एवं केचन महापुरुषः ॥ २३ ॥

‘परिसंख्याय’ ज्ञात्वा [ये] “काममोगाद् [वर्णं] ‘विप्रजहिष्याम्’स्त्वक्षयामः” इत्येवमद्यवसायिनो भवन्ति—ते महापुरुषा ज्ञेयाः । पुनरपरं वैराग्योपचिकारणमाह—

से मेहाची जाणेज्ञा वाहिंरंगमेयं, इणमेव उच्चणीयतरागं, तं जहा—माता मे पिता मे भाया मे भइणी मे भजा मे पुता मे धूया मे पेसा मे नता मे सुपहा मे सुही मे [पिया मे सहा मे] सयणसंगंथसंस्थुया मे, एते खलु मम नायओ अहमाचि एतोस्मि । एवं से मेहाची पुवामेव अपपणा एवं समभिजागिज्ञा ।

न्याख्या—एते खलु क्षेत्रवास्तुप्रभृतयः परिग्रहविशेषाः शब्दादयश्च विषयाः दुःखपरित्राणाय न भवन्तीत्युक्तं, तदेते बाह्या विद्यन्ते, परमेते मागपित्रादयो ज्ञातयः पूर्वपरस्तस्तुता एते ममोपकाराय भविष्यन्तीत्यहमपि [ए]तेषां स्वानभोजनादिनोपकरिष्यामीत्येव स मेघाची पूर्वमेवात्मना एवं समभिजानीयादित्येवं पर्यालोचयेत्—कलिपत्रवानिति । एतदद्यवसायी चासौ स्यादिति दर्शयितुमाह—

इह खलु मम अव्यये दुक्खे रोगायंके समुपज्जेज्ञा अणिटुं जाव दुक्खे, फो सुहे, से हंता भयंतारो य नायओ य इमं मम अव्यये दुक्खे रोगायंकं परिचादित्यह, अणिटुं जाव फो सुहं,

ताऽहं दुखामि वा सोयामि वा जाव परितपामि वा, इमाओ मं अन्नयराओ [दुकखाओ] रोगायंकाओ  
परिमोएह अणिट्टाओ जाव णो सुहाओ, एवामेव नो लङ्घपुर्वं भवह । तेसि वा वि भयंताराणं मम  
पाययाणं अन्नयरे दुकखे रोगांतके समुप्पज्जेजा अणिट्टे जाव णो सुहे, से हंता अहमेतेसि भयंताराणं  
पाययाणं इमं अन्नयरं दुकखं रोगांतकं परियाइयामि अणिट्टं जाव णो सुहे, मा मे दुकखंतु वा [ जाव  
मा मे परितपंतु वा ], इमाओ[णं] अन्नयराओ दुकखाओ रोगायंकाओ परिमोएमि अणिट्टाओ जाव  
णो सुहाओ । एवामेव नो लङ्घपुर्वं भवति—अन्नस्स दुकखं अद्वो नो परियादियति अन्नेण क(डं)तं  
अद्वो नो पडिसंवेदेति, पत्तेयं जायति पत्तेयं मरति पत्तेयं चयति पत्तेयं झांझा  
पत्तेयं सञ्चा पत्तेयं मञ्चा, एवं विन्नु चेदणा, इति खलु नातिसंजोगा णो ताणाए वा स्वरणाए वा,  
पुरिसे य एगया पुर्वि नातिसंजोए विष्पजहति नातिसंजोगा वा एगया पुर्वि पुरिसं विष्पजहंति ।  
अद्वे खलु नातिसंजोगा अद्वो अहमेतेसि, किमंग युण वर्यं अन्नमद्वेहं णातिसंगाहे मुच्छामो ?

द्वितीय  
भू-  
केनाय-  
ग्रथत्वं  
स्वकृतकर्म-  
फलस्य ।

इति संखाएः एवं वर्यं नातिसंज्ञोगं विप्पज्ञहिस्सामो इति \* ।

व्याख्या—‘इह’ अस्मिन् मैव मम चर्तमानस्य अनिष्टादिविशेषणविशिष्टो दुःखातङ्कः समुपप्रयेत्, ततोऽस्मी तदुःख-  
दुःखितो जातीनेवमभ्यर्थयेत्, तथ्या—इहं समान्यतरं दुःखातङ्कं समुपतप्तं परिगृहीत यूयं, अहमनेन दुःखातङ्के न पीडि-  
तोऽस्मि, अतोऽसुधमान्मां परिमोचयत् यूयमिति । न चैरत्तेन दुःखितेन लब्धपूर्वं भवति, न हि ते ज्ञातयस्ते दुःखान्मोचयि-  
तुमलमिति आवः, नाप्यस्मी तेषां दुःखमोचनायालमिति । ‘तेस्मि चा वि भयंताराणं मम नाययाणं’मित्यादि-  
सर्वं प्रावद्योजनीयं, यावदेवं नो लब्धपूर्वं भवतीति । किमित्येवं नो लब्धपूर्वं भवतीत्याह—‘अन्नस्स दुःखं नो अन्नो  
परिग्रादियहृ’इत्यादि, सर्वेष्यैव संसारोदरविवरवर्त्तिनोऽसुमतः स्वकृतकम्मोदियाद्यदुःखमुपप्रयते तदन्यस्य दुःखमन्यो माता-  
पिग्रादिको न पर्यादेते तस्मात्पुश्चादेहुःखेनात्यन्तं पीडिताः स्वजना नापि तददुःखमात्मनि कर्तुमलं । किमित्येवमाशक्याह—  
‘अन्नेण कठं अन्नो नो पडिसंवेदेति’ अन्नेन जननुना मोहवशेन यत्कृतं कर्म तदन्यः प्राणी नो प्रतिसंवेदयति—नात्रुप्रवाति,  
तदनुभवने यकृतागमकृतनायां॒ स्यातां॒, न चेमौ युक्तिसंगतौ, अतो यदेन कृतं तत्स एवात्मवति, यसमात्सवकृतरूपं फलेभ्यः  
जननुवस्तसमावृ ‘पतेयं जायति पतेयं सरति’ इत्यादि, सर्वोऽपि प्राणी प्रत्येकं जायते प्रत्येकं च प्रियते, यतः—“एकस्य  
जन्मस्तरणे, गतयश्च शुभाशुभा भवावत्ते । तस्मादाकालिकहित—सेकेनेवात्मनः कार्यम् ॥ २ ॥” इति । तथा

\* नास्त्रेप शब्दो मुद्रितात्रु च ब्रूत्तिकप्रतिपु दर्पकुलीयदीपिकायामपि ।

प्रत्येकं [ क्षेत्रवास्तु ] हिरण्यसुचणीदिकं परिग्रहं शब्दादीशं विपयान्मातापिवृष्टकलन्त्रादिकं [ च ] त्यजति । प्रत्येकमुपपथते, प्रत्येकं ‘ ऊँझा ’, कलहः कपायाश्च प्रत्येकं मन्द-तीवतया समुत्पथन्ते । तथा प्रत्येकं ‘ सञ्ज्ञा ’, अर्थपरिच्छित्तिः, साऽपि मन्दम-द्विपिका-नदरपद्मदृतरमेदात्प्रत्येकमुपजायते । सर्वज्ञादारतस्तरतमयोगेन मतेन्यवस्थितत्वात् । तथा प्रत्येकं ‘ मननं ’ पर्यालोचनं तथा + प्रत्येकमेव सुखदःखातुमध्यः । उप[सं]जिघुक्षुराह—‘ हाति खलु नातिसंज्ञोगा नो ताणाए वा सरणाए वा ’ इति पूर्वोक्तप्रकारेण, यतो नान्येन कुतमन्यः प्रत्येकं [ च ] जातिजामरणादिकं, ततः स्वत्वमी ज्ञातिसंयोगाः संसारेऽत्यन्तपीडितस्य तदुद्धरणे न त्राणाय नापि त्राणाय । किमिति ? यतः पुरुष एकदा कीघोदयेन ज्ञातिसंयोगान्, विप्रजहाति । त्यजति स्वजना वा तदनाचारदर्शनतस्तं पुरुणं त्यजन्ति । तदेवं व्यवस्थिते एवं भावयेत्-खलवमी ज्ञातिसंयोगा मत्तो भिन्ना, एवयश्चाहमन्यः । ततः किमन्यै[स्वन्यै]ज्ञातिसंयोगेन्मूल्छां कुर्मः ? न तेषु मूल्छां क्रियमणा न्यायेन्येवं, संख्याय, ज्ञात्वा वयपुत्रपत्नैराग्या ज्ञातिसंयोगांस्त्यक्षयाम इत्येवं ये कुताध्यवसायिनस्ते ‘ निज्ञाः , पंडिताः , ते विदित-वेद्या भवन्तीति । साम्प्रतमन्येन प्रकारेण वैराग्योपत्तिकारणमाह—

से मेहादी जाणिजा चाहिरणमेयं, इणमेव उत्तरणीयतरागं, तंजहा—हत्था से पाया मे वाहा मे ऊरु मे उदरं मे सीसं मे आऊ मे बलं मे वणो मे तया मे छाया मे सोंयं मे चक्रघू मे घाणं मे

+ “ प्रत्येकमेव ‘ विष्णु ’ति विद्वान्, तथा ” इति वृहदइती ।

द्वितीये श्रुत० आधेऽध्य-  
यते त्राण-  
क्षमसंब-  
ज्ञातिस्व-  
जनादी-  
नाम् ।

॥ २५ ॥

जिभभा मे फासा मे ममातिजाति वयाओ पडिजूरति, तंजहा—आऊओ बलाओ चक्काओ तयाओ  
छायाओ सोयाओ जाव फासाओ, सुसंधिता संधी विसंधी हवंति । बलि[य]तरंगे गए भवति ।  
किएहा केसा पलिया भवंति । तंजहा—जंपि य इमं सरीरं उरालं आहरोवाचियं, एयंपि य  
अणुपुवेण विप्रजहियं भविस्मति । एयं संखाप् से भिक्खु भिक्खायरियाए समुट्टिए दुहओ  
लोंगं जाणेज्जा, [ तंजहा— ] जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव थावरा चेव ( सू. १३ ) ।

व्याख्या—स मेघानी एतद्वयमाणं जानीयात्, तद्यथा—बाह्यतरमेरज्जातिसम्बन्धनमिदं, इदमुपनीततरः—मासचतरं,  
शरीराचयवानां जासन्नतरत्वात् । तद्यथा—हस्तौ मे पादौ मे पञ्चगर्भसुक्कमालौ, नान्यस्य कम्यापीद्वावित्यादि । शीर्ष मे  
उदरं मे शीलं मे आयुम्मे वर्णबलत्वचालायाश्रोत्रचक्षुनासिकाजिहास्पर्णनेनिद्यमित्याद्यंगोपाङ्गाः सर्वेऽपि सुन्दरतराः,  
इत्येवं ‘ममाति’ ममी करोति, यादहृ मे न ताहृगन्यस्येति भावः । एतच्च हस्तपादादिकं स्पर्शनेनिद्यपर्यवसानं वयसः  
परिणामात्कालकुतावस्थाविशेषात् ‘परिजरह’ति परिजीर्यते—जीर्णतां याति, प्रतिक्षणं विशरारुतां याति । तस्मिंश्च  
प्रतिश्वर्णं विशीर्यति शरीरे प्रतिसमयं प्राणप्रेतस्माद्भृयते, तद्यथा—आयुषः पूर्वनिबद्धात्समयादिहान्या अपचीयते, आचीची-  
मरणेन प्रतिसमयं मरणाभ्युपगमात् । तथा बलादपचीयते, तथाहि—यैवनावस्थायाक्षयवमाने शरीरके प्रतिक्षणं शिथिली-

स्थानगडाहु  
संस्कृत-

दीपि का-  
निवार्तम् ।

भवत्सु सन्मिश्रन्वन्धेषु वलाद्वय अद्यते । तथा वण्डिपचक्त्वा पतोऽपचीयते । अत्र सनक्त्वा रचकिणो हृष्टान्ते वाच्यः । तथा नीर्थति शरीरे शोकादीनिदयाणि हीयन्ते । तथा च वयोहान्या ' सुमनिधतः ' सुवदः ' सन्धिः , जातिरुपं शादिको विमनिधर्मवति-विग[लि]तवन्धनो जायते । तथा वलितरहाफुलं मन्त्रितः शिरा( नाई )जालवेष्टिवसिं वपुलेग-ठङ्कवति । तथा रुणः केशः वयोहान्या धनला जायन्ते । तथो नयःपरिणामे मन्मतिरें भावयेत् , तयाहि-यदपीद शरीरं उदारशोमं विशिष्याहोपनितं एतदपि ममारदं प्रतिक्षणं निशीर्पमाणमायुः शये विप्रदातन्यं माविष्यतीये-तदत्तगम्य-संख्याय परित्यक्तसमस्तगृहश्रपञ्चो निहिकश्चनतापुपगम्य संप्रमधाकार्यं विशाचर्याणां समुत्तियतः सन् हि सारता-लोकं जानीयात् । तदेन लोकदेविष्ण्यं दर्शयति-‘ जीवा नेत्र अजीवा चेत् , तसा नेत्र थाविरा चेव ’ तन जीर्णः-प्राण-शारणलक्षणास्तद्विपरीता अजीवा वस्त्रास्तिकायादयः , तत्र भिषोरहिमाप्रसिद्धे जीवान् विमागेन दर्शयति-इह खलु जीवा अपि दिघा-क्रसाः स्थानराशः तेऽपि यद्यमवादरपर्याप्तप्रसादेन वहुषा द्रष्टव्याः । एतेषु चोपरि बहुधा ज्यापारः प्रनन्ते । अथ तदुपमदं कवयापारकुर्वन् दर्शयितुमाह—

इह खलु गारहया सारंभा सपरिगहा, संतेगतिया सप्तणा माहणा वि सारंभा सपरिगहा, जे इसे तसा थाविरा पाणा, ते सर्वं समारंभन्ति, अक्रेण वि समारंभन्ते समणुजाणन्ति । नयादया—इह खलु संसारे गृहस्थाः ‘ सारःमा: ’ जीवोपमदकारिणो रत्नन्ते सपरिग्रहाश्च वर्तन्ते, न केवलं गृहस्था

दितीषे  
श्रुत०  
आयोद्यय-  
यने  
संसारा-  
सारता-  
प्रदर्शनम् ।

॥ २६ ॥

एवं, अन्येऽपि श्रमणाः शाक्यादयः ब्राह्मणाश्च पचनशाचनाधातुमते: सारम्भाः सपरिग्रहाः एव—गृहिण एव, ततश्च ये इमे व्रसाः स्थावराश्च प्राणिनस्तान् स्वयं समारम्भन्ते, तदुपमर्दकं व्यापारं स्वत एव कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा अन्याश समारम्भन्ति, समारम्भं कुर्वतश्चान्यान् समुजानन्ति । तदेवं प्राणतिष्ठतुपदरूपं परिग्रहं मोगाङ्गभूत दर्शयितुमाह—  
इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्रहा, संतेगतिया समणा माहणा ॥ विज्य सारंभा सपरिग्रहा ॥  
य, जे इमे काममोगा सचिता वा अचिता वा, ते सर्यं परिगिणहन्ति, अद्रेण वि परिगिणहाविंति,  
अन्तं पि परिगिणहन्तं समणुजाणन्ति ।

व्याख्या—इह खलु जगति गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः, तथा श्रमणा ब्राह्मणा अपि केवत सारम्भाः सपरिग्रहाः, ते च किं कुर्वन्ति ? ये हमे काममोगाः सचिता अचिता वा भवेयुस्तदुपादानभूताश्चार्थस्ते काममोगार्थिनो गृहस्थादयः स्वत एव परिगृह्णन्ति, अन्येन च परिग्रह्यन्ति, अपरं च परिगृह्णन्तं समनुजानन्ते ।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्रहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्रहा,  
अहं खलु अणारंभे अपरिग्रहे, जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्रहा संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्रहा य, ऐतेसि चेव निस्साद् बंभच्वेचवासं वसिष्टसामो, कस्स णं तं हेउं ? जहा

पुर्वं तहा अवरं जहा अवरं तहा पुर्वं, अंजू एते अणुवरया अणुवट्टिया पुणरवि तारिसगा चेव । व्याख्या—इह जगति विद्यन्ते गृहस्थास्तथाविधाः श्रमणा ब्राह्मणाश्च सारम्भाः सपरिग्रहाः; इत्येवं ज्ञात्वा स मिथु-  
रेवमवधारेत्—अहमेवात्र खल्वत्तारम्भोऽपरिग्रहश्च, ये चामी गृहस्थादयः सारम्भादिगृणयुक्तास्तदेतत्रिश्रया—तदाश्रेयेण  
, ब्रह्मचर्यं' श्रामण्यमाचरित्यामः, अन्तरम्भा अपरिग्रहाः मन्त्रो धमर्माधारदेहप्रतिपालनार्थमाहारादिकृते सारम्भसपरिग्रह-  
गृहस्थनिश्रया प्रवद्यां करिष्याम इति । ननु च यदि तत्त्विश्रया विहर्त्यन्यं किमर्थं पुनस्ते त्यज्यते ? इति जाताशक्तः  
कर्मित्वृच्छति—‘कस्य हेतोः’ केन कारणेन तदेतद्वहस्थश्रमणब्राह्मणत्यजननमिहितमिति, आचार्योऽपि विदिताभिमाय  
उत्तरं ददाति—“जहा पुर्वं तहा अवरं” यथा पूर्वं—पादो सारम्भप्रिग्रहत्वं तेषां तथा ‘पश्चादपि’ सर्वकालमपि  
गृहस्थाः सारम्भादिदोपद्याः, श्रमणाश्च केचन यथा ‘पूर्वं’, गृहस्थभावे सारम्भाः सपरिग्रहास्तथा ‘[अ]परस्मिन्’  
प्रवद्याकाले तथाविधा एव सारम्भाः सपरिग्रहाः प्रवर्तन्ते, तथा ‘जहा अवरं तहा पुर्वं’ यथा ‘अपरं’ अपरस्मिन्  
प्रवद्याप्रतिपत्तिकाले तथा पूर्वमपि गृहस्थभावादावपीति, यदि वा कस्य हेतोस्तद्वहस्थाद्याश्रयां क्रियते ? यतिनेत्याह—  
यथा ‘पूर्वं’, प्रवद्यारम्भकाले सर्वमेव भिक्षादिकं गृहस्थायत्वं वर्तते तथा पश्चादपि, अतः कथं तु नामानवया बृत्तिभवि-  
षयतीत्यतः साधुभिरत्तारम्भः सारम्भाश्रयां विषेषम् । यथा चैते गृहस्थादयः सारम्भाः सपरिग्रहाश्च तथा प्रत्यक्षेणौप-  
लभ्यन्त इति दर्शयितुमाह—‘अंजू एते अणुवरया अणुवट्टिया पुणरवि तारिसगा चेव’, अंजू इति व्यक्तं—स्पष्टमेत-  
देते गृहस्थादयोऽयच्चा ‘अंजू’, इति प्रगुणेन न्यायेन सावधानुषानेभय ‘अउपरता’ अनिहृता: परिग्रहारम्भाच्च सत्संयमा-

दितीये श्रुतो  
आघोऽस्य-  
यनेऽस्य-  
दर्शनीना-  
सारम्भ-  
सपरिग्रह-  
त्वम् ।

तुष्टनेन वा ‘अनुपस्थिताः’ सम्युग्मयानमकृतवन्तो चेऽपि कथञ्चिद्दर्मकरणायोहित्यास्तेष्युद्दिष्टमोजित्वात्सावद्यातुष्टान-  
परत्वाच गुहस्थकल्पा एवेति । [ साम्प्रतमुपसंहरति— ]

जे खलु गारतथा सारंभा सपरिग्रहा, संतेगदया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्रहा,  
दुद्दतो पाचाङ्गं कुब्बंति, इति संखाए दोहि वि अंतोहि आदिस्तमाणो इति भिक्खू रीएजा ।  
व्याख्या—ये हमे गुहस्थादयस्ते द्विधाऽपि सारम्भसपरिग्रहत्वाभ्यामुभाभ्यामपि पापान्युपाददते, यदि वा शाश-  
देषाभ्यां यदि वा गुहस्थप्रवद्यापर्यायाभ्या उभाभ्यां पापानि कुवैत इत्येवं ‘संख्याय’, ज्ञात्वा द्वयोरर्यन्तयो[रामभ-  
परिग्रहयो] रागदेवयोर्वा अहरयमानो भिक्षुरनवद्याहरमोजी सतसंयमातुष्टाने ‘रीयेत’ प्रवचेत ।  
से वेमि— पाङ्गों वा ४ जाव एवं से परिनायकम्मे, एवं से वियय [ववेय]कम्मे । एवं से  
वियंतकरः भवतीति मरवत्वायं ( सु. १४ )

व्याख्या—‘से वेमि’ तदहमधिकृतमेवार्थं विशेषितरं सोपपत्तिकं ब्रवीमि—प्रज्ञापकापेक्षया प्रव्यादिकाया दिशो-  
इन्यतरस्याः समाधातः—स भिक्षुद्देयोरर्यन्तयोरहयमानतया सतसंयमे रीयमाणः सन्नेवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण ज्ञप्रसिद्धया  
ज्ञात्वा प्रत्याहयानपरिज्ञया च प्रत्याहयाय+ कर्मणामन्तरकुद्धवति । अनेन प्रकारेण संसारस्याऽन्यन्ततकुद्धवतीत्येततीर्थ-

+ “परिज्ञातकमां भवति, पुनरपि ‘एवमिति परिज्ञातकमंतवादृव्यपेतकमां भवति—अपूर्वस्याबन्धको भवतीत्यर्थः, पुनरेवमित्य-

करणधेराख्यातमिति प्राणिवधप्रवृत्तस्य न कर्मपाणमो भवति, यतस्तप्रवृत्तमयात्मौपम्बेन प्राणीनां पीडोपद्यते, तथा  
च कर्मपन्थः, इत्येवं सर्वे मनस्याधायाह—

तत्थ खलु भगवया छन्नीवनिकाया हेऽपवत्ता, तंजहा—पुढविका[ए]इया जाव तसका[ए]इया  
से जहा नामए ममं अस्सायं दंडेण वा अट्टीण वा मुट्टीण वा लेढुण वा कवालेण वा आउडिङ्ज-  
माणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा परियाविज्जमाणस्स वा किलि-  
[किलामि]ज माणस्स वा उद्दाविज्जमाणस्स वा जाव लोमुकखणमातमवि हिंसाकारणं दुःखं भयं  
पडिसंवेषमि, इच्चेवं जाणं सबे जीवा सबे भूया सबे पाणा सबे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा  
आउडिज्जमाणा + वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा परिता विज्जमाणा वा किला-

बन्धकतया योगनिरोधोपायतः × × × विशेषण " इति बृहदृद्धतो ।

× अर्थसङ्कल्पा : औहविज्ज० , रस्येवं पाठो युद्यत इत्येष ममाभिमायः ।

+ यथायेतेषु सप्तस्त्रपि पदेषु ' माणाण वा ' इत्येवमेवोपलःयते पाठः सर्वास्त्रपि दीपिकाप्रतिष्ठु. किन्तु बुद्धितामु सद्बृति-  
कप्रतिष्ठु ' माणा वा ' इत्येवमस्ति, अर्थसङ्कल्पा तु ' माणाण वा ' इत्येतदेव युक्तमाभाति ।

द्वितीये  
श्रुतः—  
आद्युत्तम्-

यते कर्म-  
बन्धहेतुत्वं  
पड्जीव-  
निकाया-  
नाम् ।

॥ २८ ॥

मिजमाणा वा उद्दिजमाणा वा जाव लोमुक्खणमायमवि हिंसाकारगं दुःखं भयं पाडिसंवेदेति,  
एवं नन्द्या सबे पाणा न हंतवा न अज्ञावेयवा न परियावेयवा न उवद्वेयवा । से बेमि—  
न्याख्या—‘त्रे’ति कर्मचन्द्रप्रस्तावे खलु भगवता पहुँचनिकाया हेतुत्वेनोपन्यसताः, पृथिवीकायो यावत्त्रसकाय  
हुति । तेषां च पीड्यमानानां यथा दुःखमुत्पद्यते तथा स्वसंविचित्तिसिद्धेन वृष्टान्तेन दश्यितुमाह—यथा नाम मम ‘असातं’  
दुःखमुत्पद्यते तथा तेषामपीति । रघुथा—दण्डेन असृष्टा मुष्टिना ‘लेलुना’ लोष्टेन कपालेन ‘आकोट्यमानस्य’ सङ्को  
च्यमानस्य हन्यमानस्य तज्ज्येमानस्य, ताङ्ग्यमानस्य कुड्यादावांभिष्वातादिना, परिताप्यमानस्य तथा‘पद्राव्यमानस्य’  
मार्यमाणस्य यावल्लोगोत्खननमात्रमपि हिंसाकरं दुःखं भयं च यन्मयि क्रियते तत्सर्वमहं संवेदयामीत्येवं जानीहि । तथा  
सर्वे प्राणा जीवा भूतानि सत्त्वा, एतेषां दण्डादिनाऽकुड्यमानानां यावल्लोगोत्खननमात्रमपि दुःखं हिंसाकरं भयं चोत्पन्नं  
तेऽपि प्राणिनः सर्वेऽपि ‘प्रतिसंवेदयन्ति’ साक्षाददुभवन्तीत्येवमात्मोपमया पीड्यमानानां जननूनां यतो दुःखपुत्पद्यते, अतः  
सर्वेऽपि प्राणिनो न हन्तव्या न वयापादपितत्व्या ‘न आज्ञापियतत्व्या’ न बलात्कारेण व्यापारे प्रयोक्तव्यास्तथा न परि-  
ग्राह्या न परिगतपितत्व्याः नापदावितत्व्याः । सोऽहं ब्रवीमि एतत्र स्वमनीषिक्या, किन्तु सर्वतीर्थकराङ्गेयेति[ दर्शयति ]—  
जो[ य ] अर्तीया जो[ य ] पड्डपत्रा जे[ य ]आगमिस्ता आरिहंता भगवंतो, ते सबे एवमाइ-  
क्षवांति एवं भासांति एवं पद्मविंति एवं परलूर्विंति—सबे पाणा जाव सबे सत्ता ण हंतवा जाव ण उवद-

वेयवा, एस धम्मे धुवे गितिए सासए समेच्च लोग खेयद्वोहि पवेदिते ।

उयाह्या—‘जे[य] अतीया’ इत्यादि सर्वं सुगमं । नवरम्यं धर्मः प्राणिरक्षणलक्षणो ध्रुवो ‘नित्यः’ अवश्यभावी-  
शाश्वतः । इत्येपं चाभिममेत्य-ज्ञानेतावलोक्य चतुर्दशरङ्गात्मक लोकं ‘खेदहैं’स्त्रीर्थकङ्किः प्रवेदितः । एवं ज्ञात्वा स  
मिश्रविदितवेद्यो विरतः प्राणातिपाताद्याचत्प्रिश्रादिति, एतदेव दर्शयितुमाह—

एवं से भिक्खू विरए पाणातिवायाओ जाव विरते परिगगहाओ, नो खलु दंतपक्खालणेण दंते  
पक्खालेज्जाणो अंजणेण अंजेज्जाणो वमणं णो धूवणो णो तं पारियाविएज्जा । से भिक्खू अकिरिए  
अद्भुसए अकोहे अमाणे अमाए अलोभे उवसंते पारिनिठुडे, नो आसंसं पुरओ कुज्जा ।

उयाह्या—तथाऽपरिश्राहः साधुनितिकञ्चनः सन् नो दन्तप्रथालनेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, नो अज्ञानं विभूपार्थमध्योर्द-  
द्यात्, नो चमनविरेचनादिकाः किया: कुर्यात्, न शरीरस्य वस्त्राणां वा धूपनं कुर्यात्, न कासाद्यपत्तयार्थं धूमं योगवाति-  
निष्पादितमापिवेदिति । एवं गुणव्यवस्थितो भिष्ठुरक्रियः, सावद्यक्रियाराहितः संवृत्तमकरतया साम्परायिकमर्चन्धकः,  
कुत एवम्भूतो ? यतः प्राणिना ‘मल्लपको’ऽहिंसकः, एवमक्रोधोऽमानोऽमायी अलोभः कपायोपशमाचोपशान्तः ‘परिनिरूपः’  
समाधिवान् । एवमेहिककामभोगेभ्यो निवृच्छः पारलौकिकेभ्योऽपि विरत इति दर्शयति—‘ नो आसंसं पुरओ कुज्जा ’ नो  
तेवाशंसां-ममातेन तपसा जन्मान्तरे काममोगाचामिर्मित्यतीवभूतामाशंसां न पुरतः कुर्यात् । इत्येतदेव दर्शयति—

इमेण मे दिदुण वा सुएण वा मएण वा चिन्नाएण वा इमेण वा सुचरियतवानियमबंभवेर-  
वासेण इमेण वा जायामायावासेण धममेण इओ चुए पिचा देवे सिया, कामभोगण वसवती  
सिद्धे वा अदुक्खमसुभे ।

व्याख्या—( + एतज्जन्मकृतस्य तपसः फलं आमषैषड्यादिलिघसप्राप्त्या वृष्टि । ) अनेन तपोनियमब्रह्मचर्यादि  
वर्मकरणीयेन इतो मृतो भवन्तरे देवो भूयासं द्वंविषामाशंसां न करोति, अशेषकर्मवियुतो वा सिद्धं ‘अदुःख अशुभं’  
शुभाशुभकर्मप्रकृत्यपेक्षया, एवावता मध्यस्थः स्यामहं इत्येवंविषामाशंसां न करोति । तदकरणे कारणमाह—  
एतथ वि सिया एतथ वि नो सिया । से भिक्खु सद्देहि अमुचिछुए रुद्वेहि\* अमुचिछुए रसेहि अमु-

+ एतरिमत्राद्वैचन्द्राकारचिन्हमध्यवर्तिपाठस्थाने लिदेक्ष्यमाणः पाठोऽस्ति वृहद्वृत्ती—“ इमेण मे—इत्यादि, अस्मिन्नेव जन्मन्य-  
मुना विशिष्टप्रश्नरणफलेन दृष्टेनामषैषड्यादिना तथा पारलौकिकेन च श्रुतेनार्द्धकथमिलवृहदतादीनां विशिष्टप्रश्नरणफलेन, तथा  
‘मएण च’ ति ‘मन ज्ञाने’ जातिस्मरणादिना ज्ञानेन तथाऽऽचार्यादैः सकाशाद्विज्ञानेन—अचरणेन ममापि चिशिष्टं भविष्यती-  
त्वेवं नाशंसां विद्यात् । ”

\* \*\*\* यद्येवतचिन्हान्तर्गतः सत्रपाठः सद्वृत्तिकालु मुद्रितप्रतिषु “गंधेहि अमुचिछुए रसेहि अमुचिछुए” इत्येवं व्यत्ययेनादित,

स्वयगडाङ्ग-  
खं दीपिका-  
निवतम् ।

॥ ३० ॥

चित्तपूर्णं धोहि अमुचित्पृष्ठे कासोहि अमुचित्पृष्ठे फासोहि अमुचित्पृष्ठे कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेजाओ दोसाओ कलहाओ अङ्गभवाणाओ पेसुत्राओ परपरिवायाओ अरतीओ [ अरती ] रतीओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्टिए पडिविरए से भिक्खु ।

नयाख्या—अनेन विशिष्टप्रसादपि स्थारै कदाचित्व सिद्धिः कदाचित्व स्थादपि । अतः आंशसां न कुर्यात् । तदेवमैहि कार्थमागुणिमकार्थं च कीर्तिवर्णश्लोकाद्यर्थं च तपो न विधेयं—न कुर्यादिति । कथमभूतो मिष्ठुः ? शब्दे रूपे रसे गन्धे स्पर्शे अमूर्छितः । कोषमानमायालोभं यावनिमध्यादर्शनशरदं, एवमष्टादश पापस्थानकेऽप्यो विरतः । तथा स मिष्ठुर्भवति यो महतः कर्मपादानानादुपशान्तः सन् संयमे चोपस्थितः सर्वपापेष्यश्च विरतः प्रतिविरत इति । कर्मोपादानानादिरमणं साक्षादर्शयति—जे इमे तसा थावरा पाणा भवन्ति ते णो सर्यं समारंभावति । अत्र समारंभते विन समषुज्जाणति, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्टिए पडिविरए [ से भिक्खु ] ।

नयाख्या—इत्यादि सुगमम् । एवं महतः कर्मोपादानानादुपशान्तः प्रतिविरतो भवति मिष्ठुरिति । साम्प्रतं कामभाग-पर दीपिकाप्रतिपु सर्वोस्वयेत्कसेणैवास्ति, वृत्तिकारेणापि “ एवं रूपरसग्रन्थपश्चेऽवपि वाच्यमित्य ” नेत वाक्येनतेदेव क्रमः स्वीकृतोऽरित ।

द्वितीये  
श्रुतो  
आवैष्य-  
यने काम-  
मोग-  
निवृत्ति  
मिष्ठुरितम् ।

॥ ३० ॥

निवृत्तिमध्यक्षत्याऽह—

जे इमे कामभोगा सचिता वा अचिता वा, ते नो सर्यं परिगिहावेति अन्नं परिगिहंतं न समणुजाणाइ, इति से महतो आयाणा औ उवसंते उवाट्टिए पडिविरते से भिक्खु। न्याख्या—ये केचन काम(१)भोगाश्च ते सचिता वा अचिता वा भवेयुस्तांश्च न स्वतो गृहीयानायन्येन ग्राहयेन्नापरं समनुजानीयादित्येवं कर्म्मोपादानाद्विरतो भिक्षुभंवतीति ।

जंपि य इमं संपराहयं कर्म्मं कज्जलति, नो तं सर्यं करोति नेवद्वेणं कारवेति अन्नांपि करंतं नाण्जाणाति, इति से महतो आदाणा औ उवसंते उवाट्टिए पडिविरते (+ भवति भिक्खु) । न्याख्या—ये न कर्म्मणा संसारे पर्यटनमनन्तरयो जायते तत्साम्परायिकं कर्म्म, तत्त्र प्रदेशनिन्दवमात्सर्यान्तरायाशातनोपषार्वेभ्यते, तत्कर्मं तत्कारणं वा न कृतकारितातुमतिभिः करोति स भिक्षुरभिवीयते । साम्प्रतं भिक्षाविशुद्धिमविकृत्याऽह—से भिक्खु जाणेज्ञा असर्णं ४ वा आर्सिस X परिगिहस्स पाणाइ भूताइ जीवाइ सत्ताइ समारंभं समुद्दिसस कर्तिं पामिच्चं अच्छेज्ञं अणिसिंदुं अभिहडं आहडुहेसियं तं चे-

+ नास्येतच्चन्द्रन्तरंतः शब्दः सघृतिकाचु मुद्रितप्रतिषु !

X आहारदानप्रतिक्षया यदिवाऽप्रिमत् पर्याये—साधुपर्याये व्यवस्थितं साधुं साधमिकं समुद्दिश्य । इति द्विं २ ।

तियं स्तिता, तं० नो सयं भुंजइ नेवक्षेणं भुंजावेति अन्वंपि भुंजंतं नो समणुजाणाइ इति से महतो  
आयाणांओ उवसंते उवाटिए पलिविरते से भिक्खु—  
व्याख्या—सुगमम् । यो भिक्षुरेवभूतमाहारं +द्वाचचारिश्वोषद्वं स्वयं न गृह्णाति न ग्राहयति गृह्णन्तं न समतुजानाति  
स भवति भिक्षुरिति । स भिक्षुः पुनरेवं जानीयात्—

विजाति तेस्मि परकमे जस्तस्तुए चेइयं सिया, तं जहा—अपणो से पुत्राणं धूयाणं सुणहाणं  
धातीणं नातीणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आदेसाणं पुढो पहेणाए सामासाए  
पातरासाए सञ्चिहिसंनिच्चए कज्जलति इह मेगोस्मि माणवाणं भोयणाए ।  
व्याख्या—विद्यते ‘तेषां’ गृहस्थानां ‘पराक्रमः’ सामर्थ्यं—आहारनिर्विचेनं प्रत्याइस्मः, तेन च यदाहारजातं-

+ “ जानीयात् ‘अस्मिं पडियाए’ पत्रपत्रिकाया एक साधुसाधारिकं समुद्दिश्य कश्चित्प्रकृतिभूकः श्रावकः साः वाहारदानार्थं  
प्राणिनः समारभ्य—प्राणियातकमारभ्यं कृत्वा सत्त्वान् समुद्दिश्य—तत्पीडा सम्यगुदिश्य कीतं ‘प्रापित्य’ उच्चिङ्गक ‘आच्छेदं’  
अन्यद्वादाच्छिष्य गृहीतं ‘अतिस्थं’ परेणानुभवं ‘अभ्याहतं’ साधुसमुद्देश्यानीतं ‘आहास्य’ उपेत्वा सात्वा साऽवर्थं कृतमुद्देश्यिकं,  
एवभूतमाहारं साच्चवे ‘चेतित’ दत्त स्थात्, साधुता वाऽकामेन गृहीतं स्थात्, तदोषदुष्टं ज्ञात्वा रक्षयं न भोजयेत्  
न च भुजानमन्यं समतुजानीयात्, एवं ” इति हर्ष० ।

निर्विचितं ‘यस्य चार्थीय’ यत्कृते ‘चेतिं’ दत्तं, निष्पादितं इयाङ्गवेत् । यत्कृते निष्पादितं तत्स्वनामग्राहमाह, तत्तथा आत्मनः । स्वनिमित्तमाहारादिपाकनिर्वर्तनं कृतमिति । तथा पुकार्याश्च [यXश्च] ‘आदेशाश्च’, प्राशूर्णकार्याश्च, तथा पुष्टक्ष-प्रहेणाश्च + विशिष्टाहारनिर्वर्तनं क्रियते, तथा ‘इयामा’ रात्रिस्तस्यामशनं, तदर्थं यावत्प्रातराश्चः—प्रत्यपस्येत् भोजनं, तदर्थं सप्तिधेः सञ्चयः, विशिष्टाहारसञ्चाहस्र्य सञ्चयः क्रियते । अनेन चैतत्प्रतिपादितं भवति—चालगलानहृदादिनिमित्तं प्रत्यु-वादिसमयेवपि भिक्षाटनं क्रियते, अतः सन्निधिसञ्चय इहैकेवं मानवानां भोजनार्थं भवति । तत्र भिक्षुहृ-घटविहारी परकृत-परनिष्ठितमुहूर्मोत्पादनेषणाशुद्धमाहारमाहरेत्, कथमभूतमाहारं ? तदेवाह—

तत्थ भिक्खु घरकडं परनिष्ठितमुग्गमुप्पायणोसणासुजं सत्थाईयं सत्थपरिणामितं आविहिसितं एसितं वेसितं सामुदाणियं पक्षमसणं कारणट्टा पमाणजुतं, अक्षखो वंजणवणलेवणभूयं संजमजाया-मायावचित्तियं बिलमिव पद्मगमतेण अपपाणेण आहारं आहारेजा, अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले, से भिक्खु मायज्ञे अन्नयरि दिसं वा अणुदिसं वा पाणिवज्ञे धर्मं आहारेवे विभए किंडे उचट्टिष्टु वा अणुवाट्टिष्टु वा सुस्सूसमाणेषु प्रवेदए । वयाहया—‘सत्थाईयं’ शब्दमग्न्यादिकं, तेनातीतं-प्रापुकीकृतं, शब्दपरिणामितमिति—शब्देण स्वकायपरकायादिना

X आदिशब्दः प्रकाशार्थैत्वाद् दुहितस्तुषाधार्थाद्यार्थम् । + “ पहेणयं—भोजनोपायनसुत्सवश्चे ”ति देशीनाममालावृत्तौ ।

सूर्यगडाङ्ग-  
मन्-  
दीपिका-  
न्वितम् ।

निजीची कुंतं, वर्णग्रन्थरसादिभिश्च परिणामितं, हिमा प्रासं हिसितं, विरुणं हिसितं विहिसितं, न समयहनिजीची कुंत-  
मित्यर्थः, तदपतिपेषादविहिसितं निजीचमित्यर्थः । तदपेषित—मन्त्रेषितं मिष्ठानयाविधिना प्रासं \* वैसियं, वैषिकमिति  
केवलसाधुवेषाचासं+†, तदपि ‘सामुदानिकं’ मधुकरवृत्याऽन्ते—सर्वत्र स्तोकं स्तोकं गृहीतं, तदपि गीतार्थेनोपाचमानीतं  
तदपि—वेदनावैषावृत्यादिके कारणे सति, तदपि प्रमाणयुक्तं, नाऽतिमात्रं, तदपि न वर्णवलाद्यर्थ किन्तु यावन्मात्रेणाऽहरिण  
देहः क्रियासु वर्तते, यथाऽक्षस्योपाज्ञानं अभ्यङ्को व्रणश्य ‘लेपनं’ प्र[वण]लेपनं लेपनं प्रस्त्रदुपमया आहारमाहरेत् । उक्तं च—  
“अब्भंगेण व सगडं, न तरह विगङ्गं विणा उ जो साह । सो रागदोसरहिओ, मत्ताएं विहीह तं सेवे ॥१॥”  
एतदेव दर्शयति—संयमयात्रायां मात्रा संयमयात्रायां मात्रा], यावत्याऽहारमात्रया संयमयात्रा प्रवर्तते । तथा बिलप्रेश-  
पत्रगम्भेतनात्मना आहारमाहरेत्, यथा पक्कगो बिले प्रविंशतूर्णमेव प्रविशति एवं साधुनाएयाहारस्तस्वादमनास्वादयता  
शीघ्रं प्रवेशयितव्य इति । तदपि ‘अन अनकाले’, द्वत्रायपौरुष्यतरकाले‡ मिष्ठाकाले प्राप्ते, तथा पानक-  
काले\* तथा चक्षु चक्षुकाले गृहीया—दुष्प्रभोगं वा कृपयति । तथा ‘लयनं’, गुहादिकमाश्रयस्तस्य वर्णस्वरूपमुपादानम-  
न्यदा त्वनियमः । तथा शरण्यासंस्तराकाः, स च शयनकाले । तत्राप्यगीतार्थीनां प्रहरद्यं निदाविमोक्षो गीतार्थीनान्तु

+ “ न पुनजत्याघातीवनतो निमित्तादिना वोत्पादित ”मिति शृदृत्तौ ।

× अभ्यहेनेव शक्तं न शक्तनेति विकृति विनेत्र यः साधुः । स रागदेपरहितो मात्रया विधिना तां सेवेत ॥ १ ॥

\* “ न चुचितो भुजीत न भुजुक्षितः पानकं पिचेत् । ” इति हर्षे ।

द्वितीये  
श्रुतो  
आधा-  
इयने  
साधो-  
गुहादि-  
प्रहण-  
प्रकारः ।

॥ ३२॥

प्रहरमेकमिति । तथा स मिक्खुराहोपविशयनस्त्राद्यायाड्यगतादीनां मात्रां जानातीति गदिविषः; अन्यतरां दिशमतुदिंशं वा ‘ प्रतिपक्षः’ समाधितो धर्ममालयापयेत्-प्रतिपादयेत्, यदेन [ साधुना गृहस्थेन वा ] विचेयं तद्यथायोगं विभजेत् धर्मफलानि च कीर्तयेत् । परहितार्थं प्रवृत्तेन साधुना समयगुपस्थितेषु वा [ यजुर्परिथतेषु ] कौतुकादिप्रवृत्तेषु ‘ गुञ्छूषमणेषु ’ ओरुं प्रवृत्तेषु इवपरहिताय ‘ प्रवेदयेत् ’ कथयेत् । यत्कथये तदर्थयितुमाह—

संतोविरतिं उत्समं निवाणं सोयचियं अज्जचियं महावियं लाघवियं अणातिवातियं, सब्बेसि  
पाणाणं, सब्बेसि भूताणं जाव सब्बेसि सत्ताणं अणुवीइ किहए धर्ममं ।

व्याख्या—शान्ति—रूपशमः कोधजयः ‘ विरतिः ’ प्राणतिपातादिभ्यः शान्तिविरतिस्तां कथयेत् । तथोपज्ञमं इन्द्रियोपशमरूपं रागदेषाभावजनितं, तथा निर्वृतिं निर्वाणं, तथा ‘ शौचं ’ तदपि भावशौचं सब्बेपाधिविशुद्धं ब्रह्मालिङ्गं ‘ अज्जचियं ’ आर्जवं मायारहितत्वं, तथा ‘ मादंवं ’ मुदुमावः अकठोरत्वं सर्वत्र प्रश्रयत्वं विनयनम्रता, तथा ‘ लाघवियं ’ कर्मणो लाघवापादनं । साम्प्रतं सर्वशुभानुषुनाना मूलकारणमाह ‘ अतिपातः ’, प्राणुपमर्दनं, तत्त्वातिपादनतिपातिकरं सर्वेषां प्राणिनां भूतानां यावत् सच्चाना धर्मसंमतुविचिन्त्य कथयेत्, सर्वप्राणिनां इक्षानिमित्तभूतं धर्ममं कथयेत् ।

से मिक्खवृ॒ धर्ममं किहेमाणो ओ अक्षस्स हे॑उं धर्मममाइक्खेजा, तो पाणस्स हे॑उं धर्मममाइक्खेजा,

ब्रुगाड्ग  
सूर्य-  
दीपिका-  
निवृतम् ।

॥ ३३ ॥

नो वरथस्स हेउं धम्ममाइकवेज्जा, नो लेणस्स हेउं [धम्ममाइकवेज्जा, ] नो सयणस्स हेउं [धम्ममा  
इकवेज्जा, ] नो अज्ञोसि विकल्पवाणि कामभोगाणि हेउं धम्ममाइकवेज्जा, अगिलाए धम्ममाइकवेज्जा,  
नव्रत्थ कम्मनिज्जरट्ट्याए धम्ममाइकवेज्जा ।

वयारुया—स भिक्षुनानस्य हेतोर्ममायमीश्वरे धर्मकथाश्रवणे न विशिष्टाहारजातं दास्यतीत्येतनिमित्तं न धर्ममाच-  
क्षीत । तथा पानस्य वक्ष्यलयनयननिमित्तं न धर्ममाचक्षीत । अन्येषां वा ‘विलपहपाणां’ उच्चार चानां कारयणां  
कामभोगानां वा निमित्तं न धर्ममाचक्षीत । तथा गुणनिमत्तुपगच्छन् धर्ममाचक्षीत । कर्मनिज्जरायाश्रान्पत्र न धर्ममेक्षयेत्,  
अपरप्रयोजननिरपेक्ष एव धर्ममेक्षयेदिति । अथ धर्मकथनफलपृष्ठदर्शयति—

इह खल्छु तस्स मिक्खुस्स अंतिए धर्ममं सोच्चा निसम्म सम्म उट्टाणेण उट्टाय चीरा अस्मि  
धर्ममे समुद्दिया ते एवं सबोवगता, ते एवं सबोनरता, ते एवं सबोवसंता, ते एवं सब्बत्ताई, परि-  
निवृद्देति बेमि ।

उयारुया—इह खलु जगति तस्य भिक्षोरुणवतोऽनितके—समीपे धर्मं श्रुत्वा [निशय च] सम्यगुल्यानेनोत्थाय ‘वीराः’  
कर्मविदारणसहिणो ज्ञानदर्शनचारित्राद्ये मोक्षमाणें प्राप्ताः सर्वपापस्थानेभ्यो निहृताः सर्वत उपशान्ताः जितकथायतया

द्वितीये  
श्रुत०  
आधा-  
द्यत्वे  
निरपेक्ष-  
तया धर्मी-  
पदेशनस् ।

॥ ३३ ॥

शीतलीभूताः, तथा त एवं ‘ सर्वत्मतया ’ सर्वसामर्थ्येन सदुक्षुणाने उद्यमं कृतवन्तो, ये चैवभूतास्ते अशेषकमर्मक्षयं कृत्वा परिनिर्भूताः, अशेषकमर्मक्षयं कृतवन्त इति । ब्रह्मीमिति पूर्ववत् । अथाऽप्यतोपसंहारार्थमाह—

एवं, से भिक्षवृ॒ धर्मसट्टी॑ धर्मविठ॒ नियागपाडिवन्ने, से जहेयं बुइयं अदुवा पते पउमवर-  
पुडरीयं अदुवा अपते पउमवरपुडरीयं । एवं से भिक्षवृ॒ परिज्ञायकम्मे परिज्ञाय-  
गिहवासे उवसंते समिए॑ सहिये सया जए, से एवं वयाणिजे, तं जहा—

व्याख्या—एवं स भिक्षुर्धर्ममीर्थी॑ यथाचस्थितं परमा[र्थतो ]य॑(?) धर्मम् सर्वोपाधिविशुद्धं जानातीति धर्मभवित् । तथा ‘ नियागः ’ संयमो विमोक्षो चा, तं प्रतिपन्नः—नियागप्रतिपन्नः; स चैवभूतः पञ्चमपुरुषजातः, तं चाऽऽश्रित्य तद्यथेद् प्राक् प्रदर्शिते, तत्सर्वमुक्तं, स च प्रासो चा स्यात् पञ्चवरपोऽपरीकमतुग्राहं पुरुषविशेषं चक्रवर्त्यादिकं, तत्प्राप्तिश्च परमार्थतः केवलज्ञानाचासौ सत्यां भवति, साक्षाद्यथाचस्थितनस्तुस्त्रवृपपरिलितेः, अप्राप्तो चा स्यात्मतिश्रात्वाचधिमनः—पर्यायज्ञानेवर्यस्तैः समस्तैर्वा समन्वितः । स चैवभूतो भिक्षुः परिज्ञातकम्मा॑( दिविशेषणविशिष्टो भवतीत्येतद्वश्चयितुमाह—) स चैवभूतो भिक्षुः ‘ परिज्ञातकम्मा॑’ परिज्ञातकम्मस्वरूपः, परिज्ञातसङ्गः, परिज्ञातगुहचासः; तथोपशान्ततः, [ इन्द्रियतो ]-इन्द्रियोपशमाचथा समितिभिः समितः, तथा सहितो ज्ञानादिमिः ‘ सदा यतः, संयतः, एवंविघ्नगुणकलापोपेत एतद्वचनीयः—स ईदुशः कथयते, ( तद्यथा— )

समणेति वा माहणेति वा खंतेति वा दंतेति वा गुतेति वा सुतेति वा इसीति वा मुणीति वा कर्तीति वा विदूति वा भिक्षुति वा लूहेति वा तोरटेति वा चरणकरणपारविउति बोमि [सूत्र १५] । वितियस्स [सुय]कर्वन्धस्स पौँडरीयं नाम पढमं अज्ञयणं समत्तं ।

इयाख्या—स पूर्वोक्तगुणकलापोपेतः किनामा कऽयते ? श्रमणः तथा 'माहण' त्रिवा ब्राह्मणः, मा प्राणिनो व्यापादयेति माहनः ब्रह्मचारी वा ब्राह्मणः, शान्तः क्षमोपेतत्वात्, दान्तः हिन्द्रय[नोइन्द्रिय]दमनात्, तिसुभिर्गुमिभिर्गुमिः, मुक्त इव मुक्तः, विशिष्टपश्चरणो महर्षिः, मरुते जगत्तिकालावस्थामिति मुनिः, कुतमस्यास्तीति 'ठती', पुण्यवान् परमार्थपणिडतो वा, तथा 'विदान्', सविः[सद्विः]द्वोपेतः, तथा 'भिषु' निरवद्याहारतया भिषुणशीलः, तथा अन्तग्रन्त्वाहारत्वेन लक्षः, संसारतीरभूतो मोक्षस्तदथीं, तथा चर्यत इति चरणं—मूलगुणाः, कियत इति करणं—उत्तरगुणास्तेषां 'पारं' तीरं पर्यन्तगमनं, तदेतत्त्वाति करणचरणपारवित् । इतिशब्दःपरिसमाययें, ब्रवीमीति तीर्थकरणचनात् सुधर्मस्तवामी जग्मुखामिन्दुहिन्दुयैवं भणतीति ।

इति श्रीपरमसुविदितवरतरगच्छन्दिभूषणपाठकप्रवरश्रीमतसाधुरक्षणिवरसन्दूचार्यां  
श्रीमत्स्वत्रकृताङ्गदीपिकायां समाप्तं द्वितीयशुतस्कन्धाइयनं प्रथमम् ॥

## ॥ अथ क्रियास्थानाख्यं द्वितीयमध्ययनम् ॥

साम्प्रतं द्वितीयशुतस्कन्धे द्वितीयं क्रियाइयनं प्रारम्भयते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराइययने पुष्टकरिणी—पृष्ठ-  
रीकहटान्तेन तीर्थिकाः सम्यहमोक्षोपायाभावात्कर्मणां बन्धकाः प्रतिपादिताः प्रतिपादिताः सत्साधयश्च समयादर्शनादिमोक्षमार्गं प्रवृत्त-  
त्वात् कर्मणां मोक्षकाः सदुपदेशदानतो परेषामपीति, तदिहापि यथा कर्म द्वादशमिः क्रियास्थानेवं इयते यथा च त्रयोदशेन  
मुच्यते तदेतत्पूर्वोक्तमेव बन्धमोक्षयोः प्रतिपादनं क्रियते, तथाहि—  
सुर्यं मे आउसंतेण भगवया एवमक्खायां—इह खलु किरियाठाणे नामं अज्ज्ञयणे पञ्चते,  
तस्स णं अयमटु ( पञ्चते— ) इह खलु संज्ञुहेण दुवे ठाणा 'एवमाहिजंति—धम्मे चेव अधम्मे  
चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव ।  
व्याख्या—सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिष्येदमाह—श्रुतं मया आयुष्मता भगवतैवमाख्यातं—इह खलु क्रियास्थानं  
नामाद्ययनं भवति, तस्य चायमर्थः इह खलु 'संज्ञुहेण' ति सामान्येन संक्षेपेण च द्वे स्थाने भवतः । य एते क्रियावन्त-  
स्ते सर्वेऽप्यनयोः स्थानयोरेवमाख्यायन्ते—घम्मे चेव अधम्मे चेव, इदमुक्तं भवति—धर्मस्थानमध्यमस्थानं च । कारणशुद्धा  
च कार्यशुद्धिभवतीत्याह—उपशान्तं यतद्गम्मस्थानं अनुपशान्तमध्यमस्थानं । लोकस्तु प्रायेणाधम्मप्रवृत्तो भवति, पश्चात्स-

दुपदेश्योऽप्याचार्यसंमग्नादर्थस्याने प्रार्चते, अतः पूर्वमध्यस्थानमधिग्रहयाह—

तत्थ एवं [ जे से ] पढ़मस्स ठाणस्स अधमपक्खस्स विभंगे, तस्स एवं अथमट्टु [ पण्णते ]—  
इह खल्लु पाइणं वा ४ संतोगतिया मणुस्सा भवति, [ तं जहा ]—

व्याहया—तत्र प्रथमस्य अपर्मपश्य ‘विभंगे’ पिचारस्तस्यागम्य इति । ‘ठह जल्ल’ इह अस्मिङ्गति ‘खल्ल’ निधिं प्राळयादिदिक्षु मध्ये अन्यतरस्यां दिग्मि ‘मन्ति’ प्रियन्ते एकं केचन मनुष्यास्ते चामभूता मान्यत्वाद—+आयारिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे ऊयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, लुचक्का वेगे दुन्हवद्वा वेगे, सुरुच्चा वेगे हुरुच्चा वेगे, तेस्मि च एवं इमं पृथ्याहन्वं दंडसमादाणं संपेहाए । तं जहा—नेरहृपसु[वा]× तिरिक्खजोणीपसु माणुसेसु देवेसु जेयावद्वे तहृपगारा पाणा नित्र[विन्न] वेयणं वेयंति, तेस्मि पि य एवं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीतिमक्खायं, तं जहा—अट्टादंडे ? ,

+ मवस्त्रविदीपि नापतिपु ‘आयरिया’ इति पाठो लेगकप्रगारा, ब्रह्मात्यरे, गुद्रिगामु ब्रह्मतिक्षपतिपु ‘आरिया’ इत्येवोपलभ्यते, योऽर्थवृद्या युक्त आगमति । × गुद्रिगामु ब्रह्मतिक्षपतिपुते चतारोऽपि पदा ‘वा’ शब्दान्वयः समिति, पर शैषिकाप्रतिपु यज्ञेवं एवोऽपि लेगकप्रोप पद सम्भावयते ।

१२, इरियावाहिए ३३। [ सू० १ ]

व्याख्या—एके आधर्या: भवन्ति, याचद्वद्वयः सुहृपाश्रेति । तेषामार्थ्यं हीनामिदं—वस्यमाणमेतद्वप्नं  
 ‘दण्डः’ पायोपादानसङ्कल्पस्तस्य ‘समादानं’ प्रहणं ‘संपेहाए’ त्ति सम्प्रेष्य, तच्चतुर्गतिकानामन्यतमस्य भवति,  
 तथाया-नारकादिषु, ये चान्ये तथाप्रकारास्तद्वेदवार्त्तिनः सुवर्णदुर्वणादियः प्राणिनो विद्वांसो ‘वेदना’ ज्ञानं, तदेदयन्त्यनु-  
 भवन्ति, यदिवा सातासातरूपां वेदनामतुभवन्तीति, अत्र चत्वारो माङ्गास्तथाया-संज्ञिनो वेदनामतुभवन्ति विदन्ति च १,  
 सिद्धास्तु विदन्ति नातुभवन्ति २, असंज्ञिनोऽतुभवन्ति न विदन्ति नातुभवन्ति ३। इह पुनः  
 प्रथगद्युतीयामयामधिकारो, द्वितीयचतुर्थोववस्तुभूताविति । ‘तेषां च’ नारकातिर्यद्वस्तुष्टयदेवानां तथाविषज्ञानवतां  
 ‘इमानि’ वस्यमाणलक्षणानि त्रयोदश क्रियास्थानानि भवन्ति, एवमाल्यातं तीर्थकरणवरादिभिरिति । कानि ? पुन-

\* यद्यपि सटीकमुद्रितप्रतिष्ठत्र परन्त च सर्वेचापि ‘अज्ज्ञात्यवत्तिए’ इत्येकलृप एव पाठोऽस्ति, परं दीपिकाप्रतिष्ठु समप्रारब्धयत्र  
 ‘अज्ज्ञातिथए’ इत्येवमुपलभ्यते, बृत्तिकृताऽपि ‘आत्मन्यव्याप्तम्-तत्र मत् आध्यात्मिकः’ इत्येवमर्थो विहित अतो  
 दीपिकापाठः युक्त इत्याभास्ति ।

स्तानीति दर्शयति— 'तं जहे' त्यादि, तथा—‘आत्मायाय’ स्त्रप्रयोजनठते दण्डो-इर्पदण्डः—प्रापेपादानं १, तथाऽन्यदण्ड  
इति निप्रयोजनमेव साक्षयकियाइनुप्रानमनर्थदण्डः २, तथा हिसा-प्राणप्रमार्दलया, तथा—दण्डो हिसादण्डः ३, तथा-  
इकमसाहण्डः (१) अर्गुप्रयुक्तस्य [ दण्डः ] अकस्माहण्डः, अन्यस्य कियाइन्यस्य तथाऽपादानम् ४ । तथा हर्षितप्रयोजि-  
रजज्ञामित्र सर्पवृद्धिः, तथा दण्डो हर्षितप्रयोजदण्डउत्तरया—लेच्छुकुम्भादित्तुदया शराद्यमिथातेन चटकादित्यापादानम् ५,  
तथा स्मारादप्रत्ययिकः, स च सञ्चूततिनिष्ठामद्भूतारोपणलयः ६, तथा अद्वनस्य परमीयस्य ग्रहणं स्तैर्यं, तत्प्रत्ययिको  
दण्डः ७, तथाऽइयात्मदण्डो-निर्त्तिमित्रमेन दुर्मता उपहरमनःसंकल्पो हर्षयेन दृष्ट्यानश्चिन्त्यामागरानगादः संतिष्ठते ८, तथा  
जात्याघटमदस्थानोपहतमनाः पानप्रत्ययिको दण्डो मवति ९, तथा मित्राणामुपतापेन दोषो मित्रदोष-  
स्त्रप्रत्ययिको[दण्डो] मवति १०, तथा ‘माया’ परक्षानुग्रहितया दण्डो माया[प्रत्ययिको] दण्डः ११, तथा लोमप्रत्य-  
यिको-लोमनिमित्तो दण्ड हति १२, तथा पञ्चतमित्रिगुतिरित्यपुक्तस्येगप्रत्ययिकः सामान्येन कर्मदस्थी भवति १३,  
एतत्त्वं ऋगेदयं क्रियास्थानमिति । अथानुक्रमेण क्रियास्थानानि व्याख्यानयति—

पठमे दण्डसमादाणो अटुदंडवचित्यति आहिऽअहि, (+ तं जहा—) से जहा नामाप केहि पुरिसे  
आयहेउं वा णाडहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्रहेउं वा णागहेउं वा भूयहेउं वा

+ नारिति वहुप्राणदेशेऽप्यं पाठखण्डोदशरवपि क्रियास्थानमूर्तेषु ।

द्वितीये श्रुत० द्वितीये क्रिया-  
क्रिया-

जववेहेउं वा तं दंडं तसथावरेहि पाणोहि सयमेव निसिगति अणोण [ वि ] निसिरावेति अचं पि  
निसिरंतं समणुजाणाति, एवं खलु तस्स तप्पतियं सावजांति आहिजाति, पढमे दंडसमादाणे  
अटांडडतिए आहिए ॥ [ सू० २ ]

व्याख्या—यत्तथमसुपाचं दण्डसमादानमर्थय दण्ड इत्येवमाल्यायते । तद्यथा नाम कश्चित्पुणः, पुणप्रहणेन सर्वोऽपि  
चालुर्गतिकः प्राणी, आत्मनिमित्तं ज्ञातिनिमित्तं तथा गृहनिमित्तं परिवारो-दासीकर्मकादिकस्तत्त्वानिमित्तं, तथा मित्रनागभृत्-  
यक्षनिमित्तं तथाभृतं स्वपरोग्यातहृतं दण्ड नृसस्याचरेषु प्राणेषु स्वयमेव ‘निसुजति’ निश्चिपति-उपतापयति प्राणयुपमहृ-  
कारिणी क्रियां करोति, तथाऽन्येन कारयति, तथा परं दण्डं निसुजन्तं समतुजानीते । एवं कृतकारिताचुमतिभिः कर्म  
सम्पन्नधो मवति, तदर्थदण्डप्रत्ययिकं प्रथमं क्रियास्थानमाल्यातमिति ।

अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणाटुदंडवत्तिएति आहिजाति । तं जहा—से जहा नामए केइ  
पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवांति, ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सोणियाए, एवं  
हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए  
णहारुणीए अट्टीए अटुमंजाए णो हिसिंसु मेत्ति णो हिसिसंति मोत्ति, णो

स्यगड़ाङ्  
सं  
दीपि का-  
निकतम् ।

पुत्रपोसणयाए णो पुसुपोसणयाए णो अगारपरिवृहणताए नो समणमाहणवत्तणाहेउं नो तस्त  
सरीरस्स किंचि विष्परियादिता भवन्ति । से हंता लेता भेता लुंपइता विलुंपइता उद्ववइता  
उजिज्ञाउं बाले वेरस्स आभागी भवति अणाडाउंडे ।

॥ ३७ ॥

द्वितीये श्रुत० द्वितीये क्रिया-  
स्थाना-  
व्ययने द्वितीय-  
क्रियास्था-  
तवर्णनम् ।

व्याख्या — अथापर द्वितीयं [ दण्डसमादानं ] अनर्थदण्डप्रत्ययिं अभिधीयते । स यथा नाम कश्चित्पुरुषः + मे केचन  
, 'अमी' संसारान्तर्वाचेत्तेः प्रत्यक्षाक्षागादयः प्राणिनस्तोशासौ हनन् 'नो' नैव अर्चायै हिनस्ति, तथा नो 'अजिनाय', चर्मणे,  
नापि मांसशोणितहृदयपित्तवसापिचल्लपुचल्लवालस्त्रज्जविषाणनस्त्राच[स्थ]प्रियमिजा इत्येवमादितं कारणप्राहिष्य, 'नैवाहि-  
सिपुनपि हिसन्ति नापि हिसपिययन्ति मां मदीयं चेति । तथा नो पुत्रपोषणाय-पुत्रं पोपयिष्यामीत्येतदपि कारणप्राहिष्य न  
वयापादयति, तथा नापि पश्चनां पोषणाय, तथा 'अगारं' गृहं, न त तदर्थं हिनस्ति, तथा न श्रमणन्नामाणवत्तेनाहेउं, तथा  
यचेन पालयितुमार्घं नो तस्य शरीरस्य किमपि परित्राणाय तत्प्राणिन्यपरोपां भवति, इत्येवमादिकं कारणमनादुत्येचासौ  
क्रीडया व्यसनेन वा प्राणिनां हनना भवति दण्डादिभिः, लेता भवति कर्णनासि कादिविकर्त्तनतः, तथा मे चा-शूलादिना तथा  
लुम्पियिताऽन्यतराङ्गावयवचिकृतनतस्तथा विलुम्पयिता चक्षृत्पाटनचम्भविकर्त्तनकरपादादिन्देनतः परमाधार्मिकवत्प्राणिनां

+ “ निर्निमित्तमेव निर्विवेकतया प्राणिनो हिनस्ति, तदेव दर्शयितुमाह—” इति द्यु० शु० । × “ तस्य ‘ परिवृहणा ’ वृक्षिः ”  
इति द्यर्ष० ।

॥ ३७ ॥

निर्निमित्तमेव नानाविधिषोपायैः पीडोत्पादको भवति, तथा जीवितादस्यपदावयिता भवति । स च+ बालोऽसमीक्षितकारितया जन्मान्तरातुवन्निष्वैरस्यामार्गी भवति । तदेवं निर्निमित्तमेव पञ्चेन्द्रियप्राणिपीडनतो यथाऽनर्थदण्डो भवति तथा प्रतिपादितं, अधुना स्थावरानविकृत्योऽव्यते—

से जहानामए केह युरिसे जे इसे थावरा पाणा भवंति, तं जहा—इकडाइ वा कढि(कढि)णाइ वा जंतुगाइ वा परगाइ वा मोक्खाइ वा तणाइ वा कुसाइ वा कुच्छगाइ वा पप्प[पब्ब]गाइ वा पलालएइ वा, ते णो पुच्चपोसणयाए नो पसुपोसणयाए नो अगारपरिवूहणयाए नो समणमाहण-पोसणयाए नो तस्स सरीरगस्स किंचि वि परियाइता भवति । से हंता हेता भेता लुंपइता विलुंपइता उदवइता उज्जितुं वाले चेरस्स आभागी भवति अणाहादंडे ।

व्याख्या—स यथा नाम कश्चित्पुरुषो निर्विवेकः प[थि]रि(?)गच्छु [निन्तिमित्तमेव] वृक्षादेः पलुचादिकं दण्डादिना प्रचंसयन् फलनिरपेक्षस्तच्छीलतया बजति, एतदेव दर्शयति—ये केचनामी—प्रत्यक्षाः स्थावरा वनस्पतिकायिकाः प्राणिनो भवनित तद्यथा—‘इकडा’दयो वनस्पतिविशेषाः सुगमार्थाः । तदिहेषामिकडा, ममानया प्रयोजनमित्येवमभिसंचाय न

+ “ सद्विवेकमुऽविक्षत्वाऽस्त्वानं वा परित्यज्य बालबद्वाल” इति द्व० वृत्तो ।

स्वयं गडाङ्क

धन्न  
दीपिका-  
न्जितम् ।

छिन्निचि, केवलं तत्पत्रपुष्टकलादिनिपेक्षस्तच्छीलतयेत्तसर्वत्रातुगोजनीश्यमिति । तथा न पुत्रपोषणाय, न शुश्रूपोषणाय, न गणरकार्याय, न अमण्डासाणप्रवृत्तये, नापि शुरीरस्य किञ्चित्परित्राणं भविष्यतीति, केवलमेवमेवासौ वनस्पति हन्ता छेत्तेत्यादि यावज्जन्मान्तरात्तरातुगन्धिनो वैरस्याभागी भवति । अर्यं वनस्पत्याश्रयोऽनर्थदण्डोऽभिहितः, साम्रात्मसञ्ज्याश्रितमाह—

॥ ३८ ॥

से जहा नामए केहु युरिसे कच्छांसि वा दहांसि वा उदगंसि वा दवियांसि वा वलयांसि वा नामांसि वा गहणांसि वा वणांसि वा वणविदुग्गंसि वा तणां ऊसविय ३ सयमेव अगणिकायं निसिरति अणेहि अगणिकायं निसिरति अन्नं पि जावसमणुजाणति अणादांडे, पन्नं खल्लु तस्स मुरिसस्स तप्पत्तियं सावजंति आहिजाति । दोचे दंड-समादाणे अणादांडवच्चित्तिएति आहिए [ सू० ३ ] ॥

व्याख्या—स यथा नाम कश्चित् पुरुषो, निर्विवेकतया\* कच्छादिपु दयातु स्थानेषु वनदुर्गपर्यन्तेषु ‘दुणाति’ कुशई-

\* “ कच्छे—नदीजलवेष्टिते वृशादिमति प्रवेशे, हरे—प्रतीते, उदके—जलाशयमावे, द्रविके—दृणादिदृव्यसमुदाये, बलये—बुत्ताकारनयादिजलकुटिलागतियुक्तप्रवेशे, नूसे—अवतमसे गहने वृश्वलोसमुदाये, गहनेऽपि दुर्ग—पर्वतेकदेशावस्थितवृक्षलोसमुदाये, बनविदुग्ग-नानाविष्युक्तसमूहे, एतेषु ” इति हर्ष० ।

॥ ३८ ॥

द्वितीये  
श्रुत०  
द्वितीयेऽ-  
इयनेन  
प्रथम-  
क्रिया-  
स्थान-  
वर्णनम् ।

पिकादीनि पौनः पुन्येनो छविं श्वासि कृत्वा इति निसुजति 'निसुजति' प्रक्षिप्तयन्येन वा निसुजन्ते समतुजानीते । तदेवं योगान्तिकेण तस्य यत्किञ्चनकारिणस्तत्पत्ययिकं-दधाननिमितं 'सावद्यं कर्म', महापातकमाल्यातम् । एतच्च द्वितीयमनर्थदण्डसमादाननमाल्यातमिति ठनीयमधुना ल्याल्याति—

अहावरे तच्चे दण्डसमादाणे हिंसादंडवात्तिष्ठन्ति आहिज्जाति । से जहा नामए केह पुरिसे ममं वा मासि वा, अन्नं वा अद्विं वा, हिंसु वा हिंसति वा हिंसिस्तति वा, तं दंडं तसथावरेहि पाणेहि सयमेव निसिराति जाव अद्वांपि समणुजाणाति हिंसादंडे, एवं खलु तस्स तप्तपत्तियं सावजंति आहिज्जाति । तच्चे दण्डसमादाणे हिंसादंडवात्तिष्ठन्ति आहिते [ सू० ४ ] ॥

ल्याल्या—‘अहावरे’ इति, अथापरं दृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमाल्यायते—म यथा नाम कश्चित् ‘पुरुषः’ पुरुषाकारं वहन्, स्वतो नरणमीलतया वा मामयं धारातपिण्डतीत्येव मत्वा कंमवदेवकीसुतारु भावतो जघान, मदीयं वा पितरमन्यं वा ‘मासकं’ मसीकारोपेत परशुरामवत् कार्तवीर्यं जघान, अन्य वा कञ्जनायं सर्पसिंहादिङ्गियादियतीति मत्वा सपर्पादिकं व्यापादयति, अन्यदीयस्य वा कस्यचिद्दिरण्यपश्चादेरप्युपद्रवकारीति ठत्वा तत्र दण्डं निसुजतीति । तदेवमयं मां मदीयमन्यमन्यदीयं वा हिंसितवान् हिनसित हिंसिष्यतोत्येवं सम्भाविते वर्से स्थावरे वा ‘तदण्डं’, प्राणान्यपरोपलक्षणं स्वयमेव निसुजति अन्येन निसुजन्ते वाऽन्यं समतुजानीते, इत्येतत्तृतीयं दण्डसमादानं हिसास-

सुग्रावाक्-  
सन्तं  
दीपिका-  
निवतम् ।  
॥ ३९ ॥

दण्ड प्रत्ययिकमाख्यातमिति ।

अहावेर चउत्थे दण्डसमादाणे अकम्हा [अकस्मात्\*] दण्डवत्सिष्ट [न्ति] आहिजाति । से जहा नामए केह पुरिसे कच्छुंसि वा जाव वणिविदुंगंसि वा मियवित्तिए मियपणिहाणे मियवहाए गंता, एए मियत्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयासेत्ता णं णिसिरेजा, से मियं चहिस्सामीति कहु तिनिरं वा वडां वा ]लावगं वा कवोतगं वा कविं वा कविंजलं वा विधेता भवति । इह खलु से अन्नस्स अट्टाए अन्नं फुसाति अकम्हादंडे ।

वयाख्या—अथाऽपरं चतुर्थं दण्डसमादानमकस्मादप्रत्ययिकमाख्यायते—तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषो छुभकादिकः कच्छुं वा यावदनदुग्गं वा गत्या ‘मूर्मै’ राट्टयपशुमिर्वा बृत्तिर्यस्य स मुग्रसङ्कलपः; मुग्रप्रणिधानः—क मुग्रान् द्रक्ष्यामीत्येतदियचत्सायी सन् मुग्रचधार्थं कठलादिपु गन्ता भवति, तत्र च गतः सन् दद्धा [मुग्रानेते] मुग्रा हत्येवं कुत्वा तेपां मढये अन्नयतरस्य मुग्रस्य वधार्थं ‘इंपुं’ शरं आयासेन समाकृत्य मुग्रपुदिद्य निषुजति । स चैवं

\* “ इह चाकसमादित्ययं शब्दो मगधेशे सर्वेणायावालगोपालाङ्गनादिना संस्कृत एवोऽप्येत इति तदिहापि तथाभूत एवो-  
चरित इति ” २० घृतौ ।

द्वितीये  
श्रुतो  
द्वितीयेऽ-  
इयने  
चतुर्थ-  
क्रिया-  
स्थान-  
वण्ठनम् ।

सङ्कल्पो भवति—यथाऽहं सूर्यं हनिष्यामि, हतीषु निक्षिपवात्, स च तेन इषुणा तिनिशादिपक्षिविशेषं व्यापादयिता भवति, तदेवं खल्वसावन्यस्यार्थीय निक्षिसो दण्डो यदन्यं ‘स्पृशति’ वातयति सोऽकस्माइण्ड इत्युच्यते । अधुना बनसपतिमुद्दिश्या-कस्माइण्डमाह—

से जहा, नामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोहवाणि वा कंगणि वा परगणि वा गालाणि वा पिंति[णिलि]जमाणे अन्नयरसस तणस्स वहाए सत्थं निसिरेजा, से सा मगं तणगं मुकुंद[कुमुड]मं वीहीऊसियं कलेसुयं तणं छिंदिस्सामिति कहु सालिं वा वीहि वा कोहवं वा कंगु वा परगं वा रालगं वा छिंदित्ता भवति, इति खलु से अन्नस्स अट्टाए अन्नं फुसति अकम्हादप्ते, एवं खलु तस्स तपीतियं सावजांति आहिजाति । चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिएनि आहिते ॥ [ सु० ५ ]

न्यान्या—स यथा नाम कश्चित्पुरुषः कृषीचलादिः शावयादेवर्णन्यजातस्य रुयामादिकं दणजातमपनयन् पान्यशुद्धि कुर्वीणः सचन्यतरस्य तुणजातस्यापनयनार्थं शब्दं दात्रादिकं निसुजेत्, स च रुयामादिकं दणं छेत्स्यामीति कुत्वा अकस्माच्छालिवा यावद्रालकं वा छिन्न्याते, रक्षणीयस्यैव धान्यस्य अकस्माच्छेत्स्यं वा ‘स्पृशति’

यथगाड़ाङ्ग  
सूतं

दीपिका-  
न्त्रितम् ।  
॥ ४० ॥

छिनन्ति, तदेवं स्वलु तत्कुरुस्तप्रत्ययिक-पक्षसमादण्डनिमित्तं ‘ साचंद्यं ’ पापमाधीयते—सम्बद्धयते, तच्चतुर्थं दण्डसमादान-

मक्षसमादण्डप्रत्ययिकमारुयातमिति ।

अहावेरे पञ्चमे दंडसमादाणे दिट्ठीविट्परियासिया दंडवचिष्ठ आहिजाति । से जहा नामए केहु पुरिसे मार्हीहिंचा पीइहिं वा भाईहिं वा भजाहिं वा पुतेहिं वा धूयाहिं वा सुणहाहिं वा सळ्हं संवसमाणे मित्तं अभित्तासिमिति] व मत्रमाणे मित्ते हयपुवे भवाते दिट्ठीविट्परियासियादण्डे ।

वयारुया—अथाऽनन्तरं पञ्चमं दण्डसमादानं हटिविषयीतदण्डप्रत्ययिकमारुयायते—तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषश्चारभट्टादिको मारुपिदुश्रावत्तमग्नीभार्यापुत्रपुत्रिकास्त्रुपादिभिः सादृ [सं]वसंस्तिष्ठुन् ज्ञातिपालनकृते मित्रमेव दृष्टिविषयासादमित्रोऽयमित्येवं मन्यमानो ‘ हन्यात् , व्यापादयेत् , तेन च दृष्टिविषयासवता मित्रमेव हतपूर्वं भवतीत्यतो दृष्टिविषयासिदण्डोऽयम् । पुनरुन्यथा तमेवाह—

से जहा नामए केहु पुरिसे गामघायांसि वा नगरघायांसि वा लेड० कबड्ड० मठंबघायांसि वा दोणमुहघायांसि वा पहणघायांसि वा आसम० सक्रिवेस० निगम० रायहाणीघायांसि वा अतेण X “ संवाहघायासि वा ” इति हर्ष० । शामादिलक्षण चेदं—‘ प्रामो बृत्या बृत्या : स्याज्ञग्रहुण्ठचतुर्गोपुरोऽकासिशोभं, खें-

द्वितीये  
श्रुत०  
द्वितीयेद-  
धयने  
पञ्चम-  
क्रिया-  
स्थान-  
वण्णनम् ।

॥ ४० ॥

तेणमिति मन्त्रमाणे अतेणो हयपुर्वे भवति दिद्दीविपरियासियादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तिं साचाज्ञाति आहिज्ञाति । पञ्चमे दंडसमादाणे दिद्दीविपरियासियादंडवच्निष्ठाति आहिष । [ सू० ६ ] ॥

न्याख्वा—स यथा नाम कश्चित्पुरुषः पुरुषकारुद्धरन् ग्रामधारादिके विश्वे आनन्दवेता दिष्टिविपरियासादचौरमेव चौरोऽयमित्येवं मन्त्रमाणो नव्यापादयेत्, तदेवं तेन आनन्दमनसा विश्वमाकुलेनाचौर एव हतपूर्वो भवति, सोऽयं दिष्टिविपरियासिदण्डस्तदेवं खलु ‘तस्य, दिष्टिविपरियासिवतस्तत्त्वयाचिकं साचादं दण्डसमादानं दिष्टिविपरियासप्तायिकमाल्यायते\* ।

अहावरे छेदे मोसवच्निष्ठ किरियाठाणे + आहिज्ञाति—से जहा नामए केह पुरिसे आयहेउं वा नाहाहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति अन्नेण मुसं वयंते

नद्यादिवेषं परिवृतमाभितः कर्बं पर्वतेन । ग्रामो बृक्तं मडमवद[ १ क ]लितदशशैः पतनं रत्नयोनि, दोणार्घं सिधुवेला-वलयितमथ समचाधनं चादिश्रुतः ॥१॥ इति । आश्रमस्तापस्तथानं, सञ्जिवेशः—सार्थकटकादिवासः, निगमो—बहुविग्रहासः, राजघानी—राजकुलस्थानम् ।” इति हर्ष० ।      क्ष ‘ ख्यातमिति ’ बृ, वृ. ।

+ सुद्धितासु सद्यत्तिकप्रतिष्ठ ‘ छेदे किरियाठाणे मोसाचाच्निष्ठाति’ इत्येवमस्ति, तत्समीचीनं प्रतिभाति, दीपिकाकारेणाध्ये पतकमेणैव कृतत्वात् । किञ्च—‘ किरियाठाणे मोसाचाच्निष्ठा॒ इत्यत्र ‘ किरियाठाणे मोसाचाच्निष्ठा॒ इति सम्यगाभाति ।

अब्दं समषुजाणाति, एवं खलु तस्स तप्पतियं सावजांति आहिजाति, छटु किरियाठाणे मोसव-  
त्तिए[ ति ] आहिते [ सू० ७ ] ॥

श्रुत०  
द्वितीयेऽ-  
इयते  
पष्टक्रिया-  
स्थान-  
र्णनम् ।

व्याख्या—अथाऽपरं पठु कियास्थानं मृपाचादप्रत्ययिकमाहयापते, तत्र द्यौकारां पञ्चानां कियास्थानानां सत्यपि  
कियास्थानत्वे ग्रायशः पोपघातो भवतीति कृत्या दण्डसमादानसंज्ञा कृता, पष्टादिषु च बाहुरेण परचयापादानं न  
भवतीति कृत्या कियास्थानमित्येषा संज्ञोऽप्यते । स यथा नाम कश्चित् पुरुषः स्वपश्चावेशादागृही आत्मनिमित्तं यावत्प्रतिचा-  
रनिमित्तं वा सङ्घूतार्थनिन्हवरूपमसङ्घोऽद्वावनरूपं वा स्वयमेव मृपाचादं वदति, तद्यथा—नाहं मदीयो वा कश्चिचौरः, स च  
चौरमपि सङ्घूतमप्येषमपलपति, तथा परमचौरं चोरमिति वदति, तथाऽन्येन मृपाचादं भाणयति, तथाऽन्यांशं मृपाचादं  
वदतः समतुजानीते । तदेवं खलु तस्य योगत्रिककरणक्रिकेण मृपाचादं वदतस्तत्प्रत्ययिकं साचदं कर्मधीयते—सम्भवयते,  
तदेवत्तथां कियास्थानं मृपाचादप्रत्ययिकमाहयातमिति ।

अहावरे सत्तमे किरियाठाणे अदिक्कादाणवत्तिए[ ति ] आहिजाति—से जहा नामए केह पुरिसे  
आयहेउं वा जाव परिवारहेउं वा स्वयमेव अदिक्कं आदियावेति  
अदिक्कं आदियांतं अळं समणुजाणाति, एवं खलु तस्स तप्पतियं सावजांति आहिजाति । सत्तमे  
किरियाठाणे अदिक्कादाणवत्तिए[ ति ] आहिते [ सू० ८ ] ॥

व्याख्या—अथापरं सप्तमं क्रियास्थानमदचादानप्रत्ययिकमाख्यायते, एतदपि प्राग्वज्जेयम् । म यथा नाम कश्चित्पुरुष आत्मनिमित्तं यावत्परिचारनिमित्तं [स्वयमेय] परदृश्यमदत्तसेव युक्तीयात् अपरं च ग्राहयेत् गृहन्तव्यमध्यपरं समतुजातीया-दित्येवं तस्यादचादानप्रत्ययिकं कर्म बहुयते । सप्तमं क्रियास्थानमाख्यात्यरमिति ।

अहावरे अद्गमे किरियाठाणे अड्डात्तथवाचित्प्रतिक्रियात्ति । से जहा नामए केह पुरिसे णालिथं केति किंचिचिविसंबादेति, सयमेव हीणे दीणे दुट्टे दुम्मणे ओहयमणसंकण्पे चितासोगसागरसं-पविट्टे करतलपवहत्थमुहे अद्वज्ञाणोवगण् भूमिगच्छादिट्टीए हियाइ, तस्स पां अज्ज्ञातिथ्या असंस-इया चत्तारि ठाणा एवमाहिजंति, तंजहा—कोहे माणे माया लोहे, अज्ज्ञात्थमेव कोहमाणमाया-लोहे, एवं खलु तस्स तप्पनियं सावज्जंति आहिजाति, अद्गमे किरियाठाणे अड्डात्तथप्रतिक्रियापूर्व [सू० ९] ॥

व्याख्या—अथापरमष्टमं क्रियास्थानमाङ्गात्मिकमित्यन्तःकरणोद्धवमाख्यायते, मानसिकमित्यर्थः । तद्यथा नाम कश्चिप् पुरुषश्चितोत्प्रक्षाप्रवानस्तस्य च नास्ति कश्चिद्दिसंचादेन परिमध्येन वाऽसदृभूतोऽक्षावनेन वा चित्तदुःखप्रत्यादयति, तथाऽत्यसौ स्वयमेव चणापशदकद्वीनो दुर्गतव्यादीनो दुष्टो दुर्मनास्तथोपहतोऽस्वस्थतया

मनः सद्गुणो यस्य स तथा चिन्ताशोकसागर(सं)प्रविष्टः । तथा करतलपर्यस्तमुखः, तथाऽऽत्मद्वयानोपगतो—निर्विवेकतया भग्नमूर्ध्यानाहरवर्ती [भूमिगतवर्द्धिः] निर्विमितमेव द्वन्द्वोपहतवद्व्याप्तिः, तस्येवं चिन्ताशोकसागरावगाहस्य सत ‘आह्यानि विमकानि’ अन्तःकरणोऽन्नानि मनःसंशितान्प्रशंसयितानि वा—निःशंसयानि चत्वारि वक्ष्यमाणानि रथानानि भवन्ति, भवन्ति तानि वैचमाह्यायन्ते, तद्यथा—कोषस्थानं मायास्थानं लोभस्थानमिति । ते च चत्वारोऽपि कपाया आह्यातिमाकाः, एभिरेव सङ्किर्तुं मनो भवति, तदेवं तस्य हृष्णतमः कोषमानमायाकोषभवत् एवमेवोपहतमनःमङ्गलवपर्य ‘तत्प्रत्ययिकं’ अव्यात्मनिमित्तं साच्चाद्यं कर्म आयोग्यते—मम्बद्वयते, तदेवमटममेवत् क्रियास्थानमाह्यातिमकाख्यमाल्यातमिति ।

अहावरे नवमे किरियाठाणे माणवतिए[ निः ] आहिज्ञाति । से जहा नामाद् केह युरिसे जातिमषण वा कुलमषण वा बलमषण वा तवमषण वा सुयमषण वा लाभमषण वा ईसारियमषण वा पक्षामषण वा अन्नतरेण वा मद्दुणेणं मत्ते समाणे परं हीलेति निंदति चिंहसति गरहति परिभवति अवमज्ञाति, इतरिए अयं, अहंमंसि पुण विसिद्धजाइकुलबलाइ-गुणोवेष, एवमप्पाणं समुक्कसे ।

व्याख्या—अथापरं नवमे क्रियास्थान मानप्रत्ययिकमाल्यायते । स यथा नाम कथितपुणोपेतः सन् जातिकुलवल्लभपतपःशुतलामैश्वर्यप्रजामदाख्यैरप्तमिदस्थानेरन्यतरेण वा मत्तः परमवस्थुद्वया हीलयति तथा निन्दति

द्वितीये शु० द्वितीयेऽ-  
ध्ययने नवम-  
‘क्रिया-  
स्थान-  
वर्णनम् ।

जुग्मसते गर्हति परिभवति, एतानि चैकार्थिकानि । यथा परिभवति तथा दर्शयति—‘इतरोऽयं’ जघन्यो हीनजातिकस्तथा मनः कुलबलहपादिभिर्मपअष्टः सर्वजनावगीतोऽयमिति, अहं पुनर्विशिष्टजातिकुलबलादिगुणोपेतः, एवमात्मानं समुत्कर्षयेदिति+ । साम्रांत्मानोत्कर्षविपाकमाह—

देहा चुए कस्मवितिए अवसे पयाइ, तं जहा-गडमाओ गव्हं जस्माओ जस्मं माराओ मारनरगाओ नरां, चंडे थद्धे चबले माणी आवि भवाति, यवं खलु तस्स तत्परित्यं साचज्ञति आहिजाति । नवमे किरियाठाणे माणवत्तिए[ न्ति ] आहिते [ सू० ३० ] ॥

नयाख्या—‘देहा चुए’चि, तदेवं जात्यादिमदोन्मतः सञ्चिहेच लोके गर्हतो भवति, \*जातिमदः कस्यचिन्न कुलमदोऽपरस्य कुलमदो न जातिमदः, अपरस्योभयं, अपरस्यातुभयमिति, एवं [पदद्वयेन चत्वारो भङ्गाः] पदद्वयेणाई, चतुर्भिः पोडयेत्यादि याचवदृष्टिभिः पदैः पदपञ्चाशाशुद्धिकं शतद्वयमिति, सर्वत्र मदाभावरूपश्चरमभङ्गः शुद्ध इति । परलोकेऽपि च मानीदुःखभागभवतीत्यनेन प्रदर्शयते । स्वाशुषः क्षये देहाक्षयुतो भवान्तरं गच्छन् शुमाशुमकर्मद्वितीयः कर्मपरायतत्त्वादवशः—

\* निन्दनीयः । + बद्धयमाणः ‘ तदेव ’ मिलादितः ‘ शुद्ध ’ इति पर्यन्तः पाठोऽन्तः आभाति । ‘ परलोकेऽपि ’ ति वाक्यं च ‘ भवती ’ल्यस्याये । इति द्विपाणं आगमोदयसमितिमुद्रितातु सर्वत्तिकप्रतिष्ठितु । ❁ “ अत्र च जात्यादिपदद्वयादिस्थोगा दृष्टव्याः, ते चैवं भवन्ति ” इति वृत्तो ।

धृयगडाङ्ग  
सुनं  
दीपिका-  
निवतम् ।  
॥ ४३ ॥

प्रतन्नः प्रयाति । त[य]थाहि (१) गभाद्दम् पञ्चेन्द्रियापेक्षं, तथा गभाद्दग्मं विकलेन्द्रियापेक्षं-विकलेन्द्रियापेक्ष-विकलेन्द्रियापेक्षमानः पुनरगभाद्दम्, एवमगभाद्दम्, एतच नरकवपरगभाद्दःखापेशया अभिहितम् । उत्पद्यमानादुःखापेशया विचदमभिवीयते— जन्मन एकस्मादपरजन्मान्तर वजति, मणान्मरणान्तर वजति । नरकदेशयावृ श्वपा कादिवामाद्रत्नप्रभादिरुक्तं नरकान्तर वजति, यदिवा नरकात्सीमन्तरादिकादुदर्थं सिंहमत्स्यदादुत्पद्य बुनरपि तीव्रतर नरकान्तर वजति । तदेवं नटादद्वज्ञभूमी संसार-चकवाले खींपुनपुन्सकारीनि वहन्यवस्थान्तराणपुनुभवति । तदेवं मानी परपरिभवे भवति ‘चण्डो’ रोदो भवति परस्यापकरोति, तदमावे शातमानं नयापादयति । तथा स्तब्धश्वपलो यतिकञ्चनकारी, मानी सत्र मर्चीऽप्तेतदवस्थो भवति । तदेवं मानप्रत्ययिकं सावर्यं कर्म्म बद्धयते । नवमं [ ए ] तदुक्रियास्थानमाल्यात्रमिति ।

द्वितीये  
श्रुतो  
द्वितीया  
इयं यनेन  
दशम-  
क्रिया-  
स्थान-  
वर्णनम् ।

अहाचरे दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवाचिष्टति आहिज्जाति । से जहा नामए केवळ पुरिसे माईहि वा पिईहि वा भाईहि वा भडणीहि वा भज्जाहि वा धूयाहि वा पुतेहि वा सुणहाहि वा सांझ्द संवसमाणे तेसि अव्ययरेसि वा [ अव्ययरंसि ] अहालहुणासि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवतेति । तं जहा—सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलिता भवति, उसिणोदगवियडेण वा कायं उसिसचिता भवति, अगणिकाएणं वा कायं उचडहिता भवइ, जोतेण वा वेतेण वा णेतेण वा ॥ ४३ ॥

तथाइ वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा पासाइ उदालेना भवइ, उंडेण वा अट्टीण वा लेल्हुण वा कवालेण वा कायं आउहिता भवति, तहपगारे पुरिसजाते संवसमाणे दुम्मणा भवति, पवसमाणे सुम्मणा भवति, तहपगारे पुरिसजाए दुङ्डपासी दुङ्डगुहए दुङ्डपुरकखडे आहिए इमांसि लोंगांसि आहिए परंसि लोंगांसि संजलेण कोहणे पिट्ठुमांसियावि भवति, एवं खंडु तस्स तप्पनियं सावज्जंति आहिज्जाति, दसमे किरियाठाणे मिन्नदोसवान्तिष्ठाति आहिते ॥ सू० । ११ ॥

न्याख्या—अथापं दशमं क्रियास्थानं मिन्नदोप्रत्ययिकमाख्यायते—तथाथा नाम कश्चित् पुलः प्रशुकलपो मारापितुषुहस्तजनादिभिः सादृ परिच्छेस्तेषां च मारापित्रादीनामन्यतमेनाऽनाभोगतया यथाकथच्छुतरेऽप्यपराये वाचिके दुर्बचनादिके तथा कायिके हस्तपादादिसङ्घटनरूपे कृते सति ‘स्वयमेव’ आत्मना क्रोधाचमातो गुरुतरं दण्डं दुःखोत्पादकं ‘निर्वचयति’ करोति । तथाशीतोदके ‘तस्य’ अपराधकरुः कायमधो बोलयिता भवति, तथोऽणोदकविकटेन कायं सिद्धायिता भवति, तत्र विकटप्रहणतेलेन काँजिकादिना वा कायमुपतापयिता भवति, तथाऽप्तिकायेनोलमुकेन तसायसा वा कायं उप[ दाहयिता ]तापयिता वा (?) भवति, तथा जो[ यो ]क्रेण वा, [ नेत्रेण वा ] ‘त्वचा वा’ सनादिकया लतया वाऽन्यतमेन वा दवरकेण ताढनातः ‘तस्य’ अलपापराधकर्तुः शरीरपाश्चाणि ‘उदालयितुं’ चमरीणिलुम्पयितुं ( प्रस्तुतो ) भवति, तथा दण्डादिना कायमुपताडयिता भवति, तदेवमलपापराधिन्यपि महाकोषदण्डवति तथा-

प्रकारे पुरुषजाते एकत्र चमति सति तत्सहवासिनो मातापित्रादयो दुर्मन्तमस्तदनिटाशुक्षया भवन्ति, तस्मैश्च देशान्तरं गच्छति तत्सहवासिनः सुमनसो भवन्ति । तथाप्रकारश्च पुरुषजातोऽल्पेऽप्यपराधे महान्तं दण्डं करपयतीति, तदेव दर्शयति— दण्डपाश्ची स्वल्पेऽप्यपराधे कुप्यति दण्डं च पातयति, दण्डेन गुरुको भवति, तथा दण्डपुरस्कृतः—सदा पुरस्कृतदण्ड इत्यर्थः । स 'चैवम्भृतः 'अस्मिंश्लोके' अस्मिङ्गन्मनि आहितः प्राणिनामहितदण्डापादनात्, रथा परस्मिन्नपि जन्मत्य- सावहितः, येनकेनचिलिमितेन क्षणे श्रुणे सञ्ज्ञकलीति सञ्ज्ञलनः, स चात्यन्तकोयनो वस्थवन्धुलिविच्छेदनादिषु शीघ्रमेव कियासु प्रवत्तते, तदमावेऽप्युक्तकटदेपतया मर्माद्विषद्वन्तः शुष्मिंश्ममपि खादेचरदसौ द्वयादेनासां परः सञ्ज्ञवलति, तदेवं तस्य महादण्डप्रवर्त्तितुरस्तदण्डप्रत्ययिकं साचयं कर्म वद्यते, तदेतदशमं कियास्थानं मित्रदोहप्रत्ययिकमारुप्यातिमितिः ॥ ४४ ॥

अहावरे एकारसमे किरियाठाणे मायाचातिएति आहिजति, जे इसे भवति गृहायारा तसो- कासिया उल्लगपतलहुया पवयशुरुआ, ते आरिया वि संता अणारियाओ भासाओ वि एपुंजांति, अद्वहा संता अपाणं अद्वहा मद्वांति, अद्वं पुट्टा + अद्वं वागांति, अद्वं आइविवयवं अद्वं

X “ अन्ये पुनरादमं कियास्थानमारम्होपप्रत्ययिकमाचक्षते, नवमं तु परदोपप्रत्ययिकं, दशमं पुनः प्राणशुक्तिकमिति ” हर्षकुलः । + यथपि दीपिकाप्रतिषु सर्वाच्च विष्णुं पुणे कृष्णांति असं० । इत्येवंत्वपः पाठोऽस्ति मूले, परं सशुक्तिकमुद्रितप्रतिषु । असं० । इत्येवंमूलोऽस्ति, अथो दीपिकायाम्बद्येवचिष्य एव विहित इत्यमेव मूले निरेषितः ।

आङ्कर्वंति ।

इयारुया—अथापरं एकादशं [ मायाप्रत्ययिं ] क्रियास्थानमारुयायते—ये केचनामी मवनित पुरुषाः गृहाचाराः गलकर्त्तव्यग्रन्थिष्ठेदादेयस्ते च नानाविद्युरुपायैर्विश्वमस्तपाय पश्चादपकुर्वन्ति, प्रद्योतादेरभयकुमारादिवत्, ते च मायाशील-रवेनाप्रकाशुचारिणः । तमःकापिणः—पराविज्ञाताः क्रियाः कुर्वन्ति, ते च स्वचेष्टयैव ‘उल्लकपत्रवल्लघ्वः’ क्रौशिकप[श]-त्रवल्घ्वीयांसोऽपि पर्वतवृहुरुमात्मानं मन्यन्ते, यदिवाऽकायंप्रवृत्तेः पर्वतवन्नो स्तम्भमितुं शक्यन्ते, ते चार्धंशोत्पकाः सन्तः भूतप्राया आत्मप्रचल्छादनार्थमपरभयोत्पादनार्थं वा अनायमाषाः प्रयुजन्ते, परव्यामोहाय स्वमतिप्रिक्लिप्तमाषाभिरपराविदिताभिर्माणन्ते, तथाऽन्यथा वा व्यवस्थितमात्मानमन्यथा—मात्राकारण मन्यन्ते व्यवस्थापयन्ति च, तथाऽन्यतृष्णा मात्रास्थानतोऽन्यदाचक्षते, यथाऽऽप्तमान् पृष्ठाः कोविदारकान्+ आचक्षते, वादकाले वा कश्चिद्व्यायवादितया व्याकरणे [ पृष्ठे ] प्रवीण [ प्रवणं ] सत(?)कंसारणमनतारयति, तथाऽन्यस्मित्वायै कथयितव्येऽन्यमेवार्थमाचक्षते । तेषां च मवर्थं विसंवादिनां कपटप्रश्वचतुरणां विषाकोऽवनाय हृषान्ते दर्शयितुमाह—

से जहा नामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले, तं सहुं नो सयं णीहरति नो अन्नेण चीहरावेइ नो पडिविद्वंसेति, एवमेव निपहवेइ, आविउद्दमाणे अंतो ज्ञिरि याति, एवमेव माई मायं कहुणो + ‘कोविदारो—युगपत्रः’ इति हैमवचनाऽन्तस्यति: ‘कचनार इति लोके ।

आलोपति नो पांडिकमाति नो निदइ नो गरिहइ नो विउहाति नो 'विसोहेइ नो अकरणयाए अबभुइह  
 नो अहारिहं तवोकमं पायचिछत्तं पडिवजाति, माईं असिं लोए पचायाति माईं परासि लोए  
 [ पुणो पुणो ] पचायाति । निदइ गरिहइ पसंसइ णिच्चराति, नो नियहाति णिसिरियं दुँडं आपति  
 मायी असमाहडसुहलेसे आवि भवाति, एवं खलु तरस तपपतियं सावजांति आहिजाति । एक्कार-  
 समे किरियाठाणे मायावातिपति आहिए ॥ सुन्न १२ ॥

व्याख्या—‘से जहे’त्यादि, तथथा नाम कश्चित्पुरुषः सङ्घ्रामादपकान्तोऽन्तःसशलयः, शलयघड्कनवेदनामीरु-  
 तया तच्छरयं न स्वतो निर्दरति—अपनयति नोद्दरति, नायनयेनोद्दरति नापि तच्छरयं वैयोपदेशेनौपधोपचारयोगादिभिरु-  
 पायैः प्रचंसयति, अन्येन केनचित्पृष्ठोऽप्यु वा तच्छरयं ‘एवमेव’ निष्प्रयोजनमेव निहतुते—अपलपति, तेन च श्रवयेना-  
 सावन्तर्बीर्जेना ‘अविउहमाणे’ति पीडयमानः ‘अन्तो अन्तो’ मध्ये मह्ये पीडयमानोऽपि ‘रीयते’ व्रजति, ततकर्ता-  
 वेदनामधिसहमानः क्रियासु प्रवर्चते । साम्रां दाष्टान्तिकमाह—‘एवमेवे’त्यादि, यथाऽसौ सज्जयो दुःखमाग् भवत्येव  
 मेवासौ ‘मायी’ मायाशब्दयवान् यत्कृतमकार्यं तन्मायया निग्रहपत्तमायां कृत्वा न तां मायामन्यस्मै ‘आलोचयति’,  
 कथयति नापि तस्मात् स्थानात् प्रतिकामति—न ततो निरचते, नायामसाक्षिकं तन्मायाशब्दं निन्दति, तदथापा-  
 चिद्दमां ! यदहमेवमधुतमकार्यं कर्ममोदयात्कृतवान् । नापि परसाक्षिकं ‘गर्हति’ आलोचयति नापि च उग्रस्ते तथा

द्वितीये शु-  
 द्वितीये-  
 द्वयने  
 एकादशम-  
 किया-  
 स्थान-  
 वर्णनम् ।

‘नो विउड्ड’ इति नापि तमायाश्वर्णं विशेषयति, ‘अपुनःकरणतया न निवर्तयती त्वर्थः । + [ नापि तमायाऽऽदिकमंकार्ये  
 सेवित्वाऽलोचनाऽहीयाऽहमानं निवेद्य तदकार्याकरणतया�ऽवृत्तिहुते, प्रायश्चित्तं प्रतिपद्धापि नोद्युक्तविहारी भवतीत्यर्थः ।  
 तथा नापि गुर्बादिमिरभिः व्यामानोऽपि यथाऽमकार्यनिर्वहणयोग्यं प्रायश्चित्तं—शोधयतीति ग्रायश्चित्तं तपःकर्म् विशिष्टं  
 चान्द्रायणाद्यात्मकं ‘प्रतिपद्धते’ अभ्युपगच्छति । ] नो यथायोग्यं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्धते, तदेवं मायया सत्कार्यप्रचल्लाद-  
 कोऽस्मिंसेवक लोके मायावीतयेवं सर्वकार्येवाविश्वासणत्वेन ‘प्रत्यायाति’ प्रहृयति याति, तथाभृतश्च सर्वस्याविश्वाः[स्यो]  
 सो ( ? ) भवति । तथाऽतिमायावित्वादसौ परलोके सर्वाघमेषु यातनास्थानेषु नरकतिर्यगादिषु पौनःपुन्येन प्रत्यायाति—  
 भयोभूयस्तेष्वेवारघडघटीन्यायेन प्रत्यागच्छति । तथा नानाविष्वैः प्रपञ्चेभ्वयित्वा परं ‘निन्दिति’ जुगुप्तस्ते, तदथा—  
 अयमज्ञो मूर्खः पशुकल्पो, नानेन किमपि प्रयोजनामित्येवं परं निन्दिति आहमानं प्रशंसयति, तथाऽऽत्मप्रशंसया  
 तुष्यन्ति, एव चासो लब्धप्रसरोऽधिकं तथाविद्याउषुप्तायी भवति । निश्चापति—तमाहृस्यानान्न निन्दिते । तथाऽस्ती मायया  
 ‘दण्डं’ प्राणुपमदकारिणं ‘निषुड्य’ पात्रियित्वा पश्चाच्छादयति—अपलपति अन्यस्य[ वा ]उपरि प्रक्षिपति । स च मायावी  
 सर्वदा वश्चनपरायणः संस्तनमनाः मर्चाउषुप्तानेऽप्येवमभूतो भवति—‘अमसाहृता’ अनज्ञीकृता गोमता लेङ्या येन स तथा,  
 आर्चाद्यानोपहततया अशोभनलेक्ष्य इत्यर्थः । तदेवमपगतधर्मद्व्यानोऽपमाहितोऽशुद्दलेक्ष्यश्चापि भवति । तदेवं तस्य  
 मायाश्वर्णप्रत्ययिकं सावद्यं कर्मधीयते, तदेवदेवकादशं क्रियास्थानं मायाप्रत्ययिकं न्याहृयात्म् ।

+ [ ] नास्तेवत्विद्वान्तर्गतपाठः प्रस्तुतरेषु ।

अहावरे वारसमे किरियाठाणे लोभवचिष्टति आहिजति—जे इमे भवंति, [ तं जहा— ] आरादिया  
आवसहिया गांमंतिया कणहुई राहस्तिया नो बहुपडिविरया सबपाणभूयजीव-  
सत्तेहि, ते अपणा सच्चासोसाई पैवं विः[ प ]उंजाति—अहं न हंतवो अक्षे हंतवा, अहं न अजावेयवो अक्षे  
अजावेयवा, अहं न परिधेचवा, अहं न परितावेयवो अक्षे परितावेयवा, अहं न  
उद्देवेयवो अक्षे उद्देवेयवा, एवामेव ते इहिथकामेहि मुचित्या गिद्धा गढिया अज्योववक्ता  
जाव वासाईं चउंपचमाईं छहसमाईं अपयरो वा भुजयरो वा भुंजितु [ भोग ]भोगाईं कालमासे  
काळं किच्चा अक्खयरेसु आसुरिष्टु किडिवसिष्टु ठाणेसु उचवत्तारो भवंति । ततो विष्पुच्चमाणा  
भुजो भुजो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जातिमूयत्ताए पच्चायंति, पैवं खलु तस्स तपतिं सावजंति  
आहिजति, दुवालसमे किरियाठाणे लोभवाचिष्टति आहिए । इच्छेयाईं दुवालसकिरियाठाणाईं  
दविष्टां समणेण वा माहणेण वा समं सुपरिजाणियवाणि भवंति ॥ [ सू. १३ ] ॥

चार्ल्स—अथ दादरं क्रियास्थानं लोभप्रत्ययिकमाखयायते, [ तयथा ]—य इमे बह्यमाणा अश्वे वसन्तयारपकास्ते

द्वितीवे  
शुरू  
द्वितीये-  
इयते  
दादशम-  
क्रियास्था-  
तवर्णतम् ।

॥ ४६ ॥

च कन्दमूलफलाहारः सन्तः केचन वृक्षमूले चमनित, केचन ‘आवसयेषु’ शूद( शूड )वा[उटजा]कारेषु गृहेषु, तथाऽपरे  
 ग्रामादिकमुपजीवन्तो ग्रामसमीपे वसन्तीति ग्रामान्तिकाः, कचिच( कदाचिच )त्कार्ये मण्डलप्रवेशादिके रहस्यं येषां ते राहसिकास्ते  
 च ‘न बहुसंयताः’ न सर्वसाक्षात्तुष्टुतेभ्यो विरतो, एतदुकं भवति—न बाहुल्येत श्रसेषु दण्डसमाइसमं विद्युति,  
 एकेन्द्रियोपजीविनस्त्वविगतानेन तापमादयो भवन्ति, तथा ‘न बहुविरता’ न सर्वेभ्य प्राणतिपात्रविमणादिवतेषु  
 चर्चन्ते, किन्तु द्रव्यतः कतिपयब्रतवर्तिनो, न मावतो, तत्कारणस्य समयगदशेनस्यामावादित्यभिप्रायः । इत्येरदेवाऽ  
 विभावियितुमाह—‘सठवपाणे’ल्यादि, ते द्वाराण्यकादयः सर्वप्राणपृतजीवसत्त्वेभ्य ‘आत्मना’ स्वतोऽविरताः— तदुपमदकादा-  
 रमादविरता इत्यर्थः । ते पाषणिङ्का आत्मना । बहुनि स(त्य)त्यामृषाभृतानि चाक्यानि ‘एवं’ चक्ष्यमाणनीत्या विशेषण  
 प्रयुजन्ति, यदिवा सत्यान्यपि तानि प्राणपृष्ठमर्दकत्वेन युषाभृतानि स(त्य)त्यामृषाणि, एवं ते प्रयुज्जन्तीति दर्शयति, तद्यथा—  
 अहं ब्राह्मणत्वात् हन्तव्योऽन्ये तु शूद्रत्वाद्दन्तव्याः, तथाहि तदाक्षयं—‘शूद्रं व्यापाच्य प्राणायामं +जपेत् किञ्चिद्वा-  
 दयात्, तथा ‘शूद्रसत्त्वानामनस्थिकानां ग्रकटभरमपि नयापाच्य ब्राह्मणं मोजये’दित्यादि, अपरञ्चाहं वर्णोत्तमचाल आज्ञा-  
 पयितव्योऽन्ये तु मत्तोऽन्माः[ उभमाः ]ममाज्ञापयितव्याः, तथा नाहं परितापयितव्याः [ अन्ये तु परितापयितव्याः ],  
 तथाऽहं वेतनादिना कमर्मकरणाय न ग्राह्यः अन्ये तु शूद्रा ग्राहा × हृति । किम्बहुतोक्तेन ! नादमुपदावयितव्यो—न  
 जीवितादयरोपयितव्योऽन्येत्व( तु )पदावयितव्या हृति । तदेवं परपीडोपदेशनतोऽविमुदतयाऽसमच्छदप्रलापिनमज्ञानावृताना-

+
 शासप्रश्नासरोघनम् । × मूले ग्रहणसूत्रानन्तरं परितापसूत्रमस्ति ।

मात्ममरीणं विषमहटीनां न प्राणतिपातविरतिरुपं वतमस्ति, तथा मृपाचादतादानविरमणाभावोऽप्ययोजयः, अधुना त्वनादिमवाच्यासाद्दुस्त्यजत्वेन प्राधान्यात्पूर्वेवावृण्वाग्निः॥धिक्त्वयाग्निः॥ एवामेवे 'त्यादि, 'एवमेव' पूर्वोक्तेनव कारणेनाति-  
मृढतया परमार्थमजानात्मास्ते तीर्थिकाः स्त्रीपु कामेषु च शब्दादिषु सूर्क्षिता गृद्वा ग्रथिता अव्युपपत्ताः यावद्वृष्टिणि चतुष्पञ्च-  
पद्वदशकानि, अयं च मध्यमः कालो गृहीतः, प्रायस्तीर्थिका अतिकान्तवयस एव प्रवर्जन्ति, तत्र च ते त्यक्त्वाऽपि गृहवासं-  
भृच्छा मोगमोगानिति ते च किल वर्यं प्रवजिता इति वदन्तोऽपि न भोगेभ्यो निष्ठुताः, येतो मिळ्याहृष्टियाऽङ्गानान्व-  
त्वात्सम्यग्निवरतिपरिणामरहिताः, ते चैवम्भूतपरिणामाः स्वायुपः शये कालमासे कालं कृत्वा विकृष्टपतसोऽपि सन्तोऽन्यतरे-  
चासुरिकेषु किलिवपिकस्थानेषुत्पादयितारो भवन्ति, ते यज्ञानतपसा मृता अपि किलिवपिकेषु [स्थाने] पूर्वपतस्यन्ते, तस्मादपि  
स्थानादायुपः ल्यादिप्रमुच्यमानाः किलिवपयहुलास्तरमेशेषेण एलमूरुभावेनोत्पद्यन्ते, यथा एडमूरुकोऽव्यक्तवाभवति एवम-  
सावप्यवक्तव्याकस्युत्पयते, तथा 'तस्मयताए चिति तमस्त्वेन-अत्यन्तान्धतमसत्वेन जात्यानघतयाऽत्यन्तानाधुततया  
[वा] तथा जातिमृकतया-उपगतवाच इह प्रत्यागच्छन्तीति । तदेव मध्ये खलु तीर्थिकानां सावधानुष्ठानादनिवृचानां तत्प्रथ-  
यिकं सावद्यं कर्मधीयते, तदेतत्क्षेमप्रत्ययिकं दादर्शं कियास्थानमाल्यातमिति । इत्येवमर्थदण्डादीनि लोभप्रत्ययिकिया-  
स्थानप्रयवमानानि द्वादशं क्रियास्थानानि + 'दविकेण' मुक्तिगमनयोग्येन श्रमणेन माहनेन एतानि 'सम्पर्ग' यथाव-  
स्थितस्वरूपनिरूपणतो मिळ्यादर्थानाऽभितानि संसारकारणानीति कृत्वा ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहर्त्वयानि ।

+ "कर्ममन्त्र द्वावणाऽवचः:-सुयमः, स विष्टते यस्यासौ द्रविकस्तेन" इति हृषे० ।

द्वितीये  
श्रुत०  
द्वितीयेऽ-  
इप्यन्ते  
दादशम-  
क्रिया-  
स्थान-  
वर्णनम् ।

आहावे तेरसमे किरियाठाणे इरियाचाहिएन्ति आहिजाति—इह खलु अतताए संबुद्धस्स  
 अणगरस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स प्रसणासमियस्स आचाणभंडमत्तनिकवेनणासामि-  
 यस्स उच्चारपासत्रणखेलासिंधाणजळपारिद्वाचणीयासामियस्स, मणसामियस्स वयसामियस्स काय-  
 समियस्स, मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स, गुत्तिदियस्स गुत्तवंभचारिस्स, आउतं गच्छ-  
 माणस्स आउतं चिठ्ठमाणस्स आउतं निसियमाणस्स आउतं तुयद्दमाणस्स आउतं भुंजमाणस्स  
 आउतं भासमाणस्स आउतं चत्थं पाडिगाहं कंचलं पायगुळं गिळमाणस्स वा निकिखवमाणस्स  
 वा जाव चक्कुपमहनिवायमवि अतिथ वेमाता सुहुमा किरियाचाहिया नाम कजइ, सा  
 पढमसमए बळा पुढा, वितियसमए वेइया, तइयसमए निजिणणा, सा बळा पुढा उदीरिया  
 वेइया निजिणणा, सेयकाळे अकस्मए यावि भवइ, एवं खलु तस्स तप्पतियं सावजाति आहिजाति,  
 तेरसमे किरियाठाणे इरियाचाहिएन्ति आहिज[ए]ति । “तेरसमे किरियाठाणे इरियाचाहिएन्ति

\* ♫ एतचिन्दन्तर्गतो मूलपाठो नास्ति शुद्धितासु सद्वितिकप्रतिष्ठु हयंकुलीयदीपिकास्वपि, परमेतदीपिकास्वपि चर्वस्वप्यस्ति,

स्वयगडाङ्ग  
स्वं  
दीपिका-  
न्तिरम् ।

॥ ४८ ॥

आहि[ते]ता\* । से वेभि जे अतीया जे य पडुपपद्मा जे य आगामिस्सा अरहंता भगवंता सब्बे ते  
एयाइं चेव तेरस किरियाठाणाइं भासिंसु वा भासिंस्ति वा भासिस्संति वा, पद्माविंसु वा पद्माविंति  
वा पद्माविस्संति वा, एवं चेव तेरसमं किरियाठाणं सोर्विंसु वा सोविंति वा सोविस्संति वा ॥ [सू० ३४॥]

व्याख्या—अथापरं व्रयोदणं क्रियास्थानमीर्यापियं नामाल्यायते—इह स्वलु प्रवचने संयमे वा [ आत्मनो भाव ]  
आत्मत्वं, तदर्थसात्मत्वाय संवृत्य अनगरस्य ईर्यादिमितस्य तथा क्रियात्प्रियस्य गुमेन्द्रियस्य नक्षत्रम् चर्यास्य-  
चारिणश्च सतः, तथोपयुक्तं गच्छतस्तितुतो निषेदतस्त्वर्वतनां कुर्विणस्य, वयोपपुक्तमेव च च प्रदद्वं कम्बलं पादप्रोक्तुनकं  
वा युक्तो निक्षिपतो वा, यावचशुःपद्मनिपातपद्मपुक्तस्याध्यादिः विद्यते विविधा मात्रा  
[ विमात्रा ], तदेवंविधा वृक्षमाक्षिपद्ममञ्जलनरूपादिकंपर्याप्तिका नाम क्रिया केनलिनाऽपि क्रियते, तथाहि—सयोगी जीवो न  
शक्तोति शणमप्येव निश्चलः श्वातुं, अनितायमनोदक्षत्कार्यणशरीरातुगतः मदा परिवर्तयन्नेगास्ते, केवलिनोऽपि

किन्तु सर्वेषामपि क्रियास्यानानामुपसदाहस्रसूत्रवदशापि । आहिजती 'त्यथ रथाने ' आहिते ' वा ' आहिए ' इति भवितुमर्हतीत्युद्द-  
बोधनार्थं लेपरकादिभिः पुनरुक्ततया लितितो भविष्यतीति सम्भावनायां न किमपद्ययुक्तवं प्रतिभासते । × " ईरां—ईरा,  
वा पन्था ईर्यापयः स विषये यस्य तदीयापयिः, एतच शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रष्टुतिनिमित्त तु इन्—सर्वत्रोपयुक्तय निरुक्तपायय  
समीक्षितमनोबाकायक्रियाय या[ क्रिया ]तथा यत्कर्म वरदीयपरिष्कं सैव वा क्रिया ईर्यापयिकम्" इति हर्ष० कुलः ।

द्वितीये  
श्रुतो  
द्वितीया-  
व्ययते  
त्रयोदशम-  
क्रियास्था-  
तवर्णनम् ।

॥ ४८ ॥

द्वृष्टमग्रात्रसञ्चारा भवन्ति, तथा क्रियया यद् बहुयते कर्म तस्य च कर्मणो या अनस्थास्ताः क्रियाः, ता एव दर्शयितुमाह—  
 ‘सा पहमसमयेऽत्यादि, याइमावकपायिणः क्रिया तया यद्भयते कर्म, तत्प्रथमसमय एव बद्धं स्पृष्टं चेति कृत्वा तत्क्रमेव  
 बद्धस्पृष्टेष्टयुक्ता, तथा द्वितीयसमये वेदिता दुर्तीयमये निजीणि, एतदुक्तं भवति—कर्म योगनिमित्तं बह्यते, तत् स्थितिं अ-  
 कपायायत्वा तदभावाच न तस्य सांप्रायिकसयेव स्थितिः, किन्तु योगसङ्गावाद्यमानमेव ‘स्पृष्टतां’ संशेषं याति, द्वितीय-  
 समये त्वं त्वं त्वं यते, तच्च प्रकृतितः सातावेदनीय स्थितितो द्विस्मयस्थितिरुपपातिकदेवसुखालिति-  
 शायि प्रदेशतो बहुप्रदेशमस्थिरबन्धं बहुच्ययं च । तदेवं सा ईर्यापिथका क्रिया प्रथमसमये बद्धस्पृष्टा द्वितीये समये उदिता  
 वेदिता निजीणि भवति । ‘सेयकाले’ चिं आगामिनि वृत्तीयसमये तत्कर्मप्रिक्षया अकर्मतापि च भवति । एवं तावद्वी-  
 तरागस्येयर्प्रत्ययिकं कर्म ‘आधीयते’ सम्बद्धयते । तदेतत्रयोदशामं क्रियास्थानं व्याख्यातं, ये पुनस्तेभ्योऽन्ये प्राणिनस्ते पां  
 सांप्रायिको बन्धः । तेषां त्वीर्यप्रथमवजाणि द्वादशक्रियास्थानानि, तेषु(?) वर्तन्ते, तेषां च तद्वार्तिनामसुमतां मिथ्यात्मा-  
 विरतिप्रमादकपाययोगनिमित्तः साम्परायिको बन्धो भवति, स त्वनेकप्रकारस्थितिकः, तद्रहितस्तु केवलयोगप्रत्ययिको  
 द्विस्मयस्थितिरेवेयप्रत्ययिक इति स्थितम् । एतानि त्रयोदशक्रियास्थानानि न बद्धमानस्वामैवोक्तानि, किन्तवन्येवपीत्ये-  
 तदर्शयितुमाह—‘से वेमी’ त्यादि, सोऽहं ब्रवीमि—यत्प्रागुकं तदुत्कृशीपि इति, तद्यथा—येऽहन्तोऽतिकान्ताः, ये च वच-  
 मानाः, ये चागामिनि काले भविष्यन्ति, ते सर्वेऽन्येवं +प्ररूपितवन्तः प्ररूपयन्ति प्ररूपयितवन्तः, तथैतदेव त्रयोदशं किं ।

+ ‘अभापिषुः भाषन्ते भाषिष्यन्ते च । तथा तत्सर्वरूपतस्तद्विद्याकरत्वे’ ति द्वृष्टदुक्ता ।

स्थानं सेवितवन्तः से गन्ते सेवित्यन्ते च, यथा हि-जग्नुदीपे द्वयद्वयं तुलयप्रकाशं भव[तः]ति यथा चा सहशोपकरणः प्रदीपासतुलयप्रकाशा भवन्तरेवं तीर्थकुर्तोऽपि निराचरणत्वात्कालयचार्जितोऽपि तुलयोपदेशा भवन्ति ।

साम्रांप्रतं त्रयोदशहु क्रियास्थानेतु यत्वाभिहितं पापस्थानं तद्रिमणिपुराह—

अद्वृत्तरं च एवं पुरिस्त्रिविजयविभंगमाइकिरनस्तामि ।

व्याख्या—अस्मात्त्रयोदशक्रियास्थानप्रतिपादनाद्वतर यदत्र न प्रतिपादितं तदनेत यद्रमन्दमेण प्रतिपाद्यते-पुरुषविजयविमङ्गोऽपि च विभद्धवद्यधिविषयविर्यवद्विभग्नो चानकियानिशेषमाल्यास्थामि-प्रतिपादयिष्यामि । यादशानां चासौ गगति ताँछेशतः प्रतिपादयिष्यतुमाह—

इह खलु नाणापणाणं नाणाछंदाणं नाणास्तीलाणं नाणादिट्टीणं नाणारुद्दीणं नाणारंभाणं नाणाउच्चाणं नाणावसंजुत्ताणं नाणाविहपावसुयवद्द्वयाणं एवं भवति, तं जहा—

व्याख्या—हेद खलु जगति, नानाप्रकाशा विचित्रक्षयोपजग्मात्प्रता नेपां ते नानाग्राहस्तेपां, तथा छन्दो-उपिप्रायः, \* “ पुरुषा ‘ विचीयन्ते ’ मृग्यन्ते-विशानदोरेणान्वेषणते गेन स उरुपविचयः उरुपविचयो वा-केषाङ्गादलपसद्वता सेन शानलवेनाविषयप्रयुक्तेनानधीतुरन्विषया विजयादिति ” तुलदृगुतो । “ जिज्यो नागमार्गा, विविधो विशिष्टो वा विभागो-विभक्तः, तं पुरिस्त्रातविभग्ना आङ्गिरसामि ” इति चूर्ण ।

स नाना येषां ते तथा, तेषां, नानाशीलानां, रथा नानारुप्या दृष्टि—रन्तःकरणप्रवृत्तियेषां ते तथा, तेषामिति, तथा नानारुचियेषां ते नानारुचयस्तेषां, तथाहि—आहारशुयतासनानाडनाभरणयानकाहनगीतमादिकादिपु मध्येऽन्यस्यान्यान्या रुचिर्मत्तिः, तेषां नानारुचीनामिति, तथा नानारुभाणामिति कृषिपाशुपालयविपणिशिदपकर्मसेवाधन्यतमारम्भेण, तथा नानाऽङ्गयमायसंयुतानां शुभाशुभाइयनसायमाजामिति, इहलोकप्रतिबद्धानां परलोकनिःप्रापानां विषयदृष्टिनामिदं नानाविधं पापश्रुताइययनं भवति । तद्यथा—

भोमं उपपायं सुविणं अंतालिकखं अंगं सरलकखणं ( लक्खणं ) चंजणं इतिथलकखणं पुरिसलकखणं हयलकखणं गोणलकखणं मिंडलकखणं कुकडलकखणं तिनिरलकखणं वडगलकखणं लावगलकखणं चक्कलकखणं छत्तलकखणं चम्मलकखणं दंडलकखणं आसिलकखणं मणिलकखणं कागिणिलकखणं सुभगाकरं दुडभगाकरं गबभाकरं मोहणकरं आहवाणि पागसास्तणि दव्वहोमं खच्चत्ति [ खत्तिय ] विज्ञं चंदचारियं सुक्कचारियं वहस्तातेचारियं उक्कापायं दिसादाहमियचक्रं वायसपरिमंडलं पंसुबुट्ठि केसबुट्ठि मंसबुट्ठि रुहिरबुट्ठि वेतालिं अद्वेतालिं ओसोवाणिं तालुग्घाडणि सोवाचा [ निं ] गिणि साचारि दामलि कालिंगि गोरि गंधारि उवत्ताणि उपयणि जंभिणि

थंभणि लेसणि आमयकरणि विसल्लकरणि पक्षमणि अंतङ्गाणि 'आयमणि, एवमाइयाओ विजाओ  
 अन्नस्स हेउं पउंजंति पाणस्स हेउं पउंजंति वत्थस्स० लेणस्स० सयणस्स० अन्नोस्सि वा विलवरुवाण  
 कामभोगाणं हेउं पउंजंति, तेरिच्छं ते विज्ञं सेवंति, अणारिया विटपडिवज्ञा कालमासे काळं  
 किच्चा, अह्नयराहं आचुरियाहं, किन्निचिसियाहं ठाणाहं उवचतारो भवंति, +ते ततो विष्पुच्चमाणा  
 मुज्जो एलमूयताए तमअंधयाए पच्चायंति । ( सू० १५ )

व्याख्या—भ्रमो भवं औं-निधीतभूकम्पादिन्, उत्पातं-कपिहसितादिकं, स्वरनं-गजसिहबुमादिकं× अंगं-अशि  
 चाहस्फुरणादिक, स्वरलक्षणं-काकस्वरगमभीरस्वरादिकं, लक्षणं-यवपञ्चादिकं, वयस्ज्ञनं-मपतिलकादि, तथा स्त्रीलक्षणं  
 [ रक्तफरचरणादिकं, एवं ] गुरुपलक्षणादीनां काकिणीरत्नपर्यन्तानां लक्षणप्रतिपादकशास्त्रपिज्ञानं, तथा मन्त्रविशेषप्रसा विद्या,  
 तथाहि-सौमायकरां, दुर्मियकरां, तथा 'गर्भकरां' गर्भाधानविधायिनीं, मोहकरां-वयामोहोतपादिकां, आर्थर्णी-सघोडनर्थ-  
 कारिणीं, तथा 'पाकशासनीं' इन्द्रजालसंज्ञिकां, तथा नाताविधरहन्त्यैः कणवीरपुष्पादिभिः दृतमहादिभिःहवं, तथा क्षत्रि-  
 याणां विद्या धरुवेदादिका( तां ), तथा ज्योतिषप्रमधीत्य नवापारयन्ति, 'चंदचरिय' मित्यादि, चन्द्रचरिं वर्णसंस्थान-

+ नास्ति एतो शब्दो सघुचिकमुद्वितप्रतिषु । × 'तथाऽऽन्तरीक्षं-अमोघादि' इति बुद्धयुतो ।

द्वितीये श्रू०

द्वितीये-  
इयते-  
पापशुत-  
वर्णनम् ।

प्रमाणप्रभानक्षयोगराहुग्रहणादिकं, सूर्यचरितं-सूर्यस्य मण्डलपरिमाणराशिपरिभोगोद्योताचकाशशाहूपराशादिकं, तथा  
 शुक्रचारो वीथीत्रयप्रचारादिकः; तथा द्वृहस्यपतिचारः [ उदयास्तत्त्वपूर्फलादि ] शुभाशुभफलप्रदः संवत्सराशिपरिमोगादिकः,  
 तथोलकापातदिग्दाहाश्च वायव्यादिषु मण्डलेषु भवन्तः शस्त्रादिनक्षुतपीडाविधायिनो भवन्ति, तथा सूर्यमृगालादीनां आरण्य-  
 कर्जीवानां रुतदर्शनग्रामनगरप्रवेशादौ ( या ) शुभाशुभचिन्ता तन्मुग्नाचक्र, तथा वायनादीनां पश्चीणां यत्र स्थानदिक्स्वराचा-  
 अयणात् शुभाशुभफलं चिन्तयते तदायसपरिमण्डलं, तथा पांशुकूशमौपरुषिरादिवृष्टयोऽनिष्टफलदा यत्र। याह्वै चिन्तयते,  
 तथा विद्या नानाप्रकाशः क्षुद्रकर्मकारिण्यस्तात्रेषाः—वैताली नाम विद्या नियताश्रप्रतिबद्धा, सा च किंल कर्तिभिर्जपिदं उ-  
 मुख्यापयति, तथाऽद्वैताली तमेवोपशमयति, तथाऽन्नस्वापिनी+प्रमुखाः सर्वा अपि विद्या ज्ञातव्याः । तदेवमादिकाः  
 प्रज्ञियादिकाश्च गृहान्ते, एताश्च पापणिङ्का अविद्यितपरमार्था गृहस्था चा द्रव्यलिङ्गधारिणोऽन्नपानाचार्य-  
 प्रशुद्धन्ति, अन्येषां चा विरूपूपाणां काममोगानां कृते प्रशुद्धन्ति । मामान्येन विद्यासेवनमनर्थकारीति दर्शयितुमाह—  
 ‘तेरिश्च’मित्यादि, तिरक्षीनां सदुउषानविधायितीर्तो ते अनायार्य विप्रतिपत्ता विद्यां सेवन्ते, यद्यपि ते भाषायाः क्षेत्रायार्थत-  
 थाएयनार्थकर्मकारित्वादनायार्य एव दृष्टव्याः । ते च स्वापुषःश्ये कालमासं काल कृत्वा यदि कथयित्वेवलोकगामिनो मचन्ति,  
 ततोऽन्यतरेऽज्ञासुरीयेषु किलिविपिकादिस्थानेषुत्पत्त्यन्ते, वतोऽपि विप्रमुक्ता यदि मनुष्येषुत्पद्यन्ते, तत्र च तत्कर्मशेषतया

+ “ तालोद्योगादीनी खापाकी शाकी द्राविडी कालिङ्गी गोरी गान्धारी अवपत्ती उत्पत्ती जमिनी स्तम्भनी झेपिणी आमय  
 कारिणी विश्वस्यकारिणी अन्तर्दर्शनकारिणी ” इति इष्ठ० ।

स्वयगडाक्ष

स्वं  
दीपिका-  
निवरम् ।

एडमूकत्वेनावयक्तमापिणस्तमस्तवेनान्धतया सूकतया ना प्रत्यागच्छन्ति । तरोऽपि नानाप्रकारेु यातनास्थानेऽन्तं

नारकतिंगादिपृत्पथन्ते ।  
साम्प्रतं गृहस्थानुदिक्षयाबसंपक्षासेवनमुच्यते—  
से एगड़ओ आयहेउं वा पायहेउं वा, सयणहेउं वा अगारहेउं वा परिचारहेउं वा नाय[ गं वा ] हेउं वा (?) सहवासियं वा पिस्साए ।

॥५१॥

व्याख्या—म एकः कहाचित् कोऽपि गृहस्थः निस्त्रिंशः साम्प्रतापेक्षी अपगतपरलोकभयः कर्मप्रतन्त्रः सुखमोग-भिन्नत्र शात्मनिमित्तं यानि कर्केशानि कर्मणि कुरुते तान्याह—‘आयहेउं वा,’ आत्मनिमित्तं, तथा ज्ञातयः स्वजनास्त्रिभिन्नं, तथा ‘अगारनिमित्तं’ गृहसंस्करणार्थं, सामान्येन वा कुहम्याऽर्थं [ वा ] परिचारनिमित्तं दासीदाम-कर्मकरादिकृते, तथा ज्ञाता एन ‘ज्ञातकः,’ परिचितस्तमुहिक्य ‘महन्तासिकं’ प्रातिवेदिमकमुहिक्य, प्रतानि च इयमाणनि कुर्यादिति मम्बन्धः । तानि च दर्शयितुमाह—

अदुवा अणुगामिए १, अदुवा उच्चरए २, अदुवा पाडिपाहिए ३, अदुवा संधिच्छेदए ४,  
अदुवा गंठिच्छेदए ५, अदुवा उरबिभए ६, अदुवा सोयारिए ७, अदुवा वायुरिए ८, अदुवा साताणिए  
९, अदुवा मान्चित्तए १०, अदुवा गोवालए ११, अदुवा गोघायए १२, अदुवा सोवाणिए १३, अदुवा ॥५२॥

द्वितीये श्रुत० द्वितीये-  
द्वितीये-  
द्वयने गृहस्थनि-  
श्रिताधर्म-  
स्थान-  
वर्णनम् ।

## सोतणियंतिष्ठ १४ ।

नयाख्या—अथवा ‘आनुगामिकः’ कश्चिदकार्यकरणाय गच्छति, तमनुगच्छति, अथवा अकार्यकरणाय, अथवाऽपकार्यकरणाय।—अथवा उपचारको मवति, अथवा तस्य प्रातिपथिको मवति, ‘प्रतिपथं’, मन्मुखमागच्छति, अथवा कर्त्तर्यपकारकृते विश्वमनाय उपचारको मवति, अथवा तस्य प्रातिपथिको मवति, ‘प्रतिपथं’, मन्मुखमागच्छति, अथवा स्वजननाद्यर्थं मन्थच्छेदकश्चापि ( ग्रन्थच्छेदकश्चापि ) मवति—चौर्यं प्रतिपद्यते, तथोर्भ्रै-मेवेशरति, औराञ्चिको मवति, [ अथवा सौकरिकः ] अथवा शाकुनिभिश्चरति शाकुनिको मवति, अथवा ‘वाग्रया’ मृगाऽदिवन्धनरञ्जना चरति रक्षकः ×[ वाग्रिः ], अथवा मत्स्येश्वरति मा[त्स्यकः]चित्कः, अथवा गोपालभावं प्रतिपद्यते, अथवा गोधातकः स्थाव, अथवा श्वपिश्चरति शौचनिकः—शूनां परिपालको मवति, अथवा सृगयां कुर्वन् श्वभिस्मृगचातं करोति । अथेतानि चतुर्दशस्थानानि आदितो विवृणोति—

से एगतिओ आणुगामियं भावं पाडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता छेता भेता हंता से एगतिओ आणुगामियं भावं पाडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता छेता भेता हंता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्वइत्ता आहारेति इति से महया पाचोहं करमेहि अचाणं उत्तरवा-हंता भवइ ॥ १ ॥

नयाख्या—तत्रैकः कश्चिदात्मप्राद्यर्थं अपरस्य ग्रामान्तरं गच्छतः किञ्चिद्द्रव्यजातमवगम्य केटके गत्वा अवसरं लठडा-  
× मूले शाकुनिकवाग्रिकयोः स्थाने वाग्रिकशाकुनिकयोरिति व्यत्ययेन निर्देशः ।

स्थयगडाङ्ग  
सूर्यं  
दीपिका  
निवतम् ।  
॥ ५२ ॥

तद्द्रव्यं गृहीतुमनः पथिकं [ दण्डादिभिः ] हन्ता भवति, तथा छेता भवति खङ्गादिभिः; तथा मेता [ वज्रपुष्पादिभिः ] लृपयिता—केशाकर्णणादिकद्यनतः; तथा विलुप्यिताऽत्यन्तं दुःखमुत्पादयति, तथा उपद्रवावयति जीविताद्वयपरोपयति । तद्यमादिकं कृत्वा ३३हरमाहारयति, एतदुक्त भवति—गलकर्त्तकः कश्चिदन्यस्य धनवतोऽतुग्रामुकभावं प्रतिपद्य तं बहुविद्य-रूपायैर्विश्रम्ये पातयित्वा, भोगार्था—मोहन्य इहलोकार्था तस्य धनवतो गलकर्त्तनादिकं कृत्वा तस्य द्रव्यजातमादाय ३३हारादिकां भोगक्रियां विषये, इत्येवमसौ ‘महङ्गिः’ क्रूरः ‘कर्मभिः’ रुष्टान्महापातकमृतेस्तीवातुभावेवरात्मानमुपरुपर्याप्यिता भवति । तथाहि—असौ महापापकरीत्येवमात्मानं रुपयति । तथा लोके तद्विषयाकाङ्क्षपादितेनावस्थाविशेषेण नारक-तिर्यगादिगतावात्मानमारुपयता भवति ॥ १ ॥

से एगद्वांशो उवच्चरणभावं पाठिसंधाय तमेव उवच्चरितं हंता छेता भेता जाव आहारं आहारेति, इति से महया पावेहि कम्मोहि अन्ताणं उवकर्खाहन्ता भवति ॥ २ ॥ द्रव्यारुप्या—एकः कश्चिदकर्त्तव्यकारी कस्यापि धनवतो धनं जिष्टुः उपचारकभावं प्रतिमन्द्वाय पश्चात्त नानाविद्य-रूपायैरुपचरति, उपचर्य च विश्रम्ये पातयित्वा तद्रव्यार्था तस्य हन्ता छेता मेता यावदप्राचारयिता मवतीत्येवमसौ [ आत्मानं ] महङ्गिः पाणीः कर्मभिरुपराहयाप्यिता भवतीति ॥ २ ॥

से एगद्वांशो पाडिपदियभावं पाडिसंधाय तमेव पाडिपहे ठिच्चा हंता छेता जाव उदवइता

द्वितीये श्रुतं  
द्वितीयेऽ-  
ध्ययने  
उपचरक-  
माव-  
वण्ठनम् ।

॥ ५२ ॥

आहारं आहारेति इति से महया पावेहि कर्ममोहिं अत्ताणं उचकखाइता भवति ॥ ३ ॥  
व्याख्या—अथेकः कश्चिदागन्तुकस्य पथिकादेव्यनवतः प्रतिपथिकभावं प्रतिपथ्यते—सम्मुखं गत्वा प्रचलन्ते मार्गं बद्धवा  
तिष्ठति, ततः प्रतिपथे स्थित्वा तस्यार्थतो विश्रम्भतो हन्ता छेता यावदपद्रावयिता भवतीत्येवमसाचात्मानं पापैः कर्ममिः  
ख्यापयतीति ॥ ३ ॥

से एगतिए संधिच्छेदग्रभावं पाडिसंध्याय तमेव संधिं छेता भेता जाव इति से महया पावेहि  
कर्ममोहिं अत्ताणं उचकखाइता भवति ॥ ४ ॥

व्याख्या—एकः कश्चित्पुरुषो विरूपकर्मणा जीवितार्थीं सन्धिच्छेदकभावं खत्रखननत्वं प्रतिपथते, ततोऽसो  
‘सन्धिं छिन्दन्’ खात्रं खनन् प्राणिनां हन्ता छेता भेता भवतीत्येतच कृत्वाऽऽहाशयतीत्येवमसौ महद्विः पापकर्ममिः  
संसारे अमति ॥ ४ ॥

से एगतिए गंठिच्छेद[ग]भावं पडिसंध्याय तमेव गंठिं छेता भेता जाव इति से महया  
पावेहि कर्ममोहिं अटपाणं उचकखाइता भवति ॥ ५ ॥

व्याख्या—अथ कश्चित्पापकर्मकारी द्वृष्टुरादिता ग्रन्थिच्छेदकभावं प्रतिपथ तमेव हन्ता छेता यावत् परदृश्यमादाय  
कर्मबन्धं करोति, ततः संसारे पर्यटतीति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

प्रयागडा-

पूर्णं

दीपिका-  
निवर्तम् ।

॥ ५३ ॥

से एगतिए उरडिभयभावं पाडिसंधाय उरवमं वा अन्नतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवकखा-

इत्ता भवइ, एसो आमेलावो सबवथ ६ ।

व्याख्या—कश्चिदधम्मवृत्तिः ‘ औरश्चिकभावं ’ औरणिकभावं प्रतिपद्यते, स च औरश्चिकस्तदर्थंया तन्मांसादिना वाऽऽहमानं वर्तयति, तदेव मसौ तद्वावं प्रतिपद्य उरमं वा अन्यं वा त्रसं वा (?) ग्राणिनं स्वमांपुष्यर्थं व्यापाहयति, तरय वा दन्ता छेता भवतीति, शेषं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

से एगतिए सोयारियभावं पाडिसंधाय महिसं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवकखा-इत्ता भवति ॥ ७ ॥

व्याख्या—कश्चिदृत् शौ( व )निक+भावं ( शौचनिका )शाण्डला: खाटिकास्तदृभावं प्रतिपद्यते, शेषं पूर्ववत् ॥ ७ ॥  
से एगहओ वागुरियभावं पाडिसंधाय मियं वा अन्नयरं वा तसं वा पाणं हंता जाव उवकखा-इत्ता भवति ॥ ८ ॥

व्याख्या—कश्चित्पापत्ता ‘ वागुरिकभावं ’ लुङ्घकर्तं प्रतिपद्य वागुरया मूर्ग अन्यं वा शसं प्राणिनं शशकादिकमात्म-+ “ अन्नतरे सौकरिकपदं, तस रवुद्देश इयास्त्रेय, सोकरिकाः—श्वपचाश्चाण्डालाः सहिका इत्यर्थः ” इति वृत्तो ।

द्वितीये  
श्रुत०  
द्वितीया—  
द्वयने  
वागुरिक-  
माच-  
यणनप् ।

॥ ५३ ॥

पुष्ट्यर्थं स्वजनाद्यर्थं वा व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ ८ ॥

से एगड़ओ साउणियभावं पडिसंधाय सउणियं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खवा-  
इता भवद् ॥ ९ ॥

व्याख्या—कश्चिद्वभोपायजीवी ‘शुकुना’ लावकादयस्तेवरति, ततश्च तन्मांसाद्यर्थी ‘शकुनि’ पश्येण [अन्यं चा]  
तितिरादिकं व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ ९ ॥

से एगड़ओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खवा-  
इता भवाति ॥ १० ॥

व्याख्या—कश्चिन्मातिस्यकभावं प्रतिपद्यते, तद्भावं प्रतियथ जलचरजीवान् व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ १० ॥  
से एगड़ओ गोदायगभावं पडिसंधाय गोणं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खवाइता  
भवद् ॥ ११ ॥

व्याख्या—यथा कश्चिल्कूरकमंकारी गोदायगभावं प्रतिपद्यते, शेषं पूर्ववत् ॥ ११ ॥  
से एगड़तीओ गोपालगभावं पडिसंधाय तमेव गोणं [ अन्नयरं वा तसं पाणं ] परिजाविय

ध्यगडाङ्-  
स्त्रं

दीपिका-  
न्वितम् ।

परिजाविय हंता जाव उवकखाइता भवति ॥ १२ ॥

व्याख्या — कथित् गोपालकभावमादृत्य ‘ गोणं ’ वृपमं गोकुलाह्नालयित्वा ‘ परिजाविय परिजाविय ’ पृथक्कृत्य तस्य हन्ता छेता इत्यादि पूर्णवत् ॥ १२ ॥

॥ ५४ ॥

से एगतिओ सोवणियभावं पडिसंधाय मणुसं [ सुणयं ] वा अक्षयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारेति, इति से महया पावेहि कम्मेहि अत्ताणं उवकखाइता भवति ॥ १३ ॥

व्याख्या — कथिज्जघन्यकर्मकारी, सौ[ शौ ]चनिकमावं (—पापाद्विभाव प्रतिपद्यते ), सारमेय गृहीत्वा आखेटककियाँ करोति, तेन वृशशकूरादिक व्यापादयति, शेवं पूर्वकत् ॥ १३ ॥

से एगतिओ सोवणिय[ यंति ]यभावं पाडिसंधाय मणुसं वा अक्षयरं वा तसं पाणं हंता छेता जाव आहारेति, इति से महया पावेहि कम्मेहि अत्ताणं उवकखाइता भवति १४ । [ सू० १६ ] व्याख्या — अथेकः कथिन्महाकूरकमर्मकारी प्रत्यन्तनि गासी क्रूरमारमेयपालको दृष्ट सारमेयप्रियं प्रतिपद्य मनुष्यं कञ्चन दथिकं—अम्यागतमन्य वा सुगश्चकूरादिकं त्रसं प्राणिनं हन्ता भवति, तदेवमसौ महाकूरकमिग्रात्मानमुपरुद्यापयिता भवतीति ॥ १४ ॥ आजीविकाये पापकर्म उक्तं, अथ केनापि हेतुना यत्पापं क्रियते तदाह—

द्वितीये श्रुतो—  
द्वितीया-  
इपयने सौवनि-  
कान्तिक-  
भाव-  
वर्णनम् ।

॥ ५४ ॥

संतेगतिया मणुस्सा परिसामज्ज्ञाओ उट्टेता अहमेयं हणासि ति कहु तिनिरं वा वहगं वा  
लावगं वा कवोतगं वा कविजलं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उचक्खाइता भवति ॥

व्याख्या—अथैकः कश्चिन्मां मादनेन्द्रुया व्यमनेन क्रीडया कुपितो वा परिषदो मध्यादुथायैवभूतां प्रतिज्ञां विद्ययत्,  
यथाहमेन्व वृद्धमाणं प्राणिनं हनिद्यामीति प्रतिज्ञा कृतवा पञ्चात्तिरिगदिरं हन्ता लेता याचदातमानं पापेन कर्मणा रुप्या-  
पयिता भवतीति । अत्र पूर्वपत्राभ्यकुद्वा अभिहिताः, साम्प्रतमपराधकुद्वान्दशयति—

से एगईओ केणवि आयाणेण विरुद्धे समाणे, अदुवा खलदाणेण अदुवा सुराथालएण गाहा-  
वतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएण सस्साइं झामेइ अनेण वि अगणिकाएण  
सस्साइं झामेइ अगणिकाएण सस्साइं झामंतं पि अन्तं समणुजाणति, इति से महया पावेहि  
कर्मोहि अताणं उचक्खाइता भवति ।

व्याख्या—अथैकः कश्चित् प्रकृत्या कोघनः केनापि हेतुना कुपिनः मन् परस्यापकृयत्, तत्र शब्दादानेन केनचिदा-  
कृष्टो निनिदतो वा विरुद्धेत, रूपादानेन तु बीमतं कश्चन वृष्टाऽपशकुनाइयवसायेन कुण्डेत, गत्वरसादिक त्वादानं स्फृणेन  
दशयत—[ अथवा ] ‘खलस्य’ कुथितादिविशिष्टस्य दानं खलके [ खलस्य ] वाऽपव्यान्त्यादेदर्त्तं, तेन कुपिताऽप्यवा

मृषगदाम्  
पूर्वं  
दीपिका-  
निवत्पु-

संरायाः ‘‘स्थानकं’’ कोशकादि तेन विवक्षितलाभाभाचात् कुपितो गृहपत्यादेरेतकुर्यादित्याह—स्वयमेवाग्निकायेनाग्निना स्वलक्षणानि ‘शस्यानि’ धन्यानि ‘भास्यानि’ ब्राह्मणेऽद्वैदन्तेन वा दावयेदहर्तो वाऽन्तप्रान्तसमगुजारीयादित्येवमसौ महापा- कर्मभिगमानसुपरब्यापयिता भवति । साम्प्रतमन्येन प्रकारेण पापोपादानमाह—

से पृथग्इओ केणह आशाणेण विरुद्धे समाणे अदुचा खलदाणेण अदुचा सुराथालएण गाहा-वतीण वा गाहाचावित्पुत्ताण वा उद्वाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गदभाण वा सयमेव घूराओ करपेति अक्षेण वा कट्टपावेति करपंतं [ पि ] अन्नं ससणुजाणति, इति से महया जाव भवति ।

व्याख्या—अर्थकः कश्चित्केनचित् खलदानादिनाऽद्वैदन्तेन गृहपत्यादेः कुपितस्तप्यनिधनं उद्दृशेः स्वयमेवात्मना-पर्यादिना ‘घृतिग्रा[ घूरा ]’ओ चिं जह्नाः\* खलका वा । करपयति, लिङति अन्येन वा छेदयति अन्यं वा छिन्दन्ते समरुजानीते, हत्येवमसाचात्मानं पापेन कर्मणा उपरुपापयिता भवतीति । किञ्च—

से पृथग्इओ केणह आदाणेण विरुद्धे समाणे अदुचा खलदाणेण अदुचा सुराथालएण गाहा-वतीण वा गाहाचावित्पुत्ताण वा उद्वसालाओ वा गोपासालाओ वा घोडगसालाओ वा गदभ-

दितीये-  
श्रुतो  
दितीया-  
इयते-  
प्रकारा-  
तरते-  
पापो-  
पादान-  
वर्णनम् ।

\* ‘द(ङ्ग)क्षा(॥)’ इति प्रत्यन्तरे । “जह्नायवयवाच” इति हर्ष० ।

सालाओ वा, कंटगबौद्धियाहि पाडिपिहिता सयमेव अगणिकाएणं ज्ञामेइ अनेण वि ज्ञामोवेति  
ज्ञामतं पि अन्तं समणुजाणाति, इति से महया पात्रकममेहि उपकर्खाइता भवति ।

व्याख्या—अथेकः कश्चित्केनचित्रिमितेन गृहपत्यादेः कृपितस्तस्मवन्धीनामुद्धारीनां ‘शाला’ गृहणि कण्ठक-  
शाखाभिः ‘पिधाय’ स्थगयित्वा स्यमेवाभिनकायेन दहेत्, शेषं पूर्ववत् ।

से एगतिओ केणइ आदाणेण विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेण अदुवा सुराथालएणं गाहा-  
वतीण वा गाहाचतिपुताण वा कुंडलं वा माणि वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरति अन्नेण वि  
अवहरणोवेति अवहरन्तं [ पि ] अन्तं समणुजाणाति, इति से महया जाव भवति ।

व्याख्या—अथेकः कश्चित्केनचिदादानेन कृपितो गृहपत्यादेः समवनिधकुण्डलादिकं द्रव्यजातं स्वयमेवापहरेदनशिं  
पूर्ववत् । सामप्रतं पाषण्डकोपरि कृपितः सत् यत्कृपातदशयति—

से एगइओ केणइ आदाणेण विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेण अदुवा सुराथालएणं समणाणं  
वा माहणाणं वा छत्रां वा दंडगं वा भंडगं वा मत्तगं वा लट्टिगं वा भिसिगं वा चेलगं वा  
चिलिमिलिगं वा चम्मगं वा चम्मचेषणां वा चम्मकोसियं वा सयमेव अवहरति जाव समण-

स्थगडाक  
स्थं  
दीपिका-  
निवर्तम् ।

जाणति, इति से महया जाव उचकवाहना भवति ।  
व्याख्या—अथैरुः कश्चित्प्रदर्शनानुरागेण वा वादपराजितो वा[इन्येन] केनचिन्निमित्तेन वा कृषितः मनेतक्षयत्—  
अमणानां शाकयादीनां माहनानां वा केनचिदादानेन हृषितः मन् इष्टुक्त्यादिःक + मुष्टुरण जातमपहरेत्, अन्येन वा  
दारयेत् अन्यं वा हरन्त ममतुजानीयादित्यादि पूर्णव् । एवं तागद्विरोधिनोऽभिहिताः साम्रां इतरेऽभिवीयन्ते—  
से एग्गहओ नो वितिगिर्छइ [ तं जह[— ] गाहाचरतीण वा गाहाचातिपुत्राण वा सर्यमेव अगणि-

द्वितीये—  
श्रुत०  
द्वितीयेऽ-  
इपयते  
पापो•  
पादान्-  
प्रकार-  
वर्णनम् ।

काएणं ओसर्हीओ ज्ञामेति जाव अञ्चपि इमामंतं समषुजाणाति, इति [ से ] महया जाव भवति ।  
व्याख्या—कश्चित्पुरुषोऽल्यन्तमपूर्वतया नो ‘वितिगिर्छइ’ न सचेतति विष्टुगते, यथाऽनेन कार्येण कुतेन परलोके  
महते दुःखाय भवित्यीति न गीमासतेऽतिमूर्खत्वाद्, मरीयमिदगुणानं पापानुभूतिवेचं न पर्यालोचयति, ततश परलोक-  
विरोधिनीक्रियाः कुर्यात् । एतदेवोदेशतो दर्शयति, [ X तत्यथा—गुहपत्यादेतिनिमित्तमेव—तत्कोपकरणमस्तुरेणी न ‘स्वयमेव  
आत्मना ‘अग्निरायेन’, अग्निना ‘ओपधीः’, शालिवीषादिकाः ‘इपापयेद्’ दहेत्तथाऽन्येन दाहयेदहन्ते च समतु-

+ “ भाण्ड किञ्चिद्ब्रह्म ‘मात्रा’ पात्र ‘लहुंगं’, गढ़ि ‘पिपिम’ वृपी आमनमिति याचत् ‘चेलक’ वस्त्र ‘चिलिमिलं’,  
प्रचलादान्तपटी ‘चमंकं’, पाढ़कादि ‘चमंकठेदनं’, शब्दादि ‘नर्मलोश’ शस्त्रसेपकोलथलं ‘शयपपहरेत्,’ इति इद० ।  
X [ ] प्रत्यक्षिन्दृष्टान्तर्गतः पाठो चाक्षित सर्वाच्चपि शीषिकाप्रतिक्षेपो शुद्धदृष्टितोऽन्योऽनुतः ।  
॥ ५६ ॥

जानीयादित्यादि ।

[ से एगड़ओ णो वितिंछड़इ, ] तं जहा—गाहाचैर्डण वा गाहाचातिपुत्ताण वा उद्धाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्भाण वा सयमेव घुराओ कर्पेति अद्रेण वा कर्पावेति अन्नं पि कर्पंतं समणुजाणति ॥ १ ॥ से एगतिओ णो वितिंछड़ति, तं जहा—गाहाचर्तीण वा गाहाचातिपुत्ताण वा उद्धाणसालाओ वा जाच गाद्भसालाओ वा कंटगबौद्धिशा [ हिं ]ए पडिपिहिता सयमेव अगणिकाएण झामेइ जाच समणुजाणति ॥ २ ॥ से एगतिओ णो वितिंछड़ति, तं जहा—गाहाचर्तीण वा गाहाचातिपुत्ताण वा कुंडलं वा जाच मोन्तियं वा सयमेव अवहरति जाच समणुजाणति ॥ ३ ॥ से एगतिओ णो वितिंछड़ति, [ तं जहा— ] समणाणं वा माहणाणं वा [ छुत्तरं वा ] दंडगं वा जाच चम्मच्छेद् [ ण ]गं वा सयमेव अवहरति जाच समणुजाणति ॥४॥ इति से महया जाच उचकखाइता भवति । व्याख्या—एते आलापकाः पूर्ववद् व्याख्येयाः, विशेषस्त्वयं—प्राक्ततेष्वालापकेषु केतापि कारणेन कृपितः सन पापक्रियाः कुरुते, अत्रालापकेषु निर्थकं पापं गुह्याति, अयं विशेषः । साम्रांत विपर्यस्तदृष्ट्या आगाढमिथ्यादृष्ट्योऽभिधीयन्ते—से एगतिओ समणं वा माहणं वा दिस्सा नाणा विहेहि पाचकम्मेहि अन्ताणं उचकखाइता भवति ।

व्याख्या—अथेकः कश्चिन्मध्याहिरभद्रकः साधुं हृष्टा प्रत्यनीकतया श्रमणादीनां निर्गुह्णतां प्रविशतां स्वतश्च  
निर्गुह्णत् प्रविशन् चा नानाविष्यः पायोपादानभूतेः कर्मभिरत्मानहुपलग्नप्रियता भवतीत्येतदेव दर्शयति—  
अदुच्चाणं अच्छराए आफालिता भवति अदुच्चाणं फलसं वादिता भवति कालेण वि से अण्प-  
विहुस्स असणं चा ४ जाव नो दवाविता भवति, जे इमे भवन्ति वोत्तमंता भारुक्तता अलसगा-  
वसललया किञ्चणगा समणगा पवर्यन्ति ।

व्याख्या—अथवेति पश्चान्तरोपग्रहार्थी, कचिद्यमापुदर्शने सति मिथ्यात्वेऽपदत्वादितया अपशकुनोऽयमित्येवं मन्यमानः  
सन् उपिष्ठादपमारयन् माधुपुदिक्षयाच्चयाऽप्सराया—शुदुटिकाया आस्फलालयिना भवति, अथ चा तिरसकारमापादयन् परुषं  
दचो बूयात्, तद्यथा—ओदनमुण्ड ! निर्वर्थकागकलेशपरायण ! दुर्बुद्धे ! अपमरायतः, ततोऽसौ शुदुटि विद्यादसभं वा  
बूयात्, तथा भिक्षाकालेनापि तस्य भिक्षोऽन्येभ्यो भिक्षा चरेभ्योऽनु-पश्चात्प्राणिष्ठय सतोऽसौ अन्नादेनो दापयिता भवति  
अपरञ्च दानोदयां निषेषयति, तत्प्रत्यनीकतया एन् बूते—ये इमे पापिडला गरन्ति ते एवमभूता मनन्तीत्याह—‘ योक्तमंत ! ति  
दुणकाष्ठादारादिकमध्य[म]मर्म[१]कर्म[२]मर्म[३]भारेण—कुडुम्य[भारेण पौदुलिकादि]मारेण याऽक्षकान्ताः ’ पराभानाः  
सुखलिप्तस्वोऽनमाः—कमागतं कुदुम्यं पालयितुमपमर्थीः, ते पापण्डमाश्रयन्ति, तथा ‘ वसलग ’ सि ‘ वृपला ’ अपमा:  
वाहूजातयः, तथा ‘ कृष्णः ’ कलीमा अकिञ्चिकरणः अमणा भवन्ति, प्रवदयां गृहन्तीति ॥ ५७ ॥

ते इणमेव जीवितं धिजीवितं संपादिबृहिंति, नाइ ते परलोगसस अद्वाए किंचि वि सिलीसंति, ते दुखंति ते सोयंति ते जुरंति ते तिपंति ते पिंडति ते परितपंति ते दुक्खण-सोयण-ज्ञुरण-तिपण-पिहण-परितपण-वह-बंधण-परिकलेसाओ अपडिविरता भवंति । ते महया आरंभेण ते महया समारंभेण ते महया [ आ]रंभसमारंभेण विलवरुवेहि॑ पावकस्मकिच्चेहि॑ ओरालाइ॑ साणुस्सगाइ॑ भोगभोगाइ॑ भुंजित्तारो भवंति ।

न्याहया—‘ ते हणमेवे॑ त्यादि, ते हि साधुवगापवादिनः सद्गम्प्रत्यनीका॑ ‘ इदमेव जीवितं ’ परापत्रादेवघटन-जीवितं ‘ द्युग्जीवितं ’ साधुनिन्दापरायणं कुत्सतजीवितं [ सम्प्रतिबृहिन्ति ]-एतदेवासद्गुच्छजीवितं प्रशंसन्तीति, ते चेहलोके प्रतिबद्धाः साधुनिन्दाजीवितो सोहान्ध्याः साधुनपवदन्ति, न च ते साधुनामनुष्टानं स्वलपमपि॑ ‘ क्लृप्यन्ति॑ ’ समाश्रयन्ति, केवलं ते चोभिः साधुन् ‘ दुःखयन्ति॑ ’ पीडामुत्पादयन्ति, तथा तेज्ज्ञानान्धास्तत्कुर्बन्हित येनाधिकं शोचन्ते परानपि॑ शोचयन्ति॑ दुम्पितादिभिः शोकश्वोत्पादयन्ति, तथा ते पराचृ॑ ‘ जूरयन्ति॑ ’ गहन्नित तथा॑ ‘ तिष्यन्ति॑ ’ सुखात्॑ च्याचयन्ति॑ आत्मानं परांश्च, तथा॑ अपुष्टयमर्णः असदउष्टानैः स्वतः॑ पीडयन्ति, तथा॑ ते पापेन कर्मणा॑ ‘ परितप्यन्ते॑ ’ अन्तर्द-सन्ते॑ परांश्च परितापयन्ति, तदेवं ते सद्गुच्छसन्तो॑ दुःखनशोचनादिक्लेशादप्रतिवरताः॑ सदा॑ मवन्ति, एवम्भूताश सन्तस्ते॑ महताऽऽस्मेण महता॑ समारम्भेण प्राणिपरितापनरूपेण तथोमायामप्यारम्भसमाप्त्यां॑ ‘ विरुप्लृप्त्य॑ ’ नानाप्रकारैः॑

सावधाऽनुष्ठानैः पापकर्मकृत्यैरुदारान्मात्र्यकान् भोगभोगान् [ ते ] सावधाऽनुष्ठायिनो भोक्तारो मन्त्रिति । एतदेव दर्शयति ।  
तं जहा—अन्नं अन्नं अन्नकाले पाणं पाणकाले चत्थं चत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले,  
[ स ] पुवावरं च णं पहाए कथकोउयमंगलपायनिछते सिरसा पहाए कंठे मालकडे  
आविद्धमणिसुचणो कटियमालामउली पडिबद्धसरीरे वग्धारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे अहत-  
चत्थपरिहिते चंदणो [ किन्नगायसरीरे महातिमहालियाए कुडागारसालाए महाति महालयंसि  
सीहासाणंसि इत्थीगुम्मसंपरिबुडे सबराइएणं जोइणा य क्षियायमाणेणं महया हयनहगीयवाइय-  
तंतीतलतालतुडितघणमुङ्गपडुपवाइयरवेणं औरालाहं माणुस्सगाहं भोगभोगाहं भुंजमाणो विहरह ।

न्याहया—तथथा—अन्नमन्नकाले यथेष्टिसं तस्य पापानुष्ठानात्सम्पद्यते, एवं पानवस्त्रशयनात्मनादिकमपि यथाकाले  
सर्वमपि सम्पद्यते, यद्यदा प्राच्यर्थते ततदा सम्पद्यते, हत्याभिलिपितार्थप्राप्तिसेव लेशतो दर्शयति, तथथा—विभूत्या स्नातः तथा  
कुरं देवतादिनिमितं चलिकर्म येन स तथा, तथा कुतानि कोतुकान्यवतारणकादीनि तथा मङ्गलानि—दध्यक्षतचन्दनादीनि  
तथा दुःखप्रपत्तिघातकानि प्रायश्चित्तानि [ येन स ] कृतकैतुकमङ्गलप्रायश्चित्तः, + तथा कलिपतमालामुक्तीदि [ () ] प्रति-  
वित्वमस्ति ।

+ तथा “ शिरसि स्नातः नानाविष्विलेपनावलिस्त्रे ” ति वृहद्वृत्तौ । अन्न वृत्तिकृदभिप्रायेण मूले कतिचित्पदानां प्राकपञ्चाङ्ग-

दितीये शु०  
दितीये०  
द्ययने  
इहलोक-  
प्रतिबद्धा-  
नामा-  
रमादि-  
व्येव रति-  
त्वम् ।

बद्धशरीरः [ द्वावयवः ], तथा ' बग्गारियं ' ति प्रलभिष्ठं ' श्रीणीमूर्खं ' कटिपूर्वं मल्लदामकलापः, × तदेवं स यथोक्त-  
भूषणमूर्षितः ' महतिमहालियाए ' ति विस्तीर्णयां कूटाकारशालायां ' महतिमहालये ' विस्तीर्णं सिहासने समुपविष्टः  
' हीयुलमेन ' युवतिजनेन माद्वमपरिचारेण ' सम्परिवृतो ' वेष्टित; महता गीतवादित्रतन्त्रयादिरचेणोदारान् मातुर्य-  
कान् मोगमोगान् शुजानो विहरति ।

तस्स पं एगमावि आणवेमाणसस जाव चतारि पंच जणा अबुत्ता चेव अबभुद्दंति ।

व्याख्या—तस्य च प्रयोजने समुत्पन्ने सति एकमपि पुरुषमाङ्गापयतो यावच्चत्वारः पञ्च वा पुरुषाः अबुका एव  
समुपतिषुन्ते, ते च किं कुर्वाणाः ? एतद्वक्यमाणमृच्छस्तव्यथा—  
भण[ह] देवाणुषिपया ! किं करेमो ? किं उवणेमो ? किं उवट्टे[आचिंडा] मो ?  
किं भे हियं इच्छियं ? किं भे आसगसस सदाति ? । तमेव पासित्ता अणारिया एवं वर्दंति—देवे  
खलु अयं पुरिसे देवसिणाए खलु अयं पुरिसे देवजीविणिजे खलु [ अयं ]पुरिसे, अन्नोविचिय ]  
उवजीविति, तमेव पासित्ता अरिया वर्दंति—अभिकृतकूरकममे खलु अयं पुरिसे, अतिधृते

× “ अहतं अखण्डितं वक्ष परिहित येन स तथा, चन्दनेन ‘ उत्कुंभं ’ सिक्त ‘ गात्रं शरीर लारीरावचया यस्य स तथा,  
नानाविधविलेपतावलिस इत्यर्थः । ” इति दर्श० ।

स्थगड़ाङ्ग-  
सं

सीपिका:  
निवतम् ।

॥ ५९ ॥

अइयायरवखे दाहिणगामिए नेरहए कणहपकिखए आगमिस्ताणं दुल्लहबोहियाए यावि भाविस्सइ ।

व्याख्या—मण स्वामिकाज्ञापय, बन्धा वर्ण, येन भवताऽप्येवमादिक्षयन्ते, किं कुर्म ? इत्यादि सुगमं, याचप् हहयेविसत्-  
मिति, तथा किञ्च ‘मे’ युष्माकं ‘आस्यकस्य’, मुखस्य ‘स्वदते’ स्वादु प्रतिमाति ? [अयचा] यदेव त्वदीयआस्यात्-  
‘श्रवति’ निर्गच्छति तदेव वर्ण कुर्मः । तथा तमेव राजां तथाकीडमानं द्वाऽन्येऽनायीः एवं चदन्ति, तद्यथा—देवः  
खलवयं पुरुषस्तथा ‘देवस्तातको’ देवश्रेष्ठो यहनामुपजीव्यः । तथा तमेवासदतुष्टायिनं द्व्या ‘आयीः’ विवेकिनः—सदा चारा  
एवं द्रुते—अभिकान्तकूरकर्मा खलनयं पुरुषो, हिंसादिप्रवृत्त इत्यर्थः । तथाऽस्मी ‘धृयते’ रेषुवद्वायुता संसारचक्कवाले  
प्रापयते येन तद्दूरं—कर्म अटप्रकारं यस्य सोऽप्तिपूर्वः, तथा अतीवात्मनः पापैः कर्ममिः रक्षा यस्य स आत्मरथ्यः, संसारे  
नहुभिः पापकर्ममिः वहुकालं स्थास्यतीति भावः, तथा दक्षिणदिग्गामी, यो हि कूरकर्मां साधुनिनदापरायणः साधुदान-  
निषेषकः स दक्षिणदिग्गामुको भवति, दक्षिणात्येषु नरकतिर्यहमनुहयाऽमरेषुपत्पद्यते, ‘नेरहए’ हयादि, नरकेषु भवो  
नारकः, तथा कृष्णपाक्षिकःX, इदपुर्कं भवति—प्रायेण दिक्षु मध्ये दक्षिणा दिग्प्रशस्ता, गतिपु नरकगतिः, पश्योः कृष्णपक्षः,  
तदस्य साधुप्रदेषमतेदानान्तरायविधायिनो दिग्दादिकं सर्वेमपशस्तं दर्शितं, अन्यदपि यदप्रशस्तं गत्यादिकमबोधिलाभादिकं  
तद्योजनीयमस्येति । एतद्विपरीतस्य साधुप्रशंसावतः सदतुष्टानपरस्य अदक्षिणगामुकत्वं उद्देत्वतं शुक्लपात्रिकत्वं उमातुष्टाया-  
तस्य सुलभमोयित्प्रमित्येवमादिकं सद्दमर्तुष्टायिनो भवतीति । साम्रातमुपसंजिधुक्षुराह—

X “ तथा आगमिनि काले नरकाद्वयुर्हो दुर्लभन्नोधिकश्चायं चाहुन्येन भविष्यति ” इति वृहदद्वयुतो ।

द्वितीये  
श्रुतो  
द्वितीयेऽ-  
इयत्यते  
दुर्लभ-  
बोधित्व-  
मारम-  
प्रतिवदा-  
नाम् ।

॥ ५९ ॥

इच्छैयस्त ठाणस्स उद्दिया वेगे अभिगि[उङ्गं]क्ति, अणुद्दिया वेगे अभिगि[उङ्गं]क्ति, अभि-  
 जंज्ञाउरा अभिगि( उङ्गं )क्ति, एस ठाणे अणारिए अपडिपुत्रे अणेयाउए असंसुद्दे-  
 असल्लगतणे असिद्धिमगे अमुतिमगे अनिजाणमगे असवदुक्खवधीणमगे । एंगंत-  
 मिच्छे असाहू, एस खलु पहम(स्स) ठाणस्स अधममपक्खस्स विभंगे एवमाहि[ए] जाति ( सू० १७ )  
 व्याख्या—इथेतस्य पूर्वोक्तस्य स्थानस्येष्वप्लक्षणस्य शृङ्खारमुलस्य साँमारिकस्य परित्यागवृद्ध्वा ‘एके’ केचन  
 विपर्यस्तमतयः प्रपाणिकोत्थानेनोत्थता! परमार्थमजाताना । अभिगिज्ञंति ‘ति आभिमुहयेन लुभयन्ते-लोभवजगा-  
 भवन्तीत्थर्थः । तथा ‘एके’ केचन साम्प्रतेक्षिणस्तस्मात्स्थानादतुपस्थिता गृहस्था एव सन्तुः ‘अभिझंघस्त’ ति,  
 शङ्खा-दृष्णा, तदातुराः सन्तोऽयेषु अत्यन्तं लुभयन्ते, अतो ष्ट्रोतस्थानमनादर्थं महापुरुषेऽनाचीणं, तथा ‘अकेवलियं’  
 अगुद्दमिति, अस्मिन् स्थाने न केवलज्ञानाचावस्थिति भावः । तथाऽपरिपूर्णमित्रपुरुषाचीणत्वाच्चासा सहृणविरहातुच्छं, तथा-  
 इन्द्रेयायिकं-न्यायमार्गाद्वद्दिः, [ असंशुद्द-समलं ] तथा ‘असल्लगतणं’ ( असल्लगतं- ) इन्द्रियासंवरणरूपं अथवा न  
 शुल्यकर्तनं, न सिद्धिमार्गः, तथाऽपेक्षयलक्षणायाः मुक्तेन मार्गस्तथा अनिवार्यमार्गः; तथा अनिर्यणमार्गस्तथा न  
 सर्वदुःखानं प्रक्षीणमार्गः । कुत एवमभूतं तस्थानं? इत्याशङ्क्याह—एतत्स्थानमनादर्थमेकान्तेन मिळयात्वरूपं, अत एव  
 असाधुः, असदाचारत्वान्न ह्यं संत्युलप्रेक्षितः पन्था, येतास्मिन्मार्गे विषयान्वयः प्रत्यंते, एताचातादयं प्रथम[स्त्वय] स्थान-

स्थानम् पथुदय पापोपादानभूतदय ' विभौ ' विग्रेषः स्यरुपमिति । माम्प्रतं दिनीं धम्मोपादानभूत पथानश्रित्याह—

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिजाति—इह खल्तु पाइणं वा पडीणं वा

उदीणं वा दाहिणं वा संतेगद्या मणुस्सा भवन्ति, तं जहा—आरिया वेगे उच्चागोया

वेगे नीयागोया वेगे हस्समंता वेगे सुवद्वा वेगे दुरुच्चा वेगे दुरुच्चा वेगे, तेसि च णं खेत्तवद्यूणि परिगहियाइं भवन्ति, एसो आलाचगो जहा पुण्डरीष तहा नेयबो, जाव सव्वाओ (वसंता)सव(ताए)याओ (?) परिनिबुडे ति वेमि, एस ठाणो आरिष केवले जाव सघडुक्खवपहीण-मग्गे एंगंतसम्मे साहू दोच्चस्स ठाणगस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते ॥ ( सू० १८ ) ॥

व्याख्या—अयमालापकः सुगम एम, यथा पुण्डरीकाल्यगने तयेतापि मर्ने निरायां गणितङ्गं, यावत्ते । एन ' पूर्वोक्तेन प्रकारेण सर्वेभ्यः पापस्यानेभ्य उपशान्ताः, तथा अत एत यावत्तागा परिनिर्णा इत्यहमेवं ब्रमीमि । तदेव नेतरस्थानं कर्गलिनं प्रतिपूर्णे नैयायिकमित्यादि प्राचनदिव्यपूर्णे नेय, यादुदितीयस्य स्थानस्य पादिमकस्येषः निमाः ; स्वरूपव्याख्यानमिति । माम्प्रतं धम्माघर्मधुकं दृतीयस्थानमाश्रित्याह—

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिजाति—जे इमे भवन्ति आरक्षिया आव-

दितीये श्रुतं दितीय-  
विभग्ने वर्मण-  
विकल्प-  
वर्णनम् ।

॥ ६० ॥

सहिया गामणियंतिया कहणुई राहस्त्रिया, जाव ते तओ विष्पमुच्चमाणा भुजो २ एलमूयत्ताए  
 [ तमूत्ताए ] पच्चायंति । एस ठाणे अणारिए अकेवालिए जाव असवादुकवरपहीणमगे एंगंतमिच्छे  
 असाहू, एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभङ्गे एवमाहिते ॥ [ सू० ११ ]

इयारुया—अथापरस्य दृतीयस्य स्थानकस्य मिश्रारुपस्य विष्पङ्गः—स्वरूपमारुयायते, अत्राघमंपक्षेण युक्तो धर्मपक्षो  
 मिश्र इत्युच्यते, तत्राघमस्य प्राचुर्यादधर्मपक्ष एव द्रष्टव्यः, एतदुक्तं भवति—यद्यपि मिश्र्यादृयः काञ्चित्तथाप्रकारां  
 प्राणातिपातादिनिवृत्तिं कुर्वन्ति तथाप्याशयाविशुद्धत्वात् अभिनवे पितोदये सति शक्करामिश्रशीरपानवदूषप्रदेशवृष्टिवद्विव-  
 श्वितकार्यासाधकत्वाच्चिरर्थकतामापद्यते, तथा मिश्र्यात्वातुमवानिमश्रपक्षोऽप्यधर्मपक्ष एवावगन्तव्यः । [ ए ] तदेव दशयितुमाह—  
 ये हमे आरण्यकाः—कन्दमूलफलाशिनस्तापसाः बनवासिनो, ये च आवस्थिकाः—गृहिणस्ते च कृतश्चित्पापस्थानानिवृत्ता अपि  
 प्रबलमिश्रात्वोपहतुद्यः, ते च यद्युपचासादिना महता कायकलेशेन देवगतयः केचन भवन्ति, तथापि ते आसुरीयेषु  
 स्थानेषु किलिपिकेषु उत्पद्यन्ते, इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तं भणनीयं, यावत्तवश्युता मरुण्यमध्यं प्रत्यायाता एलकमुकवेन तमोऽन्ध-  
 तया जायन्ते, तदेवसेतत्प्रस्थानमनाय अकेवलं—असम्पूर्णं अनेयायिकमित्यादि यावदेकान्तमिश्राभूतं सर्वशेषेतदसाधिवाति  
 दृतीयस्थानस्य मिश्रस्यायं ‘विभङ्गः—स्वरूपमारुयात्मिति । उक्तान्यवृष्टमधर्मपक्षेण मिश्रस्थानानि, साम्प्रतं तदेव विशेषण कथयति—  
 अहाचरे पठम [ सू० ] ठाणस्स अहम्मपकवरस्स विभंगे एवमाहिजाति, इह खलु पाइणं चा ४

ब्रह्मगदाक्ष-  
यं च  
दीपिका-  
निवतम् ।

संतेगतिया मणुस्सा भवंति—[गिहतथा] महेच्छा महारंभा महापरिग्रहा अधक्षिमया अधमसाणु-  
[एणाया अधक्षिमद्वा अहम्मवखार्द्द अहम्मस्त्रियार्द्द अहम्मस्त्रियों] जीवी अहम्मपलज्जणा  
अहम्मसीलसमुदायारा अहम्मसेण चेव विन्ति कर्त्तेमाणा विहरंति ।

॥ ६१ ॥

उच्चारया — अथापरोऽस्यः प्रथमस्य स्थानस्य अथमर्षपक्षस्य ‘विभङ्गो’ विभङ्ग एवमाख्यायते, इह खलु मनुष्या एवं-  
स्वभावा भवन्तीति, एते च प्रायो एवमाख्या एव भवन्तीत्याह ‘गिहतथा’ (इत्यादि०) । ‘महेच्छा’ महती—राज्यविभव-  
परिचारादिका सर्वतिशायिनी ‘इच्छा’, मनःप्रवृत्तियों ते महेच्छा, तथा महारम्भः—कृपिरुणादिम्योऽविरताः, तथा  
महापरिग्रहाः—दिपदचतुष्पदधनधान्यादिपरिग्रहोपेताः, अत एवाधार्मिकाः, तथाऽधार्मिकाः, अतु  
च्छुलाः, तथाऽधर्मं कर्त्तव्ये ‘अनुज्ञा’ अनुमोदनं यों ते अधम्मतिज्ञाः, एवमधम्ममाख्यातुं शीलं येषां ते तथा, [ एवम-  
धम्मप्रायजीविनः ] । एवमधम्मसेव ग्रन्थोकिर्तुं शील येषां ते अधम्मप्रलोकिनः, तथाऽधर्मप्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण इच्छयन्त  
इत्यधर्म[प्र]रक्ताः, तथाऽधर्मरुदीला—अधर्मस्वभावा, समुदाचारो—यतिकञ्चनानुष्टानं येषां ते अधर्मशील-  
समुदाचाराः, तथा ‘अधर्मणे’ पापेन ‘वृत्तिनिवाही येषां ते तथा, एवंविद्या विहरन्तः कालमतिनाहयन्ति । पापतु-  
ष्टानसेव लेखतो दर्शयितुमाह—

हृण उद्दिद भिन्द विगतगा लोहितपाणी चंडा रुदा रुदा साहस्रितया उकुंचणांचणमायानिय-

द्वितीये  
श्रुत०  
द्वितीया-  
व्ययतेऽ-  
वर्धम्य  
विशेषस्व-  
रूपम् ।

॥ ६२ ॥

दिकूडकवडसातिसंपओगचहुला दुस्सीला दुबता दुपडियाणंदा असाहू सब्बाो पाणाइवायाओ  
अपडिविरया जावज्जीवाए जाव सब्बाो परिगहाओ अपडिविरया जावज्जीवाए, सब्बाो कोहाओ  
जाव मिच्छादंसणसल्लाओ अपडिविरया, सब्बाो एहाणुमदणवण[ग] गंधविलेचणसहफरिसरस-  
हवगंधमल्लालंकाराओ अपडिविरता जावज्जीवाए, सब्बाो सगडरहजाणजुरगागिल्लिथिल्लियासंद-  
माणियासयणासणजाणवाहणभोयणपवित्तरविहीओ अपडिविरया जावज्जीवाए, सब्बाो  
कयविक्यमासह्मासरुचगसंचवहाराओ अपडिविरया [ जावज्जीवाए ], सब्बाो हिरण्णसुवण-  
धणधन्नमणिमोनियसंखसिलपचालाओ अपडिविरया [ जावज्जीवाए ], सब्बाो कूडतुलकूड-  
माणाओ आरंभसमारंभाओ अपडिविरया [ जावज्जीवाए ], सब्बाो आरंभसमारंभाओ अप-  
ज्जीवाए ], सब्बाो करणकारावणाओ अपडिविरया जावज्जीवाए, सब्बाो पयणपयाचणाओ अप-  
डिविरया [ जावज्जीवाए ], सब्बाो कुटणपिद्वणतज्जणताडणबहवंध[ण] परिकिलेसाओ अपडिविरता  
जावज्जीवाए, जेआवणो तहपगारा सावज्जा अबोहिता कमंता परपाणपरितावणकरा जे

अणारिएहि कज्जंति, ततो वि अप्पिदिविरया याचज्जीवाए—

व्याहया—ते अचार्यः स्वत एव हननादिकाः क्रियाः कुर्वणा अपरेपामपि एवमेवोपदेशं ददति । तत्र हननं दण्डा-  
दिभिस्तत्कारयन्ति । तथा छिन्ध कणादिकं, भिन्दि शूलादिना ‘विरक्तेकाः’ प्राणिनां चर्मापतेतारः; अत एव लोहितपाणयः,  
तथा [ चण्डाः ] । ‘रौद्रा’ निखिलाः; क्षुद्राः क्षुरकर्मकारित्वात्, तथा सादासिकाः असमीक्षितकारित्वात्, तथोत्कृशनवच्चन-  
मायानिकुतिकृष्टकपटादिभिः सहातिसम्प्रयोगो-गाढ़ये, तेन बहुलास्तपत्रचुराः; एते चोत्कृशनादयो मायापर्यायाः, इन्द्रशक्रा-  
दिवत् कथञ्चिक्यामेदेऽपि द्रष्टव्याः । + । तथा दुःशीलाश्चिरप्यचरिता अपि क्षिं विसंवदन्ति, दुःखातुनेयदारुणस्वमावा-  
हत्यर्थः । तथा दृष्टवताः मौमामशणवतकालमासौ प्रभृतरसत्रोपघातेन मौसप्रदानं, अन्यदपि नक्षमोजनादिकं दृष्टवतमिति,  
तथा दुःखेन प्रत्यानन्दन्ते [ हृषी प्राप्यन्ते ] दृष्टप्रत्यानन्द, दुराराहया हत्यर्थः; उपरारेऽपि दोपसेन गृह्णन्ति, यत एवमतोऽसा-  
ध्यस्ते, पापकर्मकारित्वात्, तथा याचज्जीवतया मर्वसमादपि प्राणातिपातादविरताः, लोकनिन्दनीयात् स्त्रीहत्याचालब्राह्मण-  
क्रपिषातादेवयविरताः; एवं मृप्यामादादतानमेषुनपरिप्राहकोघमानमायालोभप्रमदेषकलहाऽयारुपपरपरिज्ञादरत्य+

+ “ तत्र शूलाचारोपणार्थमूढ़े कुशनसुत्कृशन । वक्ष्यनं-प्रतारणं, यथाऽभ्यकुमारः प्रयोत्तगणिकाभिर्घर्षेन्वच्चनया वक्ष्यतः ।  
माया-वक्षनवृद्धिः, प्रायो वणिजामित्र । निकृतिःतु चकशुत्या देशभाषादिविपर्ययकरणं । कृष्ट तुलामानादेन्यूनाधिककरणं । कपट-  
यथाऽपाठभूतिना वेषपराकृत्याऽन्यायोन्यायस्त्राटकात्मार्थं वारंवारं मोदका लड्याः । ” इति हर्ष० ।  
॥ ६२ ॥

दितीये  
श्रुतो  
दितीया-  
ध्यपतेऽ-  
घर्वस्य  
विशेष-  
वर्णनम् ।

रतिमायासुषामिश्यादर्शनशब्दयादिभ्योऽसदत्रुष्टानेभ्यो याचजीवयाऽप्रतिविरता भवन्तीति, तथा सर्वस्मात् स्नानोदर्शनवर्णक-  
 विलेपनशब्दस्पर्शरूपमग्न्यमादयालङ्कारात्-कामाङ्गान् मोहजनितादप्रतिविरता: याचजीवया, तथा सर्वतः शक्तस्थादेयन-  
 विशेषादिकात् प्राविस्तरविद्ये: परिकरहृषात् परिग्रहादप्रतिविरता:, तदेव मन्यस्मादपि वस्त्रादेः परिग्रहादुपकरणभूताद-  
 विरतास्तथा 'सर्वतः' सर्वस्मात् क्रपविक्रयाभ्यां करणभूताभ्यां यो माषकाङ्गमाषकरूपककाषाषपादिभिः पण्यविनिमया-  
 त्मकः संन्यवहारस्तस्मादविरताः, याचजीवयेति, तथा 'सर्वतः' सर्वस्मात् हिरण्यमुच्चणादिः प्रधानपरिग्रहादविरतास्तथा  
 कृटतुलकृटमानादेरविरताः, तथा सर्वतः ऋषिपशुपालयादेयत् स्वतः करणं अन्येन यतिकञ्चित्कारयन्ति तस्मादविरतास्तथा  
 पचनपाचनतस्तथा स्वण्डनकुट्ठनपिद्वन्तर्जनताडनवश्चन्धनादिना यः परिक्लेशः प्राणिनां तस्मादविरताः । मासप्रतमुप-  
 संहरति—ये चान्ये तथाप्रकाराः परपीडाकारिणः साचद्याः कर्मपमारम्भाः । अबोधिकाः । बोधिलामविघातिनः, तथा  
 [परप्राण]परितापनकराः गोग्राहवन्दीग्राहमायातात्मकाः, ये अनार्थ्ये क्रियन्ते, ततोऽप्रतिविरताः याचजीवयेति । पुन-  
 इन्यथा वद्वप्रकारमधार्मिकपदं प्रतिपिपादयिषुराह—

से जहा नामए केइ पुरिसे कलममसूरातिलमुग्गमास्तणिएकावकुलतथआलिसंदगपलिमंथ-  
 गमादिष्टहि अयते कूरे मिच्छादिंडं पउंजंति, एवामेव तहपगरे पुरिसजाए तिसिरवहगलावग-  
 कपोतकविजलमिष्यमाहि सवराहगोहकुमसिरीसिवमादिष्टहि अयते कहे मिच्छादिंडं पउंजांति,

जावि य से बाहिरिया परिसा भवति, तं जहा—

व्याख्या—यथा नाम अस्मिन् विचित्रे संसारे केवनेवमधुतः पुरुषः, ये कलमपस्थितिलग्नदादिषु पचनपाचनादिक्या क्रियया स्वप्नार्थमयताः कूराः मिथ्यादण्डं प्रयुक्तिन्निति, निरपराधेष्वपि मिथ्यादण्डं विद्धति, तथैवमेव निष्प्रयोजनं तथाप्रकाराः पुरुषा निर्दयाः जीवोपात्तिरास्तितिरत्त्वं कलावकादिषु जीवनप्रियेषु प्राणिषु अयताः—कूरकमर्णो नशाः, मिथ्यादण्डं प्रयुक्तिन्निति, तेषां क्रूरधिया “यथा राजा तथा प्रजा” इति वचनात् परिचारोऽपि तथाभूत एव कूरो भवतीति, तथा दर्शयितुमाह—‘जावि य से’ हृत्यादि, याधि च तेषां चाहा पर्पद्धति, तथा—

दासेह वा पेसेह वा भयएति वा भावाद्द्वेति वा कम्मकरएति वा भोगपुरिसेति वा, तेसि पि य एं अन्नयरंसि वा अहालहुंगासि अन्नराहंसि सयमेव गहयं दण्डं निहत्तेति । तं जहा—इमं दंडेह इमं मुंडेह इमं तज्जेह इमं अंडुयवंधुणं करेह इमं नियडवंधुणं करेह इमं हृदंडेह इमं मुंडेह इमं तालेह इमं अंडुयवंधुणं करेह, इमं नियलजुयलसंकोडियमोलियं करेह, इमं हृदहडिवंधुणं करेह इमं चारगवंधुणं करेह, इमं नियलजुयलसंकोडियमोलियं करेह, इमं हृदहडिवंधुणं करेह इमं पायलिन्नयं करेह इमं कन्नालिन्नयं करेह इमं नक्कउटसीसमुखलिन्नयं करेह, वेयगच्छहियं अंगच्छहियं पक्फोडियप [ पक्खाफोडि ] यं करेह इमं नयण्टपाडियं करेह दसणवस्पण- ॥ ६३ ॥

जिन्मुपादियं करेह, उल्लिखियं ऊ[व]सियं करेह घोलियं करेह सूलाइयं करेह [सूला]भित्तियं  
खारवनियं दबभवनियं करेह सीहपुच्छियं करेह वसहपुच्छियं करेह दवगिगदहु(यं)गं  
कागिणिमंसखावियं भत्तपाणनिरुद्धं इमं जावज्ञीवं वहबंधणं करेह इमं अन्नयरेण अमुभेण  
कुमारेणं मारेह—

व्याख्या—दामः ‘प्रेष्यः’ व्रेष्योऽयो ‘भूतको’ वेतनेनोदकाचानयनविघायी, तथा भागिको यः पष्टांशादिलामेन  
क्षेयादौ व्याप्रियते, तथा कमर्मकरः प्रतीतः [ तथा नायकाश्रितः कश्चिद्गोगपरः ], तदेवं ते दासाद्योऽन्य( तरसिमन् ? )स्य  
लघावद्यराधे शब्दाश्रवणादिके गुरुतर दण्डं प्रयुज्जन्ति प्रयोजयन्ति च । स च नायकसतेषां दासादीनां वाहपर्फूताना-  
मन्य[तर]स्मिल्लघावद्यपराधे शब्दाश्रवणादिके गुरुतर दण्डं-प्रयुक्ते, तद्यथा—इमं दासं सर्वस्वापहारेण दण्डयत यूप-  
मित्यादिसत्रसिद्धं याचदिमपन्यतरेणाशुभेन कुत्सितमारेण व्यापादयत यूपं ।

जाविय से आडिभतरिया परिसा भवति, तं जहा—मायाति वा पिताति वा भायाति वा ।  
भइणीति वा भजाह वा गुत्ताह वा सुणहाह वा धृयाह वा, तेसि पि य णं अन्नयरंसि आहलहुंगंसि  
अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेह, सीओदगवियडंसि उच्छोलिता भवह जहा भित्तदोसवात्तिए

[जाच] अहिष्प परंसि लोगंसि, ते दुखंति सोयंति जूँति तिपंति पिंडंति परितपंति, ते दुकखण-  
सोयणजूरणातिपणपिहणपरिताचणचहंधणपरिकलेसाओ अपडिविरया भवंति ।

व्याख्या— याऽपि च क्रूरकमन्तरामभ्यन्तरा पर्पद्धति, तथया—मातापित्रादिका, भित्रदोपत्यायिकक्रियास्थानव्येष्यं  
यावदहितोऽयम्]स्मिल्लोके इति, तथाहि—आत्मनोऽप्त्यकारी परस्मिन्नोके, तदेवं ते मातापित्रादीनां स्वलपपराधिनामपि  
गुरुतदण्डापादनतो दृश्यमुतपादयन्ति तथा नानाविधैरुपायैस्तेषां शोकमृत्पादयन्तीत्येवं प्राणिनां बहुप्रकारपीडोपादका  
यावदुवध्यन्ध(न)परिकलेशादप्रतिविरता भवन्ति । ते च विष्यामकत्येवत्कुर्वन्तीत्येवत्वर्णयितुमाह—

एवामेव ते इत्थकामोहि मुचिद्या गिद्धा गाहिया अञ्जोववन्ना जाच वासां चउपंचमादं  
छहसमां वा अपतरो वा भुजतरो वा कालं भुंजितु (भोग)भोगां परामु[पविसु]इता वेरा-  
यतणां संचिणिता बहुइं कूरां कममां ओसद्वां संभा(रकडेण)रेणं कममेण, से जहा नामए  
अयगोलेति वा सोलगोलेति वा उदगंसि परिवेसे समाणे उदगतलमतिवइता अहे धरणितलपहट्टाणे  
भवइ, एवमेव तहत्पगरे पुरिसज्जाए वजबहुले धूतबहुले पंकबहुले वेरबहुले अयसबहुले अप-  
न्तिय० दंभ० नियडिं० सादिबहुले ओसद्वतसपाणधाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवइता

द्वितीये श्रुत० श्रुत० द्वितीया-  
द्वितीया-  
द्वितीया-  
द्वितीया-  
द्वितीया-  
द्वितीया-

॥ ६४ ॥

अहे पारगतलपहट्टाणे भवति ( सू० २० ) ॥

व्याख्या—एवमेव पौरोक्तस्त्रभावा, एवं ते निरुक्तपा निरुक्तोशा बाह्याभ्यन्तरपदोरपि कर्णनाशा विकर्तनादिना दण्डपातनस्त्रभावाः स्थीप्रधानाः कामास्तेषु मूर्छित्ता गृद्धा ग्रथिता अद्युपपचाः, ते च ते भोगासक्ता व्यपरातपरलोकभयाः यावद्वर्षणि चतुःपञ्च षट्मस वा दश वाऽहपतं वा प्रभूततं वा कालं शुक्तवा भोगभोगान् तथा परपीडोत्पादनतो वैराऽनुच्छयान् प्रविश्यो—त्पाद्य तथा सञ्ज्ञयित्वा ‘बहुनि’ प्रभूततरकालस्थितिकानि ‘कूरणि’ दारुणानि नरकादिषु यातनास्थानेषु कक्षपाठनतस्त्रपुपानात्मकानि कर्मणीयष्टप्रकाराणि बद्धस्पृष्टनिखत्तनिकाचनाचस्थानि विद्याय तेन च सम्मार्थतेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तत्कर्मशुरवो वा नरकतलप्रतिष्ठाना भवन्ति । अस्मिन्नाये सर्वलोकप्रतीतं वृषान्तमाह—‘से जहा नामए अयोगोले’ इत्यादि, तद्यथा नाम ‘अयोगोलको’ लोहगोलक [ शिलागोलको—वृत्ताइमशकलं वा ] उदके प्रश्निः सन् सलिलतलमतिवर्धा—तिलहृष्टाऽधोधरणितलप्रतिष्ठानो भवति । अथ दार्ढनित्रकमाह—‘एवमेवे’ त्यादि, यथाऽसाचयोगोलकः शीघ्रमेवाधो यात्येवमेव तथाप्रकारः पुरुषजातः, तेषेव लेशतो दर्शयति—‘वज्रवहुलो’ वज्रवहुरत्वात्कर्म, तद्वचहुलः, चक्ष्यमानकर्मग्रुहः, तथा धृपत इति [ धृत- ] प्राग्रवदं कर्म, तत्पत्रुः, तथा ‘पङ्क’ पां तद्वहुलः, तथा वैरचहुलः, तथा ‘अटपन्तियं’ ति अप्रत्यवहुलः, तथा ‘मायावहुलः’ कपटवहुलः, तथा निकृति—मया वेषमापरावृत्तिच्छन्नना परद्रोहुद्विस्तन्मयः, तथा सातिशयेन द्रव्येण संयोजनं सातिस्तद्वहुलः—तत्करणप्रत्रुः, तथा अयशो वहुलः, स एवम्भूतः पुरुषः कालमासे कालं कृत्वा नरकतलप्रतिष्ठानो भवति ।

अथ नरकस्वरूपं निरूपयति—

ते णं णरणा अंतो वदा बाहिं चउरुंसा अहे खुरप्रसंठाणसंठिता निचंधकारतमसा वचगयगाह-  
चंदसूरनवचतजोइसपहा मेदवसामंसरुहिरपूयपडलचिखिल्लितापुलेचणतला असुई विस्सा  
परमदुलिभगंधा कणहा अगणिवणाभा कक्खवडफासा दुरुहियासा असुभा णरणा असुभा नरएसु  
वेदणाओ । नो चेव णं नरएसु नेरइया निहायंति वा पयलायंति वा सुइं वा राति वा धिति वा माति  
वा उवलभंति, ते णं तत्थ उजलं विउलं पगां कडुयं कक्कसं चंडुकर्खं दुरुगं तिवं दुरहिया-  
सं निरयवेयणं पञ्चाणुभवमाणा विहरंति ॥ ( सू० २१ )

व्याख्या—‘ ते णं नरणा ’, इत्यादि, ते नरकः सीमन्तरकादयः, वाहुश्यमझीकृत्यान्तर्मध्ये बृता बहिरपि चतुरसाः  
[ अथश्च शुरप्रसंस्थानसंस्थिताः X ] नित्यान्तधकारतमसः ।—मेषचल्लनाम्यरतलकृष्णपश्चरजतीवचमोभुलाः, तथा व्यपगतश्चद्व-  
स्यप्रहनक्षत्रज्योतिष्ठेषो येषां ते तथा, तथा मेदवसामाँसरुधिरपूपटलाः + तथा अशुचयो विष्वासुकलेदप्रथानाः, अत एव  
X “ एतक्ष सस्थानं पुण्याकीणनाश्रित्योक्त, तेषामेव प्रचुरत्वात्, आवलिकाप्रविदाऽस्तु वृत्तच्छस्त्रसंस्थाना पन-  
भवन्ति ” इति बुद्धद्वयुतो ।

+ “ तैलिसानि-पिञ्चिलकीकृतानि ‘ अगुलेपततलानि ’ अगुलेपतप्रथानानि तलानि येपा ते तथा ” इति वृहहृत्तो ।

‘ विश्राः । कुथितमौसादि कल्पकर्दमविलिसाः । एव परमदुर्गन्ध्याः । कुथितगोमायुः ] कल्पवरादप्यसहयगन्ध्याः । तथा कुड्याइनि त-  
वणीभाः रूपतः, सपर्शतस्तु ‘कर्कशः’ कठिनो वज्रकण्टकादप्यधिकरः । इ[ शों येषां ते तथा] श्रीः, तथा ‘दुर्सहाः’ । अतीव  
दुःखेन अधिष्ठानते, किमिति ? यतस्ते नरकाः ।-पञ्चानामपीनिद्याथार्थानामशो मनत्वादशुभाः; तत्र च सच्चानामशुभकम्भं  
कारिणामुग्रदण्डपातिनां तीव्रा-अतिदुःमहा वेदनाः प्रादुर्भवन्ति । ते च नारकास्तया वेदनया अक्षिनिमेप मात्रमपि कालं न  
निदायन्ते न प्रचलायन्ते; \* वेदनाऽमिभूतत्वात्कृतस्तेषां निदालाभो भवतीति दर्शयति, तीव्रा-मृज्जलामित्यादिविशेषण-  
विशिष्टां यावद् वेदनां वेदयस्त्यतुभवन्ति । पुनरपरं वृषान्तमाह —

से जहा नामए ( केह ) रुक्खेवे सिया पब्यगे जाते मूले हिन्दे अरगे गहए जओ पिन्नं  
जओ विसमं जओ दुर्गं तओ पवडति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते गढभातो गढभं जम्मातो  
जम्मं माराओ मारं नरगाओ नरं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए नेरईए कणहपकिखए आग-  
मिस्ताणं दुल्हहबोहिए याचि भवति, एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव [अ]सबदुकखपहीण-  
मगे एंगंतमिच्छे असाहू, पढमस्स ठाणस्स अधमपकखस्स विहंगे एवमाहिए ॥ [ सू० २२ ]

\* “ श्रुति चा रति चा बृति चा मर्ति चा नोपलभन्ते ” इति हर्ष० ।

धृष्णु

सुन्  
दीपिका-  
न्वितम् ।

॥ ६६ ॥

न्याख्या—सुगमेव स्वयमेवाम्बूद्धा +

अहावरे दोक्षस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्ञति—इह स्वल्लु पाइणं वा ४-सते-  
गतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अणारंभा अपरिगहा धम्माणुया धम्मिमया धम्मिमद्वा जाव  
धम्मेण चेव वित्ति कटपेमाणा विहरंति, सुसीला सुवया सुपडियाणंदा सुसाहू सबाओ पाणा-  
(ति)यवायाओ पडिविरया जावजीवाए, जाव जेयावहे तहपगारा सावजा अबोहिया कम्मंता  
परपाणपरिताचणकरा कज्जंति, तओ वि पडिविरया जावजीवाए ।

न्याख्या—अथाऽपरस्य द्वितीयस्य स्थानस्य ‘विमङ्गो’ विभागः स्वरूपसेव-वक्ष्यमाणनीत्याऽख्यायते, तद्यथा—  
इह स्वल्लु ग्रान्त्यादिदिक्षु मध्ये अन्यतरस्यां दिग्भिः ‘सन्ति’ विद्यन्ते, ते चैवभूता भवन्तीति, त[य]था-न विद्यते सावद्य

+ “तद्यथा नाम कश्चिहुश्च: पर्वतामे जातो मूलछिन्नः शीघ्र यथा निर्मनं पतति, एवमसावध्यसाधुकम्भेकारी तत्कर्मवतेरितो वात  
प्रेरितः सन् शीघ्रसेव नरके पतति, ततोऽल्लुहुचो गम्भार्घमध्यं याति, न तस्य किञ्चिज्ञाणं भवति, यावदागामिन्यपि कालेऽसो  
दुँभधर्मप्रतिपत्तिर्भवतीति । साम्मपत्तमुपसहरति—‘एम ठाणो’ इत्यादि, तदेतत्स्थानमत्तार्थं पापानुषातपरत्वायाचावदे कान्तमिष्यारूपमसाधु ।  
तदेवं प्रथमस्याधर्मपाक्षिकस्य स्थानस्य ‘विमङ्गो’ विभागः स्वरूपसेव व्याख्यातः । ” इति प्रसन्नतरेऽस्य सूक्तस्य न्याख्योपलग्नते ।

द्वितीये  
श्रुतो  
द्वितीया-  
इयनेते  
धर्मपशु-  
स्वरूपम् ।

॥ ६६ ॥

आरम्भो येषां ते अनारम्भा; तथा 'अपरिग्रहाः' निकिङ्कना, वर्मण चरन्तीति शार्दिमकाः, याचद्भैरवात्मनो बृन्ति परिकल्पयन्ति, तथा सुशीलाः शुब्राः सुप्रत्यानन्दाः सुसाध्वः सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरताः, एवं याचत्परिग्रहाद्विरता इति, ये चान्ये तथाप्रकाराः सावधारम्भा याचदबोधिकारिणस्तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि विरता इति ।

पुनरन्त्येन प्रकारेण साधुगुणान् दर्शयितुमाह—

से जहा नामए अणगारा भगवंतो इरियासमिया भासासमिया एसणासमिया आयाण-भंडमत्तनिक्खेचणासमिया उच्चारपासचणखेलजल्लसिंघाणपारिट्राचणियासमिया, मणस्मिया वयसमिया कायस्तमिया, मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता, गुत्ता गुत्तिदिया गुत्ता गुत्तिदिया गुत्तिदिया गुत्तिदिया अकोहा अमाया अलोभा, संतो पसंता उवसंता परिनिवुडा, अणासवा अगंथा छिन्नसोया निरुचलेवा, कंसपाईव मुक्तोया संखो इव निरंजणा जीवो इव अपदिहयगई गगणतलं पिव निरालंबणा वाउरिव अपदिहयग्ना सारदसत्तिलं व सुज्जहियथा, युवतरपतं पिव निरुचलेवा कुम्मो इव गुर्त्तिदिया विहग इव विष्पमुक्ता खण्डिविसाणं व एगजाया भारंडपकर्खीव अपमत्ता कुंजरो इव सौंडीरा वसहो इव जातथामा सीहो इव दुद्धरिसा मंदरो इव निष्पकंपा सागरो इव गंभीरा चंदो इव

धृयगडाक्ष-  
स्त्रं  
दीपिका-  
निवरम् ।

॥ ६७ ॥

सोमलेसा सुरो इव दिततेया जचकंचणं च जातरुवा वसुंधरा इव सबफासविसहा सुहुतहुया-  
सणो विव तेयसा जलंता । × नहिथ णं तेसि भगवंताणं कतथ वि पाडिबंधे, से य पाडिबंधे चउविहे-  
पज्ञते, तं जहा—अङ्गपति वा पोयएति वा उङगहेह वा पगगहेह वा, जत्रं जत्रं दिसं इचछंति तत्रं  
तत्रं दिसं अपाडिबद्धा सुइभूया लहुभूया अ[ण]पंगथा संजसेण तवसा अप्याणं आवेमाणा  
विहरंति । तेसि णं भगवंताणं इमा एतारुवा जायासायावित्ति होतथा, तं जहा—चउतथभन्ते

× “ नासित तेषां कुत्रचित्प्रतिबन्धः; स च प्रतिबन्धश्चुर्विषस्तवया—अण्डजो हंसादि. अण्डक वा मयूराण कीडामयूराद्वेतु; रसासेन तत्र प्रतिबन्धः । पोतजे हस्तयादौ पोतके वा शिशुत्वात्प्रतिबन्धः स्यात् । अथवा ‘ अंडजोह वा वोंडजोह वा ’ इति पाठान्तरं । अण्डजं—सणिकादिवक्ष, वोण्डजं—कार्पस चलं, तत्र प्रतिबन्धः स्यात् । ‘ उणगहेह वा ’ अणगहेह वा । अवगृहीतं—परिवेषणार्थमुत्पादितं भक्तपानं, प्रगृहीतं—भोजनार्थमुत्पादितं तदेव, अथवा अनवग्रहिकं वसतिपीठकलकादि औप्रहिकं वा दण्डकाणुपदिजातं, प्रगृहीतं त्रजोहरणाद्योधिकोपधिरूपं, तत्र प्रतिबन्धः स्यात् । ‘ जणं ’ति याया] दिशमिकल्पित विहर्तु तातां दिश विहरन्ति । किम्भूताः ? अप्रतिबद्धाः शुचिभूता—भावशुद्धिमन्तः श्रुतिभूता वा—प्रात्सिद्धान्ताः । लघुभूता—अल्पोपधयोऽगोरवाश्च, अनवग्रन्था—बह्वगमा, न विद्यते आत्मतः समर्थन्यी मन्यो—हिरण्यादियेषा तेऽनात्ममन्या इति चा । ” इति हृष्ट० ।

द्वितीये  
श्रुत०  
द्वितीया-  
द्वयनेत-  
नगराशुण  
वर्णनम् ।

॥ ६७ ॥

छट्टमन्ते अट्टममन्ते दसममन्ते दुचालसममन्ते चौहसममन्ते, अद्वमासिष् (भन्ते) मासिष् (भन्ते) दोमासिष् तिमासिष् चउमासिष् पंचमासिष् छमासिष्, अदुत्तरं च णं उखित्तचरगा (निखित्तचरगा उकिखत्तचरगा निखित्तचरगा अंतचरगा पंतचरगा द्वृहचरगा समुयाणचरगा संसदुचरगा असंसदुचरगा तज्जातसंसदुचरगा, दिट्टलाभिया, पुट्टलाभिया अपुट्टलाभिया, भिक्खलाभिया अभिक्खलाभिया, अव्वातचरगा \*अव्वागिलायचरगा उचनिहिया, + संखादानिया परिमिय-

\* नास्तेवत्विहमङ्गतः पाठः सद्वृत्तिक्षुद्रितप्रतिषु ।

+ “ सह्वयाप्रधाना दतयो येषा ते तथा । परिभित—अद्वैपोषादिः (१) ( पिण्डपात—आहार)लाभो येषामरित ते तथा । ‘ सुद्वेषणिया ’ शुद्वेषणाः, शुद्वेषय वा निवृञ्जनस्य भक्तिरेषाणा येषामरित ते तथा ] । अन्तश्रान्तं—वल्लचनकादिः, स आहारो येषां ते तथा । विरस नीरस—शीतलीभूत । रुक्षाहारः । ‘ अंगलिया ’ आचाम्ल—ओदनकुलमाशादि, तेन चरन्तीति । निर्विकृतिकाः—घृतादिविकृतिलागिनः । अमयमांसाशिनः—मयमांसं चाशन्तीति । ‘ तो नियाग ’नि न नित्यं एस भोजिनः । ‘ लेसज्जिया ’ निषयायुताच्या भूमौ उपविशन, तथा चरन्तीति नैषयिकाः । सिहासनलिविष्टस्य मून्यस्तपादस्य सति याद्वशमवस्थानं, तयस्यारित स वीरासनिकः । दण्डस्येवायतं—आयामो येषा ते दण्डायतिकाः । लगण्ड—वक्रकाढं, तद्वत् शेरते ये ते लगण्डशायिनः,

द्वितीये  
श्रुत०  
द्वितीया-  
व्ययनेन-  
नगरपुण  
वर्णनम् ।

पिंडवाइया, सुद्धेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लृहाहारा तुच्छाहारा, अंतजीवि  
पंतजीवी, आयंविलिया पुरमाहिया निठिवगइया, अमज्जमंसासिणो नो निकाम[नो नियाग] रसभोई  
ठाणाइया पाडिमाठाणाइया उकुडुआसणिया नेसजिया वीरासणिया दंडायतिया लगंडसाइणो-  
[आयाचगा] अचाउडा अगच्छया अकंडुया आनिडुहा\* धुतकेसमंसुरोमनहा, सठवगायपाडिकम्म-  
चिप्पमुक्का चिट्ठुति । [ते ण] एतेण विहरिण विहरमाणा बहूँ चासाइं सामन्नपरियां पाउणंति  
पाउणिता आबाहंसि उधपञ्चांसि वा बहूँ भत्ताइं[पच्चकखंति], पच्चाकिखता बहूँ  
भत्ताइं अणस्तणाए छेदिति, छेदिता जस्तट्टाए कीरइ नगभावे मुंडभावे अपहाण[भावे]गे<sup>(1)</sup>  
अदंतवणगे अच्छतपए अणोचाहणए, भूमिसेज्जा फलगसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे  
परघरपवेसे लछाचलछे साणाचमाणाओ हीलणाओ निंदणाओ लिंसणाओ गरहणाओ तजणाओ

पालिंगका शिरश्च वा (?) भूमौ लगति तथा शयंत कुर्वतः । आतापका—आतापतामाहिणः । ‘अवाउडा’ अप्रावृत्तेका ।  
‘अणिडुहा’ अनिष्टिवनाः । ” इति दृष्टिकुलीयदीपिकायाम् ।

तालणाओं उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसगा अहियासिज्जंति तमद्दुं आराहेति, आराहिता चरमोहि॒ ऊसासनीसासेहि॒ अणंते अणुतरं निनवायां निरावरणं कसिणं पडिपुन्नं केवल-  
 वरनाणदंसणं समुपाडिति, समुपाडिता कालमासे कालं किचा ततो पच्छा सिज्जंति बुज्जांति  
 मुच्चंति परिनिनवायांति सठवदुक्खाणमंतं करंति । एगच्चाए॒ पुणे॑ एगे॑ भयंतारो॑ भवंति, अवरे॑ पुणे॑  
 पुणवक्रमावसेसेण [कालमासे]कालं किचा अन्नयरेसु॑ देवलोगेसु॑ देवताए॑ उवत्तारो॑ भवंति, तं  
 जहा-महिडिएसु॑ महजुतिएसु॑ महापरकमेसु॑ महाजसेसु॑ महाबलेसु॑ महाएसु॑ महासुक्खेसु॑ ।  
 व्याख्या—+ हत्यादिसाधुवर्णरूपः प्राक्तनः सर्वोपि पाठसिद्ध एव, सुगमत्वात्, बुद्धीकाकारेण न व्याख्यातोऽन्ना-

+ इतः प्राक् प्रलग्नते निम्नप्रकारेणोपलभ्यते त्रितिपाठः—“ सुगम एव, नवं विशेषः—‘ उक्तिवत्तचरए॑ , उक्तिशंस-स्वप्रयो-  
 जनाय पाकभाजनादुद्धुंते, तदर्थमभिमहतश्वरति—तदगवेषणाय गच्छतीत्युत्तिश्वसचरकः । ‘ निकित्वत्तचरए॑ ’ति निकित्वत्तचरए॑ -पाकभाजना-  
 दुद्धुंते । ‘ उक्तिवत्त-निकित्वत्तचरए॑ ’ति पाकभाजनादुद्धुंते तत्र वाऽन्यत्र च स्थाने ( निकित्वं ) यच्छुदित्युत्तिश्वसित्वं । ‘ संसदु-  
 चरए॑ ’ति संसदुत्त-खरण्टतेन हस्तादिना दीयमानं संसदुमुच्यते, तच्चरति य॒! स तथा । ‘ असंसदुचरए॑ ’ति [ उक्तिविपरीतमसंसदु-  
 चरति ] तजाय॑ ’ति ] तजातेन देयद्रव्याविरेधिना यत्सदुष्टं हस्तादि, तेन शीघ्रमानं यश्चरति स तथा । ‘ अन्नायचरए॑ ’ति

स्थगडाङ्ग-  
सं-  
दीपिका-  
निवरम् ।  
॥ ६९ ॥

यत एव न लिखितः । अन्यच-विशेषार्थिना औपपातिकमाचाराङ्गमन्विष्प्रथममुपाङ्गं, तत्र च साधुपुणः प्रवन्देन व्याचपर्यन्ते, वदिहापि तेजैव क्रमेण इटव्यमिति । तथा एवविद्या: साध्यवः: \* सर्वंगात्रपरिकमर्मविप्रमुक्ता-निष्प्रतिकमर्मशरीरास्त्रिव्युत्तीति । तथोप्रविहारिणः प्रवज्यापयोगमनुपालय आचाराधारे रोगातङ्के समुत्पन्ने अनुत्पन्ने वा भक्तप्रत्याख्यानं विदधति । किं वहुनोक्तेन ? यत्कर्तेऽयमयोगोलकवन्निरास्तादः करवालधारामागंधद्वदुरध्यवसायः श्रमणमात्रोऽनुपालयते तमर्थं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमाराद्याऽन्याहतमेकमनन्तं केनलज्जानमवाऽनुवन्नित, केवलज्जानाचारासेव्यं सर्वदुःखविमोक्षणलक्षणं मोक्षमवाऽनुवन्नित । एके पुनरेकया अर्चया-एकेन शारीरेण एकसमादा मवाविसद्धिगति गन्तवारो गच्छन्ति, अपरेष्यातो-ऽनुपदर्शितस्त्वाजन्यादिभावः सक्षरति यः स रथा । ‘दिदुलाभिए’ चि द्वष्टरेवेन भक्तादेहीदादा-पूर्वेष्याकालाभो यस्यास्ति स द्वष्टलाभिरः । ‘अदिदुलाभिए’ तन्नाद्वष्टस्यापि अपवरकादिमध्यानिर्गतस्य श्रोत्रादिभिः कुतोपयोगस्य भक्तादेहद्वष्टादा-पूर्वमनुपलब्धादायकालाभो यस्यास्ति स तथा । ‘पुष्टुलाभिए’ चि पृष्टरेवेव ‘हे साधो ! किं ते दीयते ? ’ इत्यादिप्रश्नस्य योलाभो यस्यास्ति स तथा । ‘अपुष्टुलाभिए’ चि [ पृष्टलाभिकविपर्ययात । ‘भिक्षुलाभिए’ चि ] भिक्षेष भिज्ञा-तुन्तुमवक्षान्तं चात्माभो मायतया यस्यास्ति स भिक्षालाभिकः । ‘अभिक्षुलाभिए’ चि उक्तविपर्ययात् । [ अक्षात्तचरका-अज्ञातगृहेषु चरत्तीस्यभिमाहवन्तः ] । ‘अन्नगिलायए’ चि अनं-भोजनं विना गलायति (यः स ) अन्नगलायकः, स चाभिमहविशेषात्मात्मेव दोपाऽन्नमुग्निति । ‘उच्चनिहिय’ चि उपनिहितं [ यथा कथयिदासभीशूतं, तेन चरति यः स औपनिहितकः ] ” इत्यादि ।

द्वितीये

श्रुतं

द्वितीया-

इयनेऽन-

वण्णनम् ।

॥ ६९ ॥

पुनस्तथा विष्वदृक् रमाचरोणे सति तत्कर्मकशग्गः कालं कृत्वाऽप्यत्प्रतमेषु वैमानिकेषु देवेष्टप्यवन्ते, तत्रेन्द्रसामानिकं ब्रायस्तिंश्छलोकपालपर्वद्यात्म] रथप्रकीर्णेषु नानाविष्वसमुद्दिष्टु मवन्तीति, नवामियोगिककिलिपिकादिधिति । ‘तं जहे’—

त्वादि, तथ्यथा—महद्वद्वादिषु देवलोकेष्टप्यवन्ते । ते देवास्त्वेवमभूता भवन्तीति दर्शयति—

ते पां तत्थ देवा भवन्ति—[ महिहिया महजजुन्तिया जाव महासुखवा ] हारविराइयवच्छाकडगतुदियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगडतलकण्णापीढधारी विचित्तवत्थाहरणा विचित्तमाला-मउलिमउडा कल्लाणगपत्रवत्थपरिहिया कल्लाणगपत्रमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोद्दी पलंबन्तणमाल-धरा । दिवेणं लवेणं दिवेणं वरणेणं दिवेणं गंधेणं दिवेणं फासेणं संघाएणं दिवेणं संठाणेणं दिवाए इहीए दिवाए ऊतीए दिवाए पभाए दिवाए आयाए दिवेणं तेषां दिवाए लेसाए दसादिसाओ उजोवेसाणा पभासेमाणा गतिकल्लाणा ठिळकल्लाणा आगमेसिभद्या यावि भवन्ति । यस ठाणे आयारिए, जाव सबदुकखपहीणमग्गे एगंतसम्मे सुसाहु दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सू० २३ ॥

व्याख्या—‘ते पां तत्थ देवा’ इत्यादि, ते देवा नानाविष्वतपश्चरणोपाचशुभकम्मणो महद्वद्वादिषुपोपेता भवन्ती-

त्यादिकः सामान्यनर्णकस्तथा हारविराजितवक्षम इत्यादिक आभणवस्त्रपुण्यनर्णकः । पुनरतिशयापादनार्थं दिव्यरूपादि-  
प्रतिपादनं चिकीर्षुराह—‘दिव्येण रुचेण’ दिव्यरैण दिव्यया द्रव्यलेक्ययोपेतः । दशापि दिशः समुदयोत्यन्तो गत्या  
शीघ्ररूपया कल्याणाः, तथा स्थित्योत्कृष्टमह्यमया कल्याणास्ते भवन्ति । तथाऽग्नामिनि काले भद्रकाः शोभनमतुङ्यमन-  
समपुणेतः, तथा सद्बैप्रतिपत्तारथं भवन्तीति । तदेतत्स्थानमार्घ्यमेकान्तेत्वं सम्यग्मतं चुम्पाधिति । एतद्विद्वितीयस्य  
स्थानस्य धर्मपाण्डिकस्य विभङ्गं एवमाख्यातः ।

॥ ७० ॥

अहानरे तच्चरस ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिजाति—इह रवलु पार्वेण चा ४ संतेगतिया  
मणुस्सा भवन्ति, तं जहा—अटिपच्छाः [अटपारंभा] अप्यपरिग्रहा धर्ममया धर्ममेण  
चेव चित्तं कर्त्तयेमाणा विहरन्ति । सुसीला सुवया सुष्टुप्डियाणंदा साहृ एगच्चाओ पाणाइचायाओ  
पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अटपाहिविरया जाव जे यावद्वा तहृपगारा सावज्जा अबोहिया  
कर्ममंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति, ततोवि एगच्चाओ अटपाहिविरया ।

व्याख्या—अथापरस्य दृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकारवयस्य विभङ्गः समाख्यायते—एतच्च यद्यपि भिश्रव्याद्भर्माइधर्मा-  
स्यापुणेतं भवति [तथापि] धर्मस्मृष्टिपुत्राद्भासिं रूपक्षेऽपतरति, तथाथा—चक्रपुगुणेषु गङ्गपतितो दोषो नात्मानं लगते,  
कलङ्क इव चर्त्रिकायाः, तथा बहूदकमह्यपतितो मूर्छकलावयवो नोदकं कल्पिष्यतुमलं, एवमधर्मोऽपि धर्ममिति स्थितं ।

द्वितीये श्रुतो  
द्वितीया-  
धर्मयन्ते-  
शावक-

॥ ७० ॥

असौ मिश्रपक्षोऽपि धार्मिकपक्षेऽचतरति । इह खलु जगति प्राच्यादिदिक्षु 'एके' केचत शुभकर्मणो मतुङ्या भवन्तीति,  
अल्पेच्छा अल्पपरिग्रहारम्भा, एवंविद्या धार्मिकवृच्यः प्रायः सुशीला: सुव्रता: साध्वो भवन्तीति । ते च  
एकस्मात् स्थूलात्सङ्घलयकृतात् प्रतिनिहत्ता, एकस्माच्च स्थूलमादारमध्यजादप्रतिविश्वाः, एवं शेषाण्यपि ब्रह्मानि संयोज्यानीति ।  
'जे यावज्ञे, ये चान्ये साच्चया तरकगतिहेतवः कर्मसमारम्भात् एकस्माच्याद्यत्वपीडानिलोक्तनादिभ्यो निरुत्ता एकस्माच्च  
क्रयविक्रयादेवनिहृता इति । तांश्च विशेषतो दर्शयति—

से जहा नामए समणोचासगा भवन्ति—आभिग्रथ्यजीवाजीवा उवलद्धपुनरपाचा आसवसंवर-  
वेयणाणिंजराकिरियाहिगरणबंधमोक्तवकुसला असाहिज्जा देवा सुरनागसुवृपणजक्तवरक्तवसाकेक्त्वरक्तं-  
पुरिसगरहलगंधवृमहोरेगमाइपाहैं देवगणेहि निगंथाओ पावयणाओ अणहुक्तमणिज्जा, निगंथे  
पाच्यणे निसंसंकिया निकंखिया णिवितिगिच्छा, लङ्घट्टा गहियट्टा पुच्छियट्टा विणिनिछ्यट्टा अभि-  
शयट्टा आटुमेजपेमाणुरागरता, अय्यमाउसो ! निगंथे पायवणे अट्टे अरमट्टे सेसे अणट्टे,  
ऊसियफलिहा अवंपुयट्टुवारा अचियतंतेउरपरघरपवेसा, चाउदसट्टमुद्दुपुणमास्तिष्ठीसु पाडिपुणं  
पोसहं सम्भं अणुपालेमणा, समणे निगंथे फासुयपृसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेण वरथ-

यथगडाक्ष-  
यं दीपिका-  
न्वितम् ।

पहिंगहकंबलपायपुँछणेण [ओसहभेसज्जेण] पीढफलगसिज्जासंथारएणं पहिलाभेमाणा बहूहि  
सीलवयगुणवेरमणपचकवाणपोसहोवचासेहि अहापरिगाहिएहि तचोकम्मेहि अटपाणं भावेमाणा  
विहरंति, ते णं एयारुबेणं विहारेणं विहरमाणा बहूहं वासाइं समणोवासगपरियायं पाउणंति,  
पाउणिता आवाहंसि उपबंगंसि वा अणुपबंगंसि वा बहूहं भत्ताइं अणसणाए (पचकवायंति),  
पचकवाहाइता बहूहं भत्ताइं अणसणाए (ठेंद्रिति), ठेंदिता आलोइयपलिंकंता समाहिपत्ता कालमासे  
कालं किच्चा अन्नयरेषु देवलोएषु देवताए उवतत्तारो भवंति, तं जहा—महिंद्रिएषु महजुहएसु  
जाव महासुक्खेषु, सेसं तदेव जाव एस ठाणे आरिए जाव एंगतसम्मे साहू, तच्चस्स ठाणसस  
मीसगस्स विभंगे एवं आहिए ।

व्याख्या—अयं श्रगणोपापकर्णरुः सुगम एन, विजेगार्थिना तुहडीका विलोकनीया, अत ग्रन्थगोरवभयाद्व्याख्या लया  
न लिखिता । नगरं—‘जसियफलिहा’ उक्तिनानि स्फटिकान्यन्तःकरणानि येणं ते तथा, एतदुक्ते भवति—  
मौतीन्द्रदश्यनावासी सद्यां परितुपमानरा इति । तथा अप्राप्युतानि द्वाराणि येस्ते तथा, उद्धाटितयुहदारास्त्रितुनिरु, सहर्यन-  
लामेन न क(समाच्छिस्यविच(1)द्विभेति, शोगनमार्गपरिपर्णेणोद्घाटितशिरसो निश्चब्धं-तिष्ठतीति । अपरं सर्वे उगमम् ।

द्वितीये

श्रुतो

द्वितीया-  
इयनेऽ-

विरत्या-  
चयित-

बालादि-

स्वरूपम् ।

॥ ७२ ॥

तदेतत्र स्थानं कलयाणं-परमपरया सुखविपाकमिति कृत्याऽऽर्थमित्येवं विभक्तस्तुतीयस्य स्थानस्य मशकाख्यस्याऽन्नमया इति । उक्ताः बार्मिंसका अथार्मिंसका, तदुपर्यहृपाश्चाभिहिताः । साम्प्रत्येतदेव स्थानविकं संक्षेपतो विमणिपुराह—  
 अविरतिं पडुच्च बाले आहिज्जाति, विरतिं पडुच्च पंडिए आहिज्जाति, विरयाविरईं पडुच्च बाल-  
 पंडिए आहिज्जाति, तत्थ णं जा सा सबाओ अविरती एस ठाणे आरंभमटाणे अणारिए जाव असब-  
 दुक्खवधृणमगे घगंतामिच्छे असाहू । तत्थ णं जा सा सबातो विरती एस ठाणे अणारंभमटाणे  
 (एस ठाणे ) आरिए जाव सबदुक्खवधृणमगे घगंतसम्मे साहू । तत्थ णं जा सा सबाओ  
 विरयाविरईं एस ठाणे अणा[आरंभणोआ]ंभमटाणे, एस ठाणे आरिए जाव सबदुक्खवधृणमगे  
 घगंतसम्मे साहू ॥ [सू. २४] ॥

व्याख्या—येयमाविरतिरसंयमरूपा, सम्यक्त्वामावानिमध्यादेहेत्यतो विरतिरथविरतिरेव, तां ‘प्रतीत्य’ आश्रित्य  
 बालोऽइः, सदसद्विवेकविकलत्वादित्येवमाधीयते—व्यवस्थायते आहयते वाविरतिरति-  
 प्रतीत्य चालपिण्डत इत्येतत्प्राचनदायोदयमिति । ‘तत्थ ण’ मित्यादि, तत्र एवोक्तेषु स्थानेषु येयं सर्वस्मादविरति-  
 विरतिपरिणामाभावः, तदेतत्स्थानं सावधारमस्थानं, एतदाश्रित्य सर्वाणि [अ]काशाणि क्रियन्ते, अत एतदनार्यस्थानं,  
 निःशक्तुया यत्किञ्चकारित्वात्, यावदसर्वदुःखप्रहीणमागोऽयं एकान्तपिण्डयाहोऽसाधुरिति, तत्र च येयं ‘विरतिः’

सम्यक्त्वपूर्वे का माचव्यारम्भान्निवृत्तिः, सा स्थगिताश्वद्वारत्वात्पापा[ उपादानरूपेति ] लिङ्गतत्वात् (२) । एतत्सथानमन-  
सम्पस्थानं सावधानुष्टुत्वानरहितत्वात्संभवस्थानं, देतत्सथानमार्यस्थानं अशोकमप्यक्षयमार्गः; तथैकमप्यक्षयमार्गः; तथैकमप्यभूतः; एतदेवाऽह-  
साधुरिति साधुभूताऽनुष्टुतानात् । तत्र चेयं या विरतविरतमिधीयते सा मिश्रस्थानभूता, तदेतदारम्भानात्रमस्थानं, एतदपि  
कथञ्जिदार्थमेव, पारमप्येण सर्वदुःखप्रक्षीणगार्गस्तत्वैकान्तव्यमभूतः साधुरेति । तदेवमनेकविशेषोऽयमधर्मपक्षो धर्मपक्षो  
मिश्रपक्षश्चेति संक्षेपेणाभिहितः । मिश्रपक्षोऽयनयोरेवान्तर्बेत्ति भवतीति दर्शयति—

एतामेव समणुगममसाणा+ इमोहं चेव दोहं ठाणोहि समोअरंति, तं जहा—धर्मसे चेव अधर्मसे  
चेव उवसंते चेव अणुवसंते चेव, तत्थ णं जे से पढम[स्त]ठाणस्त अधर्मपक्षवस्त विभंगे  
एत्वमाहिए, तत्थ णं इमाऽहं तिन्नि तेवद्वाऽपाचाउयसयाऽभवंतीति मरक्खा[याऽ]यं । तं जहा—  
किरियावाऽहं अकिरियावाऽहं वैणाऽह्यवाऽहं, तेवि [परि]निवाणमाहंसु, तेवि  
पलिमोक्खमाहंसु, ते वि लब्वांति सावहइत्तारो ॥ [ सू. २५ ]

वारया—‘एवमेवेत्यादि, एवमेव संक्षेपेण ‘समनुगम्यमाना’ व्याख्यायमाना ‘अनयोरेव’ धर्माधर्मस्थानयोरु-

+ ‘समषुगिज्जमाणा’ इति पाठान्तर ‘समग्रागुण्यमाणः’ इत्यर्थक्षम हर्ष० ।

दितीये  
श्रुतो  
द्वितीया-  
द्वयपते  
निषेधु-

तरनिशत-

प्राचारुका-

नां मिथ्या-

चादिता ।

॥ ७२ ॥

परन्ति, कथं ! यदुपशान्तस्थानं तद्दम्पत्स्थानं मदुपशान्तस्थानमधमपक्षस्थान]मिति, तत्र च यदधर्मपालिकं प्रथमं स्थानं तत्रामूनि त्रीणि त्रिपक्षबिकानि प्रावाहादुकशत्रवन्तभवन्ति. एवमाख्यातं पूर्वाचार्येरिति । एतानि च सामान्येन दर्शयितुमाह—‘तं जहा’ इत्यादि, तत्र क्रियाचारादिनः ज्ञानरहितां क्रियां स्वगीपवग्माधिकां बदन्ति, ते क्रियाचारादिनः क्रियात एव मोक्ष बदन्तीति मावः । तत्र क्रियाचारादिनामशीत्युत्तरं शर्तं, अक्रियाचारादिनां चतुरशीतिः; अज्ञानिकानां सप्तषटिः; वैतयिकानां द्वाक्रियादिति । यते सर्वेऽपि प्रावाहुकाः मोक्षमाग्नी कथयन्ति, तेऽपि प्रावाहुकाः संसारवन्धनात्मोचनात्मकं मोक्षमाहुः । ‘तेऽपि’ तीर्थिकाः ‘लपन्ति’ बदन्ति—मोक्षं प्रति धर्मसदेशानां विदधतीति । शृणुवन्तीती आवकाः, अहो शावका ! एवं गृहीत यूपं यथाऽहं देशयामीति । तथा तेऽपि धर्मशावचितारः सन्तः एवं ‘लपन्ति’ भापन्ते यथाऽतेजोपायेन स्वागते मोक्षाचारासिरिति, तद्वचनं मिथ्यात्वोपहतवृद्धोऽवितथमेव गृहन्ति, कूटपण्यदायिना विपर्यस्तमत्य इवेति, तथा कथमेते प्रावाहुकाः\* अहिसं प्रतिपादयन्ति न च तां प्रधानमोक्षाङ्गभूतां सम्यग्गुतिष्ठन्ति । तथा सर्वे प्रावाहुकाः मोक्षभूतामहिसं अपायाम्येन प्रतिपद्यन्ते इति दर्शयितुमाह—

ते सर्वे प्रावाहुया आइकरा धर्ममाणं नाणापञ्चा नाणासीला नाणादिद्वी नाणारुद्दे नाणारंभा नाणाऽङ्गस्वसाणसंजुता एवं महं मंडलिकं चं किञ्चा सर्वे एवाओ चिद्वन्ति । पुरिसे य

\* “ मिथ्याचारादिनो भवन्तीति १ अत्रोच्यते—यतस्तेऽपि ” इति बुद्धतो ।

मूर्यगलाक्ष  
स्थं  
दीपिका-  
न्वितम् ।

॥ ७३ ॥

सागणियाणं इंगालाणं पाति वहुपडिपुक्तं अओमएणं संडासएणं गहाय ते सबे पाचाउए ( ग्रामाद्कान् )  
आदिगरे धरमाणं नाणापज्जे ( गज्जान् ) जाच नाणाउज्जवसाणसंजुते एवं वयासि—हं भो पाचाउया !  
आइगरा धरमाणं नाणापज्जा जाच नाणाउज्जवसाणसंजुता ! इसं ताच तुङ्मे सागणियाणं इंगलाणं  
पाहं वहुपडिपुक्तं गहाय मुहुत्तयं मुहुत्तयं पाणिणा धरेह नो वहुसंडासगसंसारियं कुज्जा नो वहु  
अगिगथंभरिण्यं कुज्जा नो वहुसाहमिमय\*\*वेयाचडियं ( वैयाकुरुयं ) कुज्जा नो वहुपरधमिमयवेयाचडियं  
कुज्जा उज्जुया नियागपडिवज्जा अमायं कुबमाणा पाणि पसारेह, इति तुच्चा से पुरिसे तेसि पाचा-  
दुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पाति वहुपडिपुक्तं अओमएणं संडासएणं गहाय पाणिसु निसि-  
रति, तए पं ते पाचाउया आदिगरा धरमाणं नाणापज्जा जाच नाणाउज्जवसाणसंजुता पाणि पडिसा-  
हरंति ( सद्गोचयेयुः ), तए पं से पुरिसे ते सबे पाचाउए ]इयाणं आदिगरे धरमाणं जाच नाणा-  
उज्जवसाणसंजुते एवं वदासी—हं भो पाचाउया ! आदिगरा धरमाणं ( णाणापज्जा ) जाच नाणा-

द्वितीये  
श्रुतो  
दितीये-  
इयने  
त्रयोगदम-  
कियास्थान  
वर्णनम् ।

उद्धवसाणसंजुत्ता ! कमहा णं तुवभे पाणि पिडिसाहरह ? पाणी नो डहेज( दखति )दहूँ किं भविस्सह ?  
[दुक्खबं] दुक्खबंति मञ्चमाणा पाणि पाणि एस समोसरणे, पत्तेय  
तुला पत्तेय पमाणे पत्तेय समोसरणे, तथ्य णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खावति जाव पहुचिति—  
सवे पाणा जाव सवे सत्ता हंतवा अज्ञावेयवा परिदेवेयवा किलामेतवा उद्वेयवा, ते  
आगंतु छेयाए ते आगंतु भेयाए जाव ते आगंतु जाइजारमणजोणिजमणसंसारपुणठभवगठभवा—  
सभवपवंचकलंकलीभागिणो भविसंसंति, ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तलणाणं  
अंदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइमरणाणं पिडिमरणाणं भाइमरणाणं भज्जामरणाणं  
पुत्तमरणाणं धूयामरणाणं सुणहामरणाणं दारिहाणं दोहगणाणं अटियसंवालाणं पियविपयओगाणं  
बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं आभागिणो भविसंसंति, अणादिद्यं च णं अणावदग्रं दीहमङ्कं चाउरंत-  
संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियाहिस्संति, ते णो सिलिङ्गस्संति जाव नो सव-  
दुक्खवाणमंतं करिसंसंति, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे, पत्तेय तुला पत्तेय पमाणे पत्तेय

समोसरणे । तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवभाइकबंधति जाव परुविंति—सबे पाणा जाव सबे सत्ता न हंतवा जाव न उहवेयवा, ते णो आगंतु छेयाए णो आगंतु भेयाए जाव जाइजरामरणजोणि-जम्मणसंसारपुणबभवगङ्गभवपवंचकलंकलीभागिणो णो भविस्संति । ते णो बहूण दंडणाणं जाव बहूण दुक्खदोम्मणस्साणं नो आभागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवदगं दीहमज्जं चाउरंतसंसारकंतारं भुजो भुजो नो अणपरियाहिस्संति [ते सिलिज्जस्संति] जाव सबदुवक्खाणमंत करिस्संति ॥ [ सु. २६. ]

व्याख्या—‘ते सबे’ इत्यादि, ते सर्वे प्राचार्याकाञ्चिपट्टुतरशतत्रयपरिमाणा अभ्यादिकरा: यथा स्वं धम्मणां, तथा ‘नाना’ भिन्ना ‘प्रज्ञा’ ज्ञानं येषां ते नानाप्रज्ञाः, तथा नानाभृत्यतायाः, तथा ते नानाभृत्यतायाः, ते सर्वेऽपि प्राचार्याका यथा स्वं पक्षमाश्रिताः एकत्र प्रदेशे मण्डलिगत्यसाधाय तिष्ठन्ति, तेपां चैव व्यवस्थितानामेकः कश्चित्पुरुषस्तेषां प्रतिबोधनाय ऊचलतामङ्गाराणां प्रतिष्ठाणीं पात्राणीं अयोमयं भाजनं लोहपयेन मन्दंशकेन गृहीत्वा तेषां दौकितवाच्, उवाच च-भोः प्राचार्याः ! इदमङ्गारभृतं भाजनं एकेकं मुहूर्तं प्रत्येकं निभृत यूपं, न चेदं सन्दंशकं साँसारिकं नापि चारिनस्तमनं विष्वत नापि साधर्मिकाणामिन्द्रियाभिन्नाहोपशमादिनोपकार कुरुतेति ‘करजो’ मायामकुर्वाणः ॥ ७४ ॥

पाणि प्रसारणत, तेऽपि च तथैव कुर्वुः; ततोऽसौ पुरुषस्तद्भाजनं तत्पाणी समर्पयति, तेऽपि च दाहशङ्कया हस्तं सङ्कोचयेत्युरिति । ततोऽसौ तानुचाच-किमिति पाणि प्रतिसंहरत ? यूर्यं, एवमभिहितास्ते ऊचुः-दाहभयादिति । एतदुक्तं भवति-अवश्यं-मयिदाहसयान्व कश्चिदगत्यमिषुरुं पाणि ददातीत्येतत्परोऽयं दृष्टान्तः । [ स नरः प्राह- ] पाणिना दग्धेनापि किं भवतां मविद्ययति ? दुःखमिति चेद्यद्येवं दाहभीरवो यूर्यं सुखाभिलाषिणश्च, तदेवंसति सर्वेऽपि जन्तवः संसारोदरविवरवर्त्तिन एवमधुता एवेत्येवमात्मतुल्या-ऽस्त्वप्येन यथा मम नाभिमतं दुःखेवं सवजन्त्वामित्यत्वगम्याहिसेवं प्राधान्येनाऽश्रयणीया ।

‘तदेतत्प्रमाणं’ सेषा युक्तिः “आत्मवत् सर्वं भूतानि, यः परयति स पद्यति” तदेतत् समवसरणं-स एव धर्मविचारो यप्राहिसा सम्पूर्णा, तत्रैव परमार्थतो धर्मस्त्रिवेवं व्यवस्थिते तत्र ये केचनाचिदितपरमार्थाः श्रमणब्राह्मणादयः ‘एवं’ वक्ष्य-माणमाचक्षते-परेषामेवं भाषन्ते, तथैवं धर्मं ‘प्रज्ञापयन्ति’ व्यवस्थापयन्ति, तथाऽनेन प्राण्यपतापकारिणा प्रकारेण धर्मं प्रस्तुपयन्ति, तथाहि-सर्वे प्राणा इत्यादि, यावद्ग्रन्तव्या दण्डादिभिः, परित्वापियत्वयाः धर्मार्थमरघुवहनादिभिः, परिग्राह्याः आद्वादो रौहितमत्स्थादय इव, तथाऽपद्रावयितव्या देवतायागादिनिमित्तं छागादयः, इत्येवं ये श्रमणादयः प्राणिनाप्रपताप-कारिणीं भाषां भाषन्ते ते आगामिनि काले ‘अनेकशो’ बहुशः स्वशरीरन्त्वेदाय मेदाय च भाषन्ते, तथा ते सावध्यां भाषिणो भविष्यति काले जातिजरामरणानि बहुनि प्राप्तुवन्ति । [ योन्यां जन्म ] योनिजन्म, तदनेकशो गर्भवृत्कान्तजावस्थायां प्राप्तुवन्ति, तथा संसारपञ्चान्तर्गताः कलङ्कलीभावमाजो भवन्ति बहुशो भविष्यति च, तथा ते बहुनां दण्डादीनां [ शारीराणां ] दुःखानामात्मानं भाजनं कुर्वन्ति, तथा ते मातृमरणादीनां मानसानां दुःखानां तथाऽन्येषामप्रिय-

ख्यगडाक्ष-  
स्थं दीपिका-  
न्वितम् ॥

सम्प्रयोगार्थनाशादिभिर्तुःखदौर्मनस्यानामाभागिनो माचिष्यन्ति । तथाऽनाद्यनवद्यं-अनाद्यनन्तं संसारकान्तारं भूयो-  
भूयः अतुपरिगच्छिष्यन्ते, गरष्टुष्टीन्यायेन तत्रैव अमन्तः स्थास्यन्ति । तथा ते कुप्रावचनिकाः नैव सेत्स्यन्ति, नैव ते  
सर्वपदार्थान् भौत्स्यन्ते नैव ते संसारान्मोक्ष्यन्ते, तथा परिनिर्वृत्तिः-परिनिर्वाणमानन्दं नैव लप्स्यन्ते । न च ते सर्व-  
दुःखानामन्तं करिष्यन्ति, एवं स्वयुश्या अपि सानद्योपदेशतया न सेत्स्यन्ति । एषा तुला एतत्समन्वयण-मागमविचार-  
रूपं द्रष्टव्यमिति । तथा ये पुनर्विदिततत्त्वा एवं ग्रहणयन्ति-सर्वोऽपि जीवा दुःखद्विषः सुखलिप्सवोऽतो न हन्तव्या इति  
भापन्ते ते पूर्वोक्तं दण्डनादिकं न प्रास्यन्ति, संसारकान्तारमन्वितेन व्यतिक्रमिष्यन्तीत्यादि सर्वं पूर्वोक्तं भणनीयमिति ।  
भाणितानि क्रियास्थानानि, अथ पूर्वोक्तमेव संक्षेपेण कथयति—

इच्चेऽहिं बारसाहिं किरियाठाणोहं वहमाणा जीवा नो सबदुक्खवाणं अंतं  
करिंसु वा [ णो ] करिंति वा [ णो ] करिःसंति वा, एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वहमाणां  
जीवा सिंज्ञसु बुद्धिज्ञसु मुच्चिंसु परिनिवाहंसु जीव सबदुक्खवाणं अंतं करिंसु वा करिंति वा  
करिःसंति वा । एवं से भिकर्वु आतटी ( आत्मार्थी ) आयहिते आयहुते आयजोगे आयपरक्षमे  
आयरक्षिवए आयाणुकंपए आयनिष्फेडए आयाणमेव पाडिसाहरिजासि तिवेमि [ सू० २७ ] ।  
बीचसुयक्षंभस्स किरियाठाणं नाम वीयमज्ज्यणं समन्तं ॥

द्वितीये  
श्रुत०  
द्वितीया-  
इयन-  
समाप्तिः ।

॥ ७५ ॥

व्याख्या—इत्येतेषु द्वादशक्रियास्थानेष्वप्रसंपक्षः समवतार्थं पर्युते, तत् एतेषु वर्त्माना जीवा नातीते काले सिद्धा न सिद्ध्यन्ति न सेत्स्यन्ति, तथा न बुद्ध्युते बुद्ध्यन्ते न मोहयन्ते, तथा न मुमुक्षुन् मुञ्चन्ति न च मोहयन्ते, न निर्वृता न निर्वाचित् न च निवास्यन्ति, तथा न सर्वदुःखानामन्तं यथुर्वं च यान्ति न च यास्यन्ति । साम्रांत्रं त्रयोदशं क्रियास्थानं धर्मपक्षाश्रितं दशायितुमाह—‘एवंसिद्धि’ इत्यादि, एतद्विष्वयोदये क्रियास्थाने वर्त्मानाः जीवाः सिद्ध्यन्ति सेत्स्यन्ति यावत्सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्तीति स्थितम् । तदेव स भिक्षुः पुण्डरीकाइयनेऽभिहितो द्वादशक्रियास्थानवर्जेकः अधर्मपक्षातुपशमपरित्यागी धर्मपक्षे स्थित उपशान्तः आत्महितः आत्मगुप्तः आत्मयोगी—सदा धर्मद्यन्ता वस्थितः, तथा पापेभ्यो—दुर्गंतिगमनादिभ्यः आत्मा रक्षितो येन स आत्मरक्षी, सावधानुष्ठानान्विता हति भावः । तथाऽऽत्मान-मनुकमपते—शुभाऽनुष्ठानेन सद्विगमितं विघ्ने, तथाऽऽत्मानं [संयमेन] संमारचारकान्विस्सारयति, तथाऽऽत्मानमनश्यभुतेभ्यो द्वादशक्रियास्थानेभ्यः प्रतिसंहरेव, तथाऽऽत्मानं सर्वानभ्यो निवर्तयेदिति । एतच महापुरुषे सम्भावयते । इति: परिनिवेदितं, न स्वमनीषिक्येति समाप्तं क्रियास्थानार्थं द्वितीयमध्ययनमिति ।

यद्वापि सया पुण्य, क्रियास्थानं विद्युत्वता । तेन पुण्येन लोकोऽयं, भूयादानन्दमेहुरः ॥ १ ॥

इति श्रीपरमसुविहितवरतरगच्छविभूषणपाठकप्रवर श्रीमत्साधुरङ्गणिवरकृतायां श्रीमत्पूत्रकृताङ्गदीपिकायां

द्वितीयशुतस्कन्धे द्वितीयमध्ययनं समाप्तम् ॥

आहारपरिज्ञाभिर्भुतीयमध्ययनम् ।

अथ आहारपरिज्ञालयं दृतीयमध्ययनं प्रारम्भयते । तथाहि—

सुर्यं मे आउसंतेण भगवत्या एवमकरतायं—इह खलु आहारपरिज्ञानाम अज्ज्ञयणं, तस्स पं अयमटु पत्रते, इह खलु पाईणं वा ४ सवतो सवावांति च णं लोगंसि चत्तारि वीयकाया एव-माहिजंति, तं जहा—अगगचीया मूलवर्धीया पोरवीया संधवीया, तेस्मि च णं अहावगासेणं इह एगतिया सत्ता पुढविसंभवा पुढवितुक्षमा य, तजोणीया तस्संभवा तदुत्कक्षमा कर्ममोक्षगा कर्ममनियाणेण तत्थ तुक्षमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्षत्ताप् वितुदंति । ते जीवा तेस्मि नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारिति, ते जीवा आहारेति पुढविसरीरं आउ-सरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणसप्तस्तरीरं, नाणाविहाणं तस्सथावराणं पाणाणं सरीरं अचिन्तं कुबांति, परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तथाहारियं विपरिणामियं सारुविय] कठं संतं, अवरे वि य पं तेस्मि पुढविजोणियाणं रुक्षत्वाणं सरीरा नाणावणा नाणागंधा नाणाफासा नाणासंठाण-

द्वितीये शुतो  
द्वितीया-  
इयने  
चतुर्विज-  
काय-  
कणनम् ।

संठिया नाणाविहसरीरपुणगलविउद्धिता ते जीवा कम्मोचवन्नगा भवंतीति मववार्य ॥ [ सू० ३ ] ॥

व्याख्या—‘ सुयं मे ’ सुधर्मस्वामी जम्बूलाभिनमुद्दिष्टेतदाह, तद्यथा—श्रुतं मया आयुष्मता भगवतेदमाल्यात्, आहारपरिहेदमहयनं, तस्य चायमर्थः—प्रायदिदिक्षु ‘ सर्वते ’ इत्युद्धिघो विदिक्षु च सर्वस्मिन्लोके चत्वारो ‘ बीजकाया ’ बीजप्रकाशः—समुत्पत्तिमेदा भवन्ति, तद्यथा—अग्रे बीजं—येषां तेऽप्रवीजाः तलतालीसहकारादयः गालयादयो वा, यदि वा अग्राण्येवोत्पत्ती कारणतां प्रतिपद्यन्ते येषां ते कोऽण्टादयः । तथा मूलबीजा आर्द्धकादयः, पर्वबीजा इक्ष्यादयः, सकन्धबीजाः सललक्यादयः, तेषां च चतुर्विधानामपि चनस्पतिकायानां यद्यस्य ‘ बीज’प्रतिकारणं तद्यथाबीज, यथा शालयकुररस्य शालिनीज—मुत्पत्तिकारणं, एव मन्यदपि द्रष्टव्यं, ‘ यथाऽवकाशेनेति यो यस्याकाशाः—यद्यस्योत्पत्तिस्थानं, अथवा भूम्यमचुकालाकाशबीजसंयोगा यथाऽवकाशे गृह्णन्ते, तदेवं यथाबीजं यथाऽवकाशेन चेहाऽस्मिज्जगति ‘ एके ’ केचन सर्वा ये तथाविष्कम्मोदयाद्याद्यनस्पतिष्ठूलिपत्सवस्ते हि वनस्पताहुतपद्यमाना अपि पृथिवीयोनिका भवन्ति, यथा तेषां वनस्पतिविंजकारणं, परमाचारं विनोत्पत्तिर्ण स्यात् तेन पृथिवीयोनिका इत्युच्यन्ते, यथा सेवालकर्दमानाहुतपत्तौ आशारभूतममः, तथा ‘ पुढिविंशभवा ’ पृथिव्यां चनस्पतिकायसम्भवः, तथा ‘ पुढिविंशकमा ’ पृथिव्यां ‘ व्युत्क्रमो ’ वृद्धिभवति, [ एवं च ते ] तद्योनिकास्तत्समवास्तद्व्युत्क्रमाः, अर्थः पूर्ववत् । तथा ‘ कम्मोचगा ’ ते हि तथाविधेन वनस्पतिकायसम्भवेन कम्मणा प्रेर्यमाणास्तेष्वेव चनस्पतिष्ठूप—सामीप्येन तस्यामेव पृथिव्यां गच्छन्तीति कम्मोपगा भवन्ते, ते हि कम्म-

वश्वाग रत्नसप्तिकागादागत्य तेष्वेऽ पुनरपि वनस्पति पूर्वप्रवर्त्ते, न चाइङ्गक्रोसा अन्यन भविष्यति, यतः “ कुचुम-  
पुरोमे वीजे, मथुरायां नादुरः स मुद्रवत्ति । यज्ञेव तस्य वीजे, तज्ज्वेत्प्रवर्ते प्रसवः ॥ १ ॥ ” तथा ते जीवाः  
कर्मनिदानेन-कारणेन नमाठ्यमाणास्त्र-पृथिव्यां रत्नसप्तिकाये ना व्युत्क्रमः—समागताः मन्त्रो नानामिथयोनिरासु—  
पृथिव्यैषित्यन्येषामणि पणां रायानामूलपचित्यानभूतायु नविताचित्तमिश्रामु गा शेत्तद्यादिर्णे—तिक्तकादिर्ण-सुरभ्यादि-  
गन्ध-मृदुकर्कशादिस्पर्शादिकीर्णे कल्पर्णे इव कराणु भूमिणु वृद्धतया तिर्णिवं वर्णन्ते, ते च तत्रोत्पत्तास्तामां च पृथिवीनां  
‘स्नेहं’ दित्यध्यभारमादरते, न एता तेषां रत्नसप्तिकीर्णानामादार इति, न च ते पृथिवीकारीरागाहारपन्तः पृष्ठेभ्याः  
पीडामृतप्रादयन्ति । एषामकायते जोगायुतस्पतीनामाद्यायोजपम् । आ च पीडामृतप्रादनेऽप्ये दृश्यन्तेः तद्यथा-  
अण्डोद्गताचाचा जीवा गातुरुगाणा निराद्वमाना गमस्थ्या गा उद्दरगतामाहारमाहारपन्ते नातीरा पीडामृतप्रादयन्तेवेगमात्रापि  
रत्नसप्तिकार्यिकः पृथिवीम्नेहगाहारपत्तानी तस्याः पीडामृतप्रादयति उत्पत्तमानः, समूर्त्पत्तश्च युद्धिमृतप्रागतोऽसुहक्षणण-  
रमायुपेतत्वात् चाघां विद्यप्रादपीति । एषामकायप्रथमीमस्य गौमस्यान्वरित्यम् गा गुरीरमादायन्ति । तथा तेजसो ग्रस्मादिर्ण  
गुरीर गृणहन्ति, एतं वाय्यादेवरपि द्रष्टव्यम् । किं वहकेन ? नानामिथानां व्रसस्थ्याराणां चक्षुरीरं ततो समूर्त्पत्तमाना  
अनेत्रमिति—साकामे नानवप्रभय प्रापुकी बुद्धिन्त, यदि गा परिविद्यस्ता पृथिवीकारायादिशरीर फूलिन्ति, ते  
च वनसप्तिकीर्णा एतेषां पृथिवीकारायासीनां चक्षुरीरं ‘पूर्णमाहारित’ मिति तेरेण पृथिवीकारायादिभिरुत्पत्तिमये आहारित-  
मासीपृ-साकामायत्वेन परिणामितमासीन्, तदमुत्तापि नवसप्तिकीर्णीस्त्रोत्पत्तमान उत्पन्नो गा ‘त्यच्छ’ स्पृशेन आहारयति,

द्वितीये  
श्रुत०  
चृतीया-  
इयमने-  
पृथ्वी-  
योनिक-  
वृक्षाणा-  
माहार-  
वण्णनम् ।

आदार्यं च स्वकायत्वेन विपरिणामयति, विपरिणामितं च तक्तुरीरं स्वकायेन [ सह ] स्वरूपां नीतं सत्तन्मयतां प्रतिपाद्यते । अपराधयषि शुरीराणि मूलशाखाप्रतिशाखापत्रपुङ्कफलाशी तेषां पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां नानावणीनि, तथाहि स्फन्धस्यान्यथाभूतो वणो यूलस्य चान्यादग्ना इति, एवं यावचनाविभृशरीरपुङ्कलविकृष्टिस्ते भवन्तीति, तथाहि—नानारसीयविपाका नानाविधपुङ्कलोपचयात्युलकुरुपस्तस्थानास्तथा दृढालपसंहननाः कुशस्यूलस्कन्धाश्च भवन्त्येवमादिनानाविधस्वरूपाणि शुरीराणि विकृतन्तीति स्थितम् । ‘ते जीवा कम्मोचबद्गग्ना’ ते च जीवास्तत्र—वनस्पतिषु तथाविधकर्मणा उपपञ्चगास्ते चेदं एकेन्द्रियजातिस्थानामवनस्पतियोग्यायुक्तकादिकमिति, तत्कर्मोद्येन तत्रोत्पन्नाः—कर्मस्तपन्नाः इत्युन्नते, न पुनः कालेश्वरादिना तत्रोत्पन्नते इत्येवमाल्यात तीर्थकरादिभिरिति । एवं पृथिवीयोनिका[वृक्षा] उक्ताः, साम्रतेतद्योनिकेष्वेव वनस्पतिषु परे समुत्पद्यन्ते इत्येतद्वर्णयितुमाह—

अहवरं पुरकल्पायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभन्ना रुक्खबुक्कमा तज्जोणिया तसंभवा तदुक्कमा कम्मोचगा कम्मनिदाणोनं तत्थ बुक्कमा पुढविजोणिष्ठाहि रुक्खबोहं रुक्खत्ताष्विउद्दांति, ते जीवा तेस्मि पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सिणोहमाहरेंति । ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउतेउवाउवणस्तसरीरं नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचिन्तं कुर्वति परिविद्वर्थं तं सरीरं पुवाहारितं तथाहारियं विपरिणामं सारुविकडं संतं अवरे वियां तेसि

मृगडाङ्-

द्वं

दीपिका-  
निवत्स् ।

॥ ७८ ॥

रुक्खवजोणियाणं रुक्खवाणं सरीरा नाणाच्रपणा नाणागंधा नाणारसा नाणासंठाणसंठिया  
नाणाविहसरीरपोरगलविउविया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मरुवायं ॥ [ सू० ३ ]  
व्याख्या—सुषम्पस्थामी शिष्योहेशेदमाह—अथापरं एतदाख्यातं पुरा तीर्थन्नरेण, तद्यथा—इहास्मिन् जगत्येके केचन  
तथाविधकम्पोदयवात्तिनः ‘सर्वाः’ प्राणिनः वृक्षा एव योनिरुक्तपतिस्थानमाश्रयो येषां ते वृक्षयोनिकाः । इह यद् पृथिवी-  
योनिरेषु वृक्षेष्वभिहितं तदेतेष्वपि वृक्षयोनिरेषु वनस्पतिषु तदुपचयकर्तुं सर्वपायोदयं, यानदाख्यातमिति । साम्रतं  
वनस्पत्यवयवान्निधिरुत्याह—

अहावरं पुरुक्खवायं इहेगतिया सत्ता रुक्खवजोणिया रुक्खवसंभवा रुक्खवतुकमा य तज्जोणिया  
तसंभवा तदुक्खकमा कम्मोवगा कम्मनियाणेण तत्थ तुक्कमा रुक्खवा रुक्खवजोणिएसु रुक्खवत्ताए  
विउद्दिति, ते जीवा तेसि रुक्खवजोणियाणं रुक्खवाणं सिणेहमाहरेति, ते जीवा आहारिति पुढिविसरीरं  
आउतेउवाउवणस्सइसरीरं [ नाणाविहाणं ] तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुब्बति, परिविद्धत्थं  
तं सरीरं युवाहारियं तथाहारियं विपरिणयं सारुविकर्डं संतं अवरे विय य एं तेसि रुक्खवजोणि-  
याणं रुक्खवाणं सरीरा णाणाच्रपणा जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मरुवायं ॥ [ सू० ३ ]  
॥ ७८ ॥

द्वितीये  
श्रुतो—  
वृतीया-  
ध्ययते  
वृक्षोपरि-  
जात-

वृक्षणा-  
माहारादि-  
वर्णनम् ।

॥ ७८ ॥

न्याख्या—अथपरमेतदाख्यात्, तदश्यति—हहास्मिकुगत्ये के, न सर्वं, तथाविष्वकर्मदयवाचिनो वृक्षयोनिकाः सच्च वा मवनित तदवयवाश्रिताश्वापे चनस्पतिरुपा एव प्राणिनो भवन्ति, तथाहि—यो होको चनस्पतिजीवः सर्ववृक्षावयव-वृक्षापी भवन्ति, तस्य चापे तदवयवेषु मूलकन्दस्कन्धत्वकृष्णाखाप्रवालपुष्पप्रफलबीज भूतेषु दशसु स्थानेषु जीवाः समु-त्पद्यन्ते । ते च तत्रोत्पद्यमाना वृक्षयोनिकाः वृक्षोद्भवाः वृक्षव्युत्कमाश्वो[न्यन्ते] त्पद्यन्ते (?) इति, शेषं पूर्ववत् । इह च प्राक्चतुर्विधाय प्रतिपादकानि सूक्ष्माण्यभिहितानि, तथाया—चनस्पतयः पृथिव्याभिताः भवन्तीत्येकं २, तच्छरीरमप्कायादि-शरीरं वाऽऽहारयन्तीति द्वितीयं २, तथा विशुद्धास्तदाहारितं शरीरमचिच्च विश्वस्तं च कृत्वा ३५त्मसात्कुर्वन्तीति दृतीयं ३, अन्यान्यपि तेषां पृथिवीकाययोनिकानां चनस्पतीनां शरीराणि मूलकन्दस्कन्धादीनि नानाचणणीनि मवन्तीति चतुर्थं ४, एवमत्रापि चनस्पतियोनिकानां चनस्पतीनामेवंविद्यार्थप्रतिपादकानि चतुर्थकारणि सृक्षणि द्रष्टव्यानि याच्चेते जीवा चनस्पत्यवयवमूलकन्दादिरुपाः कर्मपैपचागा भवन्तीत्येव मारण्यात्म ॥

अहावरं पुरकखायं इहेगतिया सत्ता रुक्खवजोणिया सर्वखसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुक्कमा कर्ममोचगा कर्मनिदाणेणं तत्थ तुक्कमा रुक्खजोणिषु रुक्खेषु मूलत्ताए कंदत्ताए लंधन्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तन्ताए पुरकत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउद्दंति, ते जीवा तेस्मि रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणोहमाहारिति, ते जीवा आहारिति पुढविसरीरं आउ-

तेउवाउवणससइसरीं नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरे आचिन्तं कुबंति परिविद्धत्थं तं  
सरीं जाव साळविकडं संतं, अचेरे विय णं तेसि रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं  
सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणाचणा नाणांगधा जाव नाणाविहसरीरपोगलवित्विता  
ते जीवा कम्मोववद्वगा भवंतीति मवखायं ॥ [ सूत्रं ४ ]

॥ ७६ ॥

इयारुप्या—अयमालापकोडव्याह्यात एव प्राप्तवर्त्ते, अत्र तु लिखितोऽस्ति मया, (पर) सम्यग्नाऽवगतोऽस्ति, तेन  
विद्धिः सम्यग् विचार्य चाचनीय++। साम्रपं वृक्षोपर्युपपञ्चान् वृक्षानाश्रित्याह—  
अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया। रुक्खसंभवा रुक्खतुक्कमा तज्जोणिया  
तसंभवा तदुवक्कमा कम्मोव[वञ्च]गा कम्मनिदाणेणं तत्थ तुक्कमा रुक्खजोणिपाहि रुक्खोहि  
अज्ञारुहत्ताष्ट विउदंति, ते जीवा तेसि रुक्खजोणियाणं अज्ञारुहा[ रुक्खा ]णं सिणेहमाहारिति,  
ते जीवा आहारिति पुढविसरीं जाव सारुविकडं संतं, अचेरे विय णं तेसि रुक्खजोणियाणं

+ “ अथापरमेतदाख्याते—इहेके सत्त्वा वृक्षयोनिकाः युः, वस्यकस्य घनस्पत्तेर्मुलारम्भकस्य उपचयकारिणस्ते वृक्षयोनिका  
चचन्ते; यदि वा मूङ्कन्धाविकाः पूर्वोक्तदशरथात्वचित्तस्ते एवमुच्यन्ते । अत्रापि घृतचतुष्टयं प्राचकृत् । ” इति इष्ठ० ।

॥ ७७ ॥

द्वितीये  
श्रुत०  
वृतीया-  
इयने  
बुक्षोपरि-  
जातद्वाषा-  
णामाहार-  
वर्णनम् ।

अज्जारुहाणं सरीरा नाणावणा जावमकखायं ॥ [ सूत्रं ५ ]

नयारुहा—अथापरमेतत्पुराऽऽरुहयां यद्दृश्यमाणमिहेके सरवा बुक्षयोनिका भवन्ति, तत्र ये ते पृथिवीयोनिका बृक्षास्तेऽचेव प्रतिप्रदेशतया ये अपरे समुत्पद्यन्ते, तस्यैकस्य चन्दपतेर्मुलारम्मकस्योपचयकारिणस्ते बुक्षयोनिका इत्यमिथीयन्ते, स्तेषु च बुक्षयोनिकेषु बृक्षेषु कर्मसौपादाननिवादितेषु उपर्युपरि अङ्गयारोहन्ती ल्यधारुहा—बुक्षोपरि जाता बृक्षा इत्यमिथीयन्ते । तेषु च बुक्षयोनिकेषु बृक्षेषु कर्मसौपादाननिवादितेषु उपर्युपरि अङ्गयारोहन्ती ल्यधारुहा—बुक्षोपरि जाता बृक्षा इत्यमिथीयन्ते । ते च वल्लीबुक्षामिधानाः कामबुक्षामिधानाः वा द्रष्टव्यस्तद्वावे चापरे चन्दपतिकायाः समुत्पद्यन्ते बुक्षयोनिकेषु चन्दपतिकिति, ते च इदं प्रथमं स्वं । इहापि प्रागच्छत्वारि खत्राणि द्रष्टव्यान्ति, तद्यथा—बुक्षेष्वपरेऽङ्गयारुहा: समुत्पद्यन्ते, तत्रोत्पचाः स्वयोनिभूतं चन्दपतिशरीरमाहारयन्ति, तथा पृथिव्यपृतेजोवारुहानीनां गरीरकमाहारयन्ति, तच्छरीरमाहारितं सदचितं चिङ्गस्तं विपरिणामितमात्मसात्कृतं स्वकायाचयवतया वयवस्थापयन्ति, अपराणि च तेषामध्यारुहाणां नानाविधिः प्रथमं खत्रम् १ ॥

अहावरं पुरकखायं द्वैगतिया सत्ता अज्जारुहजोणिया अज्जारुहसंभवा जाव कम्मनिदणोणं तत्थ त्रुक्मा रुक्मवजोणिएसु अज्जारुहेसु अज्जारुहताप् विउद्दृति, ते जीवा तेसि अज्जारुह- [ रुक्म ] जोणियाणं अज्जारुहाणं सिणोहमाहारिति, ते जीवा [ आहारिति ] पुढविसरीरं जाव

सारुचिकडं संतं, अवरे वि य णं तेसि अजङ्गारुहजोणियाणं अजङ्गारुहाणं [ सूतं ६ ]

सारुचायं ॥ [ सूतं ६ ]

वयालया—अयापरं पुराऽल्पयातं मे ते प्राग् इश्योनि केऽपु बुधेषु अव्याहराः प्रतिप्रदेशोप-  
चयकृत्तरिऽल्पारुहतनसपतित्वेनोपपथनो, ते च वीरा अव्याहरप्रदेशोपत्पत्वा अव्याहरुहजी गास्तोपां स्वयोनिपूतानि शरीरा-  
ण्याहारयन्ति, तत्त्वापराण्यपि पृथिव्यादीनि शरीराण्याहारयन्ति, अपराणि चाव्याहरुहग्रमवानामव्याहरुहजी गानां नाना-  
वर्णकादीनि शरीराणि भवन्त्वेऽपारुहयातप्रिति द्वितीयं चाप्तम् २ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अजङ्गारुहजोणिया अजङ्गारुहसंभवा जाव कस्म-  
निदाणेणं तत्थ तुक्खमा अजङ्गारुह( रुक्ख )जोणिप्रसु ( अजङ्गारुहेसु ) अजङ्गारुहत्ताए विउदंति,  
ते जीवा तेसि अजङ्गारुहजोणियाणं अजङ्गारुहाणां सिणेहमाहारिति, ते जीवा आहारिति पुढिविसरीरं  
आउ[ सरीरं ] जाव सारुचिकडं संतं, अवरे वि य णं तेसि अजङ्गारुहजोणियाणं अजङ्गारुहाणं  
सरीरा नाणाचवदा जावमक्खायं ॥ [ सूतं ७ ]

वयालया—अयापरं पुराऽल्पयातप्रिति के सत्त्वा अव्याहरुहसम्बैज्ञियारुहेष्वद्याहितेनोपयन्ते, ये चैवमुत्पत्त्वते तेऽप्या-

रुद्धयोनिकानामइयारुहाणं पानि शरीरणि तान्याहारयन्ति । द्वितीयपृष्ठे बुश्योनिकानामइयारुहाणं यानि शरीरणि तानि अपरेइयारुहजीवा आहारयन्ति, तृतीये त्वच्यारुहयोनिकानामइयारुहजीवानां शरीरणि द्रष्टव्यानीति विशेषः । इदं हु

चतुर्थकं, तद्यथा—

अहावरं पुरकस्वार्यं इहेगतिया सत्ता अज्ञारुहजोणिया अज्ञारुहसंभवा जाव कस्मनिदाणेण तत्थ बुक्कमा अज्ञारुहजोणियसु अज्ञारुहेसु( अज्ञारुहताए )मूलताए जाव बीयत्ताए विउद्दिंति, ते जीवा तेसि अज्ञारुहजोणियाणं अज्ञारुहारिति( ते जीवा आहारिति पुढवीसरीं आउ०) जाव( सारुविकडं संतं, )अवरे विय यं तेसि अज्ञारुहजोणियाणं ( अज्ञारुहाणं )

मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा नाणावणा जावमक्खायं ॥ [ सू० ८ ]

व्याख्या—अथापरमिदमारुहाणं, तद्यथा—हैके सत्त्वा अरुहयोनिकेनरुहेषु मूलकन्दस्कन्धत्वक्षगाखावाप्रचाल-पत्रपुष्पकलबीजमावेनोत्पदन्ते, ते तथाविधकमर्मीपता भवन्तीत्येतदारुहातमिति । शेषं पूर्ववदिति । साम्पतं बुश्यतिरिक्तं शेषवनस्पतिकायमाश्रित्वाह—

अहावरं पुरकस्वार्यं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव नाणाविहासु जोणिया-

च्यगड़ाङ्ग

मूर्खं दीपिकान्वितम् ॥

सु पुढवीसु तणताए विउद्दंति, ते जीवा तेस्ति नाणाचिहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारिति जाव  
ते जीवा करमोववद्वा भवंतीति मकखार्य १ [ सू० ९ ] एवं पुढवीजोणिएसु तणेसु तणताए  
विउद्दंति, जाव मकखातं २ [ सू० १० ] एवं तणजोणिएसु तणेसु तणताए विउद्दंति, तणजोणि-  
यं तणसरीरं च आहारिति जावमकखार्य ३ । एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलताए जाव बीयताए  
विउद्दंति ते जीवा जाव [एव]मकखार्य ४ ।

नयाल्या—अथापरमिदमाल्यातं यदुत्तरत्र वक्ष्यते, तथाया—इहैके गत्वा: [ पृथिवीसम्भवः ] पृथिवीसम्भवः [पृथिवी-]  
व्युत्कमा इत्यादयो यथा बुशेषु चत्वार्या[चत्वार आ]लापकः । एवं तुणतपद्याभित्य द्रष्टव्यास्ते चामी—नानाविधासु पृथिवी-  
योनिषु तुणत्वेनेत्पद्यन्ते पृथिवीजरीर चाहारयन्ति १ । द्वितीय एवं पृथिवीयोनिकेषु तुणतपद्यन्ते तुणशरीरं चाहारयन्ति २ ।  
तृतीय एवं तुणयोनिकेषु तुणतपद्यन्ते तुण [योनिकं] तुणशरीर चाहारयन्ति ३ । चतुर्थं तुणयोनिकेषु तुणतपद्यन्ते पूलादिषु  
दशप्रकारेषुपद्यन्ते तुणशरीर चाहारयन्तीत्येवं पाठादाळ्यातमिति ४ ।

[ एवं ] ओसहीणं चत्तारि आलावगा, एवं हरियाण वि चत्तारि आलावगा [ सू० ११ ]  
नयाल्या—एवमौष्याश्रयाश्रत्नार आलापका भणनीया, नवं—ओषधीप्रहणं कर्तव्यं, एवं हरिताश्रयाश्रत्वारः  
॥ ८१ ॥

द्वितीये श्रुत० वृतीया-  
प्रत्यने- पृथिवी-  
योनिकादि- वृणाना-  
माहारादि-  
वर्णनम् ।

आलापका वाचन्याः । कुहणेषु त्वेक एवं आलापको दृष्टव्यः, स चायं—

अहावरं पुरकखायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थ  
उक्कमा पाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कूहणत्ताए, कंदु[क]त्ताए  
उवेहलिरिणियत्ताए निवेहलिरिणियत्ताए सञ्जुत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउदंति,  
ते जीवा तेसि नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढवी सरीरं  
जाव संतं, अवेर वि य एं तेसि पुढविजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं सरीरा नाणावणा  
जावमव्वायं । इक्को चेव आलावगो, सेसा तित्ति नात्थि ।

व्याख्या—कुहणेष्वेक एवालापको ईयः, रोपाल्यो न सन्ति, तयोनिकानामपरेपामभावादिति । इह चामी चनस्पति-  
चिशेषा लोकव्यवहारतोऽवगत्तव्याः प्रज्ञापनातो या जवसेया इति । सम्प्रतमएकाययोनिकस्य चनस्पतेः स्वरूपं दर्शयितुमाह—  
अहावरं पुरकखायं इहेगतिया सत्ता उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ  
उक्कमा पाणाविहजोणियसु उदगेषु रुक्खत्ताए विउदंति, ते जीवा तेसि नाणाविहजोणियाणं  
उदगाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवेर वि य एं तेसि उदग-

स्थगड़ाह-  
सं-  
दीपिका-  
नितम् ।

॥ ८२ ॥

जोणियाणं रुक्खाणं सरीरा नाणावणा जावमक्खायं । जहा पुढीजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि  
गमा अङ्गारुहाणा वि तहेव तणाणं औसहीणं [ हरियाण ] चत्तारि आलाचगा भाणियवा इकेके ।  
ब्लूट०  
चृतीया-  
इपयने-  
उदक-  
योनिका-  
दिष्पुष्टाणा-  
मादारादि-  
स्फळम् ।

ब्लूरुह्या—अथानन्तरमेतद्व्यपमाणमारुपातं, तद्याया—इहैके सर्वास्तथानिधक्रमोदयादुदरुयोनिका उदकममभवा  
यावस्तकममनिदानेन मन्दानितास्तद्व्यपकमा भवन्ति, ते च तत्क्रमवर्त्तणा नानाविधयोनिके पूर्वके  
‘ब्लूलक्रमनित’ उत्पद्धन्ते । ये च जीवा उदकयोनिका बुक्खत्वेनोत्पमास्ते तत्त्वरीर-माहारयन्ति, न केवल  
तदेव, अन्यदपि बुधिमीकायादिकं शरीरमाहारयन्तीति । शेषं पूर्ववेष्यम् । यथा पृथिवीयोनिकानां बुक्खाणं चत्तार आलापका  
एव ब्लूलकयोनिकानामपि बुक्खाणं भगवन्तीत्येवं द्रष्टव्यं, तदृत्पगानामपरम्य पागुक्तस्यप्रविक्षयिकवप्याभावाद्विति । कि तर्हि ? एक  
एवालापको भवति, [ए]तेपां हि उदकाङ्गतीनां वनस्पतिकायानां तथा अवक्षपनकर्त्तैवलादीनामपरम्य प्रागुक्तस्य विकरप-  
स्याभावादिति, एते चोदनाश्रया वनस्पतिकियोगाः कल्पयुक्ताङ्गाः इयो लोकन्याहारोऽवसेष्या इति ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कममनियाणेणं तत्थ  
त्रुक्मा नाणाविहजोणिएसु उदप्रसु उदगताप् अवगताप् पणगताप् सेवालत्ताप् कलंहुगताप्  
हुडताप् कसेरुगताप् कच्छमाणियताप् उद्यपलत्ताप् पउमत्ताप् कुमुयत्ताप् तलिणत्ताप् सुभगत्ताप्

\* # पलविन्दृशन्तर्गतः भाठो छेषाहोपजः; सम्भाव्यते, वृत्तिष्ठुपउभम्भात् ।

सोंगं भियत्ताएः पौडरीयमहापौडरीयत्ताएः सयपत्तत्ताएः सहसपत्तत्ताएः पवं कलहारकोकणत्ताएः  
 अराविदत्ताएः तामरसत्ताएः भिसामिसमुणालपुकखलत्ताएः पुकखलचिछभगत्ताएः विउदंति, ते जीवा  
 तेसि नाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिंगेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीं जाव  
 संतं, अवरे वि य णं तेसि उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुकखलचिछभगाणं सरीरा नाणावणा  
 जावमक्खायं । एको चेव आलावगो ३ । [ स० १२ ]

व्याख्या—अथापरमन्यत् स्थानंकं तीर्थकर्त्तराहयात्, तद्यथा—‘इ’ जगति एके जीवा उदकयोनिका नानायोनि-  
 (का)के (?) अचकपतकसेवालाः सावनमृणालपुकखलत्ता उत्पदन्ते, ते जीवा नाताविषयोनिकोदकस्तेहमाहारयन्ति इत्यादि  
 पूर्वचत् । अस्यामेक एव आलापको शेषः ।

अहावरं पुरकखवायं इहेगतिया सन्ना तेसि चेव पुढविजोणिष्ठाहि रुक्खेहि रुक्खजोणिष्ठाहि  
 अहावरं पुरकखवायं इहेगतिया सन्ना तेसि चेव पुढविजोणिष्ठाहि रुक्खेहि रुक्खजोणिष्ठाहि  
 अहावरं पुरकखवायं इहेगतिया सन्ना तेसि चेव पुढविजोणिष्ठाहि रुक्खेहि रुक्खजोणिष्ठाहि

× परचिन्दशान्तवैत्तिपाठस्थाने ‘रुक्खेहि रुक्खजोणिष्ठाहि’ इत्येवचिषः पाठोऽस्ति सद्युचिकमुद्रितप्रतिषु ।  
 + ( ) नास्येवचिन्दशान्तर्गतः पाठः पुण्यपत्तीयदीपिकाप्रतिषु ।

भूयगडाहा

स्वन्  
दीपिका-  
विवरम् ।

॥ ८३ ॥

\* जाव वीर्यहि, पुढविजोणिएहि तणोहि \* तणजोणिएहि मूलेहि जाव वीर्यहि, एवं [ ओसहीहि ] सबत्थ वि तिनि आलाचगा, एवं हरिएहि ) वि तिनि आलाचगा, पुढविजोणिएहि वि आएहि काएहि जाव कुरुए[ कुरे]हि उदगजोणिएहि \* रक्खेहि \* रक्खजोणिएहि मूलेहि जाव वीर्यहि, एवं अज्ञारुहेहि वि तिनि आलाचगा, ओसहीहि वि तिनि हरिएहि वि तिनि उदगजोणिएहि उदग अचपाहि अचपाहि उदगएहि अचपाहि जाव पुक्खलचित्तभगाहि तसपाणताए विउहंति ४ । ते जीवा तेसि पुढविजोणियाणं उदगजोणियाणं रक्खजोणियाणं अज्ञारुहजोणियाणं ओसहीणियाणं अज्ञारुहाहाणं अज्ञारुहाणं तणाणं ओसहीणियाणं हरियाणं मूलाणं जाव वीर्याणं आयाणं कायाणं जाव कुरचा[ कुरा]णं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलचित्तभगाणं सिणेहमाहारिति । ते जीवा आहारिति पुढविसरिर जाव संतं, अवरे वी य एं तेसि रुक्जोणियाणं अज्ञारुहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहीणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंद-

\* अत्रैतिष्ठन्दस्थानेतु " अज्ञारुहेहि अज्ञारुहेहि मूलेहि " तथा " तणजोणिएहि तणोहि " तथा " रुक्ख जोणिएहि रक्खेहि " इति॒सेषा पाठाधिक्यमस्ति समुत्तिक्षुद्रित्प्रतिष्ठा ।

॥ ८३ ॥

जोणियाणं जाव - बीयजोणियाणं - आयजोणियाणं कायजोणियाणं [कूरजोणियाणं - जाव - कूरजोणियाणं ]उदग-  
जोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलचिछभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा नाणाचपणा

जावमकखायं ३ ॥ [ सू० १३ ]

जीवा: पृथिवीयोनिकानां तथोदकानां वृक्षाणां वृक्षाणां वृक्षाणा-  
वृक्षाणा—ते बनस्पतावृत्पत्रा जीवा: पृथिवीयोनिकानां तथोदकानां वृक्षाणां वृक्षाणां  
यावत्सेहमाहारयन्तीत्येतदाख्यातामिति, तथा त्रसानां प्राणीनां शरीरमाहारयन्तीत्येतदवसाने इष्टव्यमिति । तदेव वनस्पति-  
कायिकानां सुप्रतिपाद्यवैतन्यानां स्वरूपममिहिंतं, शेषाः पृथिवीकायाद्यश्वत्वार एकेन्द्रियाद्यिष्यन्ते, साम्रांत-  
क्रसकायिकस्यावसरः, स च नारकतिर्थहमतुष्यदेवमेदमितः, तत्र नारका अप्रत्यक्षत्वेनातुमानप्राणाः, [तथाहि—] दुकृत-  
कर्मफलभुजः केचन सन्तीत्येवं ते ग्राहाः, तदाहारोऽप्येकान्तेनाशुभपुदगलनिर्वातिं ओजसा, न प्रश्नेषेणेति, देवा अप्यधुना-  
वाहुत्येन अतुमानगमया ए[व], तेषामप्याहारः शुभ एकान्तेनोजोनिर्वातिं तोऽना-  
इति, शेषाङ्करुत्वा भोगकृतः प्रतिसमयमार्थी आभोगकृतश्च जघनयेन चरुश्च भक्तकृत उत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिशद्वर्पसहस्रनिष्पादित  
[भोगकृतश्च, तत्रानाम]भोगकृतः प्रतिसमयमार्थी मध्यहितत्वाचातेव प्राक् प्रदर्शयितुमाह—

अंतर-  
क्रमसमूमिगाणं अक्रमसमूमिगाणं तं जहा—क्रमसमूमिगाणं अंतर-  
अहावरं पुरक्खवायं नाणाचिहाणं मणुस्ताणं, दीविगाणं आरियाणं सिलव्युगाणं, तेस्मि च एवं अहावीष्णं अहावगासेणं इत्थीष्ठुरिसस्य कर्म-  
दीविगाणं आरियाणं सिलव्युगाणं, तेस्मि च एवं अहावीष्णं अहावगासेणं इत्थीष्ठुरिसस्य कर्म-

कडाए जोणिए पृथं भेदुणवाचिए नामं संजोगे समुपजाति, ते दुहओ वि सिणेहं संचिणांति ।

व्याकुपा—अथानन्तरमेत्तद्गुरुः पूर्णपालवार्गं, तया—आयांगापनायार्गं च कूर्मभूषितारुर्मपूर्णिना रीनां मुरुप्याणां नानाविषयेनिकानां इवरुं गङ्गयमाणनीत्या मालालवातं, तेषां च छीरुंतुंप नमे देभिनानां ‘यामीतेनै’ति यशस्य वीज, तत्र स्थिगः समन्विष्य शोणितं पुरुषस्य शुक्रमेत्तद्गमपद्यतिकृतं, शुक्राविनं मन्महतुर्यस्य शोणिताभिंकं स्थियास्तत्समता नंतुपकस्य ऊरणतां प्रतिपद्यते, तया ‘सथान करोरेते’ति यो यद्याकाशो मातुकरुरकृत्यादिकः, तत्रापि किल वामा स्थियो दक्षिणा गुक्षिः पुरुषगोपयाऽस्तितः प०ह इति । तर चारिचक्षता योनिरविद्वस्तं+ शीजामिति चत्वारो भक्तकाः, तत्राप्यय एव गङ्गक उत्पत्तेरवकाशो, न ऐषेषु विदिति । अत्र च यीरुंमगोद्देहये सति पूर्णकर्मनिर्वितायां योनौ ‘मैयुनप्रत्ययिको’ रतागिलागोदयब्रनितोऽनिनकारणयोररणिकागुयोरितं संयोगः सपुत्रयते, तत्संयोगे च तल्लुकशोणिते ममुपादय तनोहिपत्तमवो ब्रन्तवस्तैजयकामणाम्यां शशीराम्यां कर्मसंज्ञुमन्दन्दनितास्त्रोत्पथन्ते । ते च प्रथममुम्यमोरपि हेदमाचिन्तन्त्यविद्धस्तपां योनौ सत्यामिति, विद्धस्यते ए योनिः “पश्चपत्राचिका नारी, सर्वत्सप्ततिकः उमानि”ति, तया द्रादश द्वृहत्तर्णि याचल्लुकशोणिते अनिद्धस्वयोनिके गवत्तत्र लक्ष्म इंगप्रगङ्गत इति ।

तथं यां जीवा इतिथत्ताप्य पुरिसत्ताप्य नपुंसगत्ताप्य विउद्दंति ।

+ “ शीक २, अधिष्ठाता चोनिविष्वात पीजं ३, विष्वाता चोनिरविष्वात भीजं ३, विष्वरता गोनिप्रिष्वातं । ” इति इ३० । ॥ ८४ ॥

द्वितीये  
श्रुत ०  
वृतीया-  
द्वयने-  
मतुष्यो-  
त्पति-  
वर्णनम् ।

व्याख्या—तत्र च जीवा उमयोरपि स्तेहसा [हार्य—आ]दाय इचकर्मविपाकेन यथास्त्वं स्त्रीपुन्तुमकमादेन ‘विउद्दृति’नि  
विवर्तन्ते—सप्तप्रधन्ते ।

ते जीवा मातउप् उर्यं पिउर्यं सुक्कं तं तदुभयसंसद्धं कलुसं किविसं लप्पहमयाए आहारमाह-  
रिति । ततो पळ्छा जं से साता नाणाविहाओ रसवईओ आहारमाहरेति ततो एगदेसेण ओय-  
माहारिति, आणपुवेण बुड्हा पलिचागमणपवज्ञा ततो काथातो अभिनिवृद्धमाणा इतिथ वेगया  
जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति णायुंसगं वेगया जणयंति । ते जीवा डहरा समाणा माउप् खीरं  
सर्पिप् च आहारिति आणपुवेण बुड्हा ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारिति पुढविर-  
सरीरं जाव सारुविकडं संतं, अवरेवियणं तेत्सिं पाणाविहाणं मणुस्साणं कस्मभूमिगाणं अकम्म-  
भूमिगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलकखुणं सररिरा नाणाविणा भवंतीति मकखायं ॥ [सू०१४]  
व्याख्या—ततरस्ते जीवास्तत्रोत्पज्ञाः सन्तो मातुशहारमोजसा मिशेण वा लोमभिर्वित्तुपृद्येणहारयन्ति ‘यथाकमं’  
आनुपैर्येण वृद्धिशुपगताः सन्तो ‘गर्भेपरिणांकं’ गर्भनिष्पचिमतुपचास्ततो भावुः कायादभिनिवर्त्तमानाः—पृथग्मवन्तस्तत-  
दोतेनिर्वल्लिति, ते च तश्चाविष्करौदयादत्सनः स्त्रीभासदेकदा जनतशन्तिं अपरे केवत फुम्भावं नफुम्भावं च, इदमुक्तं

ब्रह्म-

संत्र-

दीपिका  
नित्रम् ।

॥ ८५ ॥

भवति-स्वीरुंनपुंकरमाचः ग्राणिनां स्यहुतकर्मनिर्विचितो भवति, न पुनर्ये यादुगेवेति, ते च तदहर्जातगालकाः मन्त्रः पूर्वगवाच्यासादाहारापिलापिणो मातुः स्विनस्तन्याहारयन्ति, [ तद् ] ग्राहारेण च गृद्धिमुपगतास्तदुचरकालं नवनीतद घोदनादिरुं यान्तकुलमापान् भुज्जते, तथाऽऽहारत्वेनोपगतौक्ष्यास्थानरौथा प्राणिनस्ते जीवा आहारयन्ति, तथा नानाविष्वपृथिवीशरीर लगणादिरुं सचेतनमचेतनं च। आहारयन्ति, तचाऽऽहारितमात्मसात्मकुरुतं सह “ रसासुइमांसमेऽदोऽस्मिंश्च मज्जाशुक्रांकां भातत्व ” इति सप्तश्च अप्यवस्थापयन्ति, अपराण्यपि तेषां नानानिधिमतुष्याणां [ नानावणीनि ] शरीराण्याविभवन्ति, ते च तद्योनिकल्पातादाधारभूतानि नानानाणन्ति शरीराण्याहारयन्तीत्येवमाहयतमिति । एवं तावदभवयुक्तजमनुरुप्याः प्रतिपादितास्तदनन्तर सम्मूल्लज्जानामवसरः, ताँश्चेचत्र प्रतिपादित्यामि । साम्रात तिर्यग्यो-

द्वितीये  
श्रुते●  
वृतीया  
ध्ययने  
जलचर  
पञ्चेन्द्रि-  
याणा-  
माहारादि-  
वर्णनम् ।

अहावरं पुरकखायं पाणाचिहाणं जलचराणं पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा-मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं तेस्मि च णं अहावीषणं इत्थीए पुरिस्सस य कम्मकडाए जोणीए तहेच, जाव ततो एगदेसेण ओयमाहारिंति आणुपुदेण तुद्वा पलिपागमणुप्पवक्त्रा ततो कायातो अभिनिवृहमाणा, अंडं वेगया जणयन्ति पोयं ए[वे]गया जणयन्ति, से अंडे उन्निमज्जमाणे इतिथ वेगया जणयन्ति पुरिसं वेगया जणयन्ति नपुंसगं वेगया जणयन्ति । ते जीवा उद्दरा समाणा

॥ ८५ ॥

आउसिणोहमाहारिंति आणुपुषेणं उद्धा वणस्सइकायं तसथावेरे य पाणे, ते जीवा आहारेति  
पुढविसरीरं जाव संतं, अवेरे वि य णं तेसि नाणाविहाणं जलचरपंचिद्यातिरिक्खजोणियाणं  
मच्छाणं सुंसुमाराणं सरीरा नाणावणा जावमवलायं ।

व्याख्या—अथाऽन्तरमेतद्वक्षयमाणं पूर्वमाख्यातं, तद्यथा—नानाविभजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां सम्बन्धितः  
कौशित् स्वनामग्राहमाह—“ मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं ” तेषां म[त्स्य] चलकलुपादीनां यस्य यथा यद्यौजं तेन तथा  
‘ यथाऽवकाशेन ’ यो यस्योदरादावकाशस्तेन, व्यिगः पुरुषस्य च स्वकर्मनिश्चितायां योनावृत्पघन्ते, ते च तत्रामित्यका  
मातुराहारेण वृद्धिमुपगताः स्त्रीपुंनर्पुंसकानामन्यतमवेनोत्पघन्ते, ते च जीवा जलचरा गर्भाद्यनुकान्ताः सन्तस्तदनन्तरं  
यावद् ‘ उद्दर ’ ति लघवस्तावदपोस्नेहमध्यायेचाहारयन्ति, आतुपूर्वेण च वृद्धाः सन्तो चनसपतिकायं त्रिसान् स्थावरा-  
श्वाहारयन्ति । तथा ते जीवाः पृथिवीशरीरं—कर्द्दमस्तवरूप कर्मण वृद्धिमुपगताः सन्त आहारयन्ति, तचाहारितं सत्समानरूपी-  
छतमात्मसत्पत्रिणामयन्ति, शेषं सुगमं, यावत्कर्मणेषां भवन्तीत्येवमाख्यातम् । साम्रांतं स्थलचरातुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं नाणाविहाणं चउपपयथलचरपंचिद्यातिरिक्ख जोणियाणं [त जहा—]  
एग्रखुराणं, दुखुराणं, गंडीपदाणं, सणाफक्याणं, तेसि च णं अहावगासेण इत्थीष-

भगवान्  
ब्रह्म  
दीपिका-  
निधनम् ।

॥ ८६ ॥

पुरिसस्स य कम्म० जाव मेहुणवन्ति॒ नामं संजोगे॑ समुपपज्जति॑, ते दुहंओ सिणे॑ हं संचिणांति॑,  
तत्थ णं जीवा इतिथत्ता॒ए पुरिस[त्ता॒ए] जाव विउहांति॑ । ते जीवा माउए॑ उयं पिउसुक्क॑, एवं जहा॑  
मणुस्साणं जाव इर्तिथ वेगया जणयंति॑ पुरिसंपि॑ नपुंसंगंपि॑, ते जीवा डहरा समाणा॑ माउणो॑ खीरं  
सटिप॑ आहारिति॑ । आणुपुवेण॑ बुङ्गा॑ वणस्सतिकायं॑ तसथाचेरे॑ य पाणे॑, ते जीवा आहारिति॑ पुढावि-  
सरीं॑ जाव संतं॑, अवरे॑ वि॑ य णं तेस्स नाणाविहाणं॑ चउपपयथलचरपांचिद्यतिरिक्खजोणियाणं॑  
एगछुराणं॑ जाव सणफक्याणं॑ सरीरा नाणावणा॑ जावस्सखायं॑ ।

व्याख्या—अथापरमेततीर्थकैरशल्पातं॑ नानाविधानां॑ चतुष्पदानां॑, तवथा—एक्षुराणामश्शानां॑, द्विष्ठुराणां॑ गोम-  
हिष्यादीनां॑, गण्डीपदानां॑ हस्तयादीनां॑, सनखपदानां॑ सिद्ध्याघ्रादीनां॑, तेपां॑ यथाचीं॑ यथाडा काशं॑ जी गानामुहपत्तिस्ते॑  
व षुद्धिष्पगताः॑ सन्तोऽपरेगामपि॑ शरीरमाहारयन्त्रीति॑, शेषं॑ लुगां॑, यावत्कम्मोपगा॑ भवन्तीति॑ । साम्रांत उरः॑  
परिसप्पर्विद्विश्या॒इ—

अहावरं॑ पुरक्खायं॑ नाणाविहाणं॑ उरपरिसप्पाणं॑ थलचरपांचिद्यतिरिक्खजोणियाणं॑, तं जहा—  
अदीणं॑ अजगराणं॑ असालिआणं॑ महोरगाणं॑, सेस्स च णं [अहावीएणं॑] अहावीएणं॑ इत्थीए॑ जाव

द्वितीये॑  
श्रुत०॑  
द्वृतीया॑  
ज्ञयने॑  
स्थलचर॑  
पञ्चेन्द्रिया॑  
णामाहर-  
नर्णनम् ।

॥ ८६ ॥

दृथ णं मेहुणे, एवं तं चेव, नाणांतं—अंडं वेगया जणायंति पोयं वेगया जणायांति, से अंडे उडिभ-  
ज्जमाणे इतिथ वेगया जणायंति पुरिसंपि नपुंसगंपि, ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेति,  
आएपुष्वेण बुद्धा वणस्पतिकायं तस्थाचरे पाणी, ते जीवा आहारिति पुढिचिलसरीं जाव संते, अचरे  
वियणं तेस्ति नाणाचिहाणं उरपरिसप्तश्लचरपंचिद्यतिरिक्षु० अहीणं जाव महोरगाणं सरीरा  
नाणाचिहाणा [ नाणागंधा ] जावस्वखलायं ।

एव्याहया—‘नानाचिहाणां’ गहुप्रकाराणां उरमा ये प्रशर्षित तेषां, तद्यथा—अहीतामजगराणामशालिकानां  
महोरगाणां यथाबीजेन यथाऽवकाशेन चोतप्रथयाऽङ्गह[ज]त्वेन पोतनत्वेन चा गवधार्मिक्तुन्ति, ते च निर्गता मातु-  
हुङ्माणं ( चारपमयं ) वाँटु चादारयन्ति, तेषां च जातिप्रत्ययेन तेवैकाहारेण क्षीरादिनेन बृद्धिरुपजायते, शेवा ] व्याहया  
सुगमेव पूर्ववत् । साम्प्रतं शुजपरिमप्पात्रुद्विद्ययाह—

अहावरं पुरदखलायं नाणाचिहाणं भुयपरिसप्तपाणं थलन्दचरपंचिद्यतिरिक्षुत्तोणियाणं, तं जहा—  
गोहाणं नउलाणं सीहाणं सरडाणं लळ्हाणं सारवाणं खराणं घरकोइलाणं विसंभराणं मूसगाणं

मंगुसाणं पश्यलातियाणं विरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं, तेसि च णं अहाबीएणं अहावगासेण  
इत्थीए पुरिसस्स य, जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियबं, जाव सारुविकडं संतं, अवरे वि य णं  
तेसि नाणाविहाणं भुयपरिसप्पाणं चिदिथथलवरतिरिकवाणं गोहाणं जावमक्खायं ।

न्याड्या—X [ नानाविधानां शुजाभ्यां ये प्र(परि)मप्पेन्ति तेपां, तद्यथा—गोधानफुलादीनां स्वकम्मोपाचेन  
यथाचीजेन यथाऽवकाचेन चोहपत्तिभैवति, ते चाणडजत्वेन पोतजत्वेन चोहनज्ञास्तदनन्तरं गातुलभाणा तामुना चाहारितेन  
वृद्धिसुप्यान्ति । शेषं ] सुगुममेन पूर्ववत् । साम्रप्रत से चशातुहिक्याह—

अहावरं पुरकखायं नाणाविहाणं खहचरपांचिदियतिरिकवजोणियाणं, तं जहा—चल्पपक्खवीणं  
लोमपक्खवीणं समुग्गपक्खवीणं विततपक्खवीणं, तेसि च णं अहाबीएणं अहावगासेण इत्थीए जाव जहा  
उरपरिसप्पाणं, नाणतं—ते जीवा डहरा समाणा माउए गायसिणोहं आहारिति । आणुपुषेणं बुझा  
वणसप्तहकायं, लस-थावरे य पाणो, ते जीवा आहारिति पुढविसरीए जाव संतं, अवरे वि य णं  
तेसि नाणाविहाणं खहचरपांचिदियतिरिकवजोणियाणं । चम्मपक्खवीणं जावमक्खायं । [ सू० १६ ]

द्वितीये  
शुत०  
ठृतीये-  
इयथेन  
खेचर-  
पञ्चेन्द्रिया-  
णामाहार-  
वर्णनम् ।

व्याघ्रा—तानां विधानां सेचरणामुतपत्तिरेवं द्रष्टव्या, व[य]या—चम्पस्थिणां चम्पकीटवल्लुप्रभृतीनां, तथा लोम-  
 पस्थिणां सारस—राजहंस—काक—बकादीनां, तथा समुद्रगपथि—विततपस्थिणां बहिर्दीर्घवर्तीनां, एतेषां यथाऽवकाशेन  
 बोतपज्ञानामाहारकिया। एवमुपजायते, तदथा—सा पस्थिणी तदपुडकं समपक्षामयमात्रावृत्त्य तावतिष्ठति यावत्तदण्डकं तदु-  
 भमणाऽऽहारितेन वृद्धिमुपगतं सर्व कललाचस्थां परित्यज्य चक्रवादिकानवयवाच् परिसमाप्तय मेदमुपयाति, तदुत्तरकालमपि  
 मात्रोपनीतेनाहारेण वृद्धिमुपयाति, शेषं प्राप्नते । व्याख्याताः पञ्चेन्द्रिया मनुष्यस्तिर्यज्ञश्च, तेषां चाहारो देवा—आमोग-  
 निर्वर्तीतोऽनामेगनिर्वर्तीतश्च, ताऽनामोगनिर्वर्तीतः प्रतिक्षणभानी आमोगनिर्वर्तीतस्तु यथास्वं क्षुद्रेदनीयोदयमानीति ।  
 साम्रातं विकलेन्द्रियातुद्दिश्याह—

अहावरं पुरकल्पायं इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया नाणाविहसंभवा नाणाविहतुक्षमा  
 तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्षमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेण तत्थ तुक्षमा नाणाविहाणं तस्म-  
 थावराणं पोगलाणं सररिम्मु वा सच्चितेम्मु वा अचितेम्मु वा अणुसूयताए विउद्धांति । ते जीवा  
 तेस्मि नाणाविहाणं तस्थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारिति । ते जीवा आहारिति पुढिविसरीरं  
 जाव संतं, अवरे वि य णं तेस्मि तस्थावरजोणियाणं अणुसूयगाणं सरीरा नाणावरणा जाव-  
 मक्षवायं । एवं दुरुच्छसंभवताए, एवं चुरुदुगताए । [ सू० १७ ]

व्याख्या—अथानन्तरमेतदाख्यातं ‘इद अस्मिन् संसारे’ एके केचन तथाविषकमोद्यवश्वर्णिनः ‘सरवाः’ प्राणिनो नानाविषयोनिकाः कमर्णनिदानेन—स्वकृतकमर्णा तत्रोत्पत्तिस्थाने ‘उपकम्प’ आगतप नानाविष्वरसस्थावरणां श्रूतं शरीरे पु सच्चितेषु चासचितेषु चा ‘अणुसूपच्छाए’ त्ति अपरशुरीराभिरतया परनिशया ‘चिन्तर्तन्ते’ समुत्पद्यन्ते, यावत्ते च जीवा विकलेन्द्रियाः सचितेषु-समुत्पद्यादिशरीरेषु गुरुलिंशादित्तवेतोत्पद्यन्ते, तथा तत्परिषुद्धपमानेषु मञ्चकादिवचितेषु मत्कुण्ठवेनाविर्भवन्ति—उत्पद्यन्ते, तथाचित्तीभूतेषु मनुष्यादिशरीरेषु विकलेन्द्रियशरीरेषु वा ते जीवा ‘अुभूम् [?स्यु] तत्वेन’ परनिशया कुम्हयादित्वेतोत्पद्यन्ते, परे हु सचित्ते तेजस्फायादो मूरुकादिकरवेतोत्पद्यन्ते, यत्र चालितस्तत्र वायुरित्यत स्तदुद्धवा अपि द्रष्टव्याः, तथा पृथिवीमुत्तित्य कुन्त्युपिपीलिकादयो वर्षादावृद्धमणा संस्वेदजा जायन्ते, तथोदके पूतरका लोहणकमरिकाछेदनकादयः समुत्पद्यन्ते, तथा बनसपतिकाये पनकमरादयो जायन्ते । तदेव ते जीवास्तानि स्वयोनिति शरीराण्याहारयन्ति इत्येषमाख्यातमिति । साम्प्रतं पञ्चनिद्रमूत्रपुरीयोऽवाचन् प्राणिनः प्रतिपादिष्यितुमाह ‘एव’ मित्यादि, यथा सचित्ताचित्तनिशया विकलेन्द्रियाः समुत्पद्यन्ते तथा तसम्भवेषु मूत्रपुरीयवात्तदिषु परे जन्तवो ‘दुरुवत्ताए’ दुरुपासतुसम्भवत्वेन ठम्यादिमावदवेतोत्पद्यन्ते । ते च तत्र विषुद्धादौ देहान्निर्गते अनिर्गते वा समुत्पद्यमाना उपत्त्वाश तदेव विषुद्धादिकं स्वयोनिभूत[महार]प्रतिपादिष्यितुमाह—‘एवं खरुपासतुसम्भवत्वेन ठम्यादिरात्मशयाज्ञन्तुर् प्रतिपादिष्यितुमाह’ । संग्रांतं सचित्तशरीरात्मया ज्ञन्तुर् तिर्थस्थाने चर्मस्तीटतया समुत्पद्यन्ते, खरुदुगच्छाए, एवमिति यथा मृतपुरीपादावृत्पादस्तथा तिर्थहरारेषु ‘खरुदुगच्छाए’ ति चर्मस्तीटतया समुत्पद्यन्ते, इदमुक्तं भवति—जीवतामेव गोमहिष्यादिनां चर्मणोऽन्तः प्राणिनः संमुच्छव्यन्ते, ते च तत्मासचर्मणी भक्षयन्ति, सक्षयन्त-

दितीये श्रूतं शृतीया-  
व्ययने- विकलेन्द्रि-  
पाणी- माहार-  
वर्णनम् ।

स्तचम्पणो विवरणि विद्धति, गलच्छेणितेषु विचरेषु तिष्ठन्तस्तदेव शोणितमाहायन्ति, तथा अचितगच्छादिशरीरेऽपि, तथा मविचाऽचितवनस्यतिशरीरेऽपि शृण कीटकाः प्रमूर्द्धन्ते, ते च तत्र सम्मूर्द्धन्तस्तद्भूरमाहारयन्तीति । साम्रात्मकायं प्रतिपिपादयिषुस्तद्कारणभूतवात्प्रतिपादनपूर्वकं प्रतिपादयन्नाह—

अहाचारं पुरकखायं इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया, + [जाव कम्म० खुरदुगत्ताए् एव-मवखंति, इहेगडया सत्ता नाणाविहजोणिया] जाव + कम्मनिदाणेण तत्थ तुकमा नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचिच्चेसु वा अचिन्तेसु वा । तं सरीरं वायसंसिद्धं वा वातसंग-हितं वा वातपरिगतं चा उड्डवातेसु उड्डभागी भवति अहेवाएसु अहेभागी भवति तिरियवातेसु तिरियभागी भवति, तं जहा—उस्ता हिमष् महिया करए हरतण्टए सुछोदए, ते जीवा तेसि नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारिंति, [ ते जीवा आहारिंति ] पुढविसरीरं जाव संतं, अचरे वि य णं तेसि तसथावरजोणियाणं उस्साणं जाव सुछोदगाणं सरीरा णाणा वणा जावमवखायं ।

+ + नास्येत्विहमध्यातो मूलपाठः सवृत्तिकमुद्दितप्रतिष्ठु, परं दीपिकाप्रतिष्ठु सर्वात्मव्यस्ति ।

स्वप्नादः-

स्मृतं  
दीपिका-  
नितम् ।

॥ ८९ ॥

व्याख्या —— अथानन्तरमेतद्वक्ष्यमाणं ‘ पुरा ’ पूर्वमाल्यांतं, ‘ हह ’ अस्मिज्जगत्येके सच्चास्तथाविधकमोदया-  
जानाविधकमोदया—जानाविधयोनिकाः मन्त्रो यावद्वर्षीनिदानेन ‘ तत्र ’ वातयोनिकाए व्युत्कक्षय—आगत्य नानाविधानां  
दुर्द्रप्रभृतीनां प्राणिनां ‘ इथाचराणां च ’ हरितलवणाहीनां सच्चिचाचित्तमेदमिक्षेपु शरीरेषु तदकायशरीरं वायुता निष्पादितं  
वातेनैव समयगृहीतमअक्षपटलान्तर्निर्वृतं वायुतेवान्येऽन्यतुरुगतं, तथोद्भूतेषु वातेषुद्भूतेषु भगति, अष्टकायो हि गगन-  
गतवातवग्नाद्विनि मम्मूक्षुते जलं, तथाऽप्यस्ताद्वनेषु तद्वशाङ्काद्वयघोभागी अष्टकायः, एवं तिष्यगतेषु वातेषु तिष्यभागी  
गवत्यष्टकायः, इदसुकं भगति—वातयोनिकर्मदायस्य यत्र यत्रासौ तथाविधयपरिणतो यत्रति तत्र तत्र तत्रकायभूते  
जलमपि मम्मूक्षुते, तस्य चाभिधानपूर्वकं दर्शयितुमाह—‘ ओसा ’ति अवश्यायः हिमं महिर्का करका: ‘ हरतणए ’ति  
दृष्णाप्रवन्यवस्थिता जलविन्दवः, शुद्धोदकं प्रतीतमिति, इहोदकप्रस्तावे एके सच्चास्तत्रोत्पन्नते सरकर्मवशगास्तत्रोत्पन्नते  
जीवास्तेपां नानाविधाना त्रयस्यावरणां श्वोत्पत्त्याश्वारभूतानां स्नोहमाहारयन्ति, ते जीवास्तचठुरीमाहारयन्ति, अनाहारका  
न मनन्तीतगर्थः, शेष सुगमम् । तदेवं वातयोनिरुपकाय प्रदद्यप्रियुनाऽकायप्रमाणसेवाकायं दर्शयितुमाह—  
अहावरं पुरकवायं इहेगतिया सत्ता उद्गजोणिया उद्गसंभवा जाव कम्मनिदाणों तत्थ  
वुक्षसा तस्थावरजोणिएषु उदएसु उदगताए विउद्दंति, ते जीवा तेसि तस्थावरजोणियां  
उद्गगाणं सिणोहमाहारिति, ते जीवा आहारिति उढनितरीरं जाव संतं अवरे वि य एं तेसि

द्वितीये

श्रुतो  
तृतीया-  
ब्यप्यते-  
इकाय-  
योनिक-  
वृक्षणा-  
माहार-  
चणनम् ।

॥ ८९ ॥

तस्थावरजोणियाणं उद्गाणं सरीरा नाणावपणा जावमव्वायं ।

न्याख्या—अथापरमाख्यातं इह जगति उदकाधि कारे [वा] एके सच्चास्तथाविधकम्मेदयाद्वात्क्षोट्क्षमस्थावर-  
शरीराधारमुदक योनि-हृष्पतिस्थानं येषां ते तथा, तथोदकम्मेवा याचक्षकमन्तिदानेन तद्रोहितपत्सवस्त्रमस्थावरयोनिके[पृदके]-  
घ्यपरोदकतया ‘विचर्तन्ते’ समुत्पद्यन्ते, ते च उदकजीमास्तेषां त्रमस्थावरयोनिकानामुदकानां + नानाविधानि शरीराणि  
विचर्तन्ते । एतदाख्यातं । तदेवं त्रस्थावरशरीरमम्भन्तुदक योनित्वेन प्रददर्शं अथुना निर्विशेषणमस्तकायसम्बन्धो वाङ्कायं  
दशोणितुमाह—

अहाचरं पुराक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणों तथ्य तुक्कमा,  
उदगजोणिएसु उदगेसु उदगताए विउदंति, ते जीवा तेस्म उदगजोणियाणं +जीवाणं उद-  
गाणं सिणेहमाहारिति, ते जीवा आहारिति युदविसरीरं जाव संतं, अवे वि य णं तेस्म उदग-

+ ‘ल्लेहनाहारयन्ति, अन्यान्यपि पृथिव्यादिशरीरणाहारयन्ति, तच्च पृथिव्यादिशरीरमाहारित सर्वसाहृदयमानीयात्मसा-  
त्प्रकुञ्चन्त्यपराण्यपि तत्र त्रस्थावरशरीराणि विचर्तन्ते, तेषा चोदकयोनिकानामुदकानां । इति वृत्तौ ।

+ नास्त्येतच्छब्दः सघृत्तिकमुद्दितप्रतिष्ठु ।

स्वयगडाङ्ग

सूतं

दीपिका-  
निवत्तम् ।

॥ ९० ॥

जोणियाणं उद्गाणं सररिरा नाणाच्चपणा जावमक्खायां ।

व्याख्या—अथाऽपरमेतदाख्यातं, हैके प्रत्याः स्वकृतकमौदयाइकृत्योनि[के पूर्व के] पूर्वयन्ते, ते च ते पापुदकृतमन्त्राना-  
मुदकजीवानामात्मायारभूतानां शरीरमाहारयन्ति, शों सुगम, यारदाह्यागमिति । साम्रात्मपूर्वकादिका-  
खसान् दर्शयितुमाह—

अहावरं पुरक्खायां इहेगतिया । सत्ता उदगजोणियाणं जाव कमनिदाणेणं तत्थ तुकमा  
उदगजोणिपूरु उदप्तु तसपाणताए विउद्धांति, ते जीवा तोसि उदगजोणियाणं उदगाणं सिषेह-  
माहारिति, ते जीवा आहारिति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे विय पां तोसि उदगजोणियाणं  
तसथावराणं पाणाणं सररिरा नाणाच्चपणा जावमक्खायां । [ सू० १८ ]

व्याख्या—सुगमेव । अथाऽपिनकायमधिक्त्याह—

अहावरं पुरक्खायां इहेगतिया सत्ता नाणाच्चिह्नजोणिया जाव कमनियाणेणं तत्थ तुकमा

X “अथापरमेतदाख्यातं, हैके सत्ता उदकेपु उदकेनिपु ओदकेपु व्रष्टप्रणितया पूरकादित्वेन ‘विवर्तने’ समुद्धरन्ते, ते  
चोत्पथमानः समुद्धरन्ते पूरकोन्ते हानामुदनानां स्नेहमाहारयन्ति, शों सुगम, याचदाह्यात्मगति” इति वृचे ।

द्वितीये  
श्रुत०  
तृतीया-  
द्वयन्ते  
जलचर-  
त्रसाना-  
माहार-  
वणनम् ।

॥ ९० ॥

नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताएव  
विउद्दिति, ते जीवा तेस्मि नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा  
आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वियां तेस्मि तसथावरजोणियाणं पुढवी( अगणी )णं  
सरोरा नाणावपणा जावमक्खायं, सेता तित्रि आलावगा जहा उद्गाणं ।

व्याख्या — अथैतदपरमाख्यातं, ‘इह’ संसारे ‘एके’ केचन ‘सत्त्वाः’ प्राणिनस्तथाविधकमसौदयवर्त्तिनो  
नानाविधयोनयः प्राक्मन्तः-पूर्वजन्मनि तथाविर्यं कम्मोपादाय तत्कर्मलिदानेन नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां  
शरीरेषु [ मन्त्रितेषु ] अचित्तेषु वाऽग्रितत्वेन ‘विवर्तन्ते’ प्रादुर्भवन्ति, तथाहि-पञ्चेन्द्रियतिरश्चां दन्तिमहिषारीनां परस्परं  
युद्धावसरे × विषाणसहै + सत्यनिरुचिषुते, एवमन्त्रितेष्वपि तदस्थिसंहर्षदानेरुत्थानं, तथा दीन्द्रियादिशरीरेष्वपि यथा-  
समग्रमायोजनीयं, तथा स्थावरेष्वपि वनस्पत्युपलादिषु सचित्तावित्तेष्वपिनजीवाः समुत्पद्यन्ते, ते चानिनजीवास्तत्रोत्पन्नाः  
स्तेपां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्तेहमाहारयन्ति, यों सुगमं, यावङ्गवन्तीत्येवमाख्यातम् । अपरे त्रयोऽप्यालापकाः

इति दिप्यणं सद्वृत्तिकमुद्दितप्रती ।  
X दन्तशृङ्ख्योः परिग्रहापेक्षया सचित्तांश्युक्तव्यापेक्षया वा अचित्तभेदमित्रता इति दिप्यणं सद्वृत्तिकमुद्दितप्रती ।  
+ “ इषधर्यां तु समः परौ । हर्ष-घपाँ च सङ्काम-सङ्क्षमौ दुर्गसङ्क्रे ॥ ८७ ॥ ” इति शब्ददरत्नाकारः कां० ६ ।

मरण-  
दीपिका-  
निवतम् ।

॥ ११ ॥

प्राग्नवहृष्टया इति । साम्पतं वायुकायमुद्दिश्याह—

अहाचरं पुरवस्त्रायं इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोगिया जाव कम्मनिदाणें तत्थ बुकमा  
नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेषु सचितेषु [वा] अचितेषु वा वाउकायताए विउद्दंति,  
जहा अगणीणं तहा भणियवा चतारि गसा [ सू० ११ ]

व्याख्या—अयमालापकोऽग्निकायगमेन व्याख्येयः । साम्प्रतमशेषोजीवाधारं पृथिवीकायमधिकृत्याह—

अहाचरं पुरवस्त्रायं, इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोगिया जाव कम्मनिदाणें तत्थ बुकमा  
नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेषु सचितेषु वा अचितेषु वा पुढविताए सकरताए  
वाल्यताए, इमाओं गाहाओं अणुगंतव्याओ—पुढवीं सकरा वालु—या य उवले सिला य लोणूसे ।  
अय-तउय-तंच-सीसग—रुपसुचणो य चयरे य ॥ १ ॥ हरियाले हिंगुछुए, शणोसिलासासगंजण-  
पवाले, अचमपडलभवालुय—बायरकाए मणिविहाणे ॥ २ ॥ गोमेज्जाए य रुयए, अंके फलिहे य  
लोहियवक्ले य । मरणय-मसा॑॥१॥, भुयमोयग-इंद्रनीले य ॥ ३ ॥ चंदण-गेरुय-हंसगच्छ-पुलए

द्वितीये

श्रुत०  
हृतीया-  
द्वयने-  
वायुपृथ्वी-  
कायिका-  
तामाहर-  
वर्णनम् ।

॥ १२ ॥

सोंगंधिष्य य बोधन्वे । चन्दप्पभ-वेरुलिष, जलकंते सूरकंते य ॥ ४ ॥ एयाओ गाहाओ एएसु  
भणियबाओ, जाव सूरकंतत्त्वाए विउडंति, ते जीवा लेसिं नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं  
सिणोहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसि तसथावर-  
जोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा नाणावणा जावमकखायं, सेसा तिन्हि आलावगा  
जहा उदगाणं । [ सू० २० ]

**व्याख्या**—अथापरमेत्तद्युर्वमाल्यातं, इहेके सत्त्वाः पूर्वं नानाविधिक्रसस्थाचराणां  
गरीरेषु सचिचेषु अचिचेषु वा पृथिवीतेनोत्पद्यन्ते, तद्यथा—सर्पीशिरस्यु मणयः करिदन्तेषु मौकिकानि चिकलेन्द्रिदेव्यपि  
शुरयादिषु मौकिकानि, स्थावरेष्वपि वेष्वादिषु तान्येवेति, एवमचितेषुपरादिषु लवणमावेनोत्पद्यन्ते, एवं पृथिवीकायिका  
नानाविधासु पृथिवीषु शक्करा-वालुका-उपल-शिला-लवणादिभावेन तथा गोमेदकादिरत्नमावेन च चादरमणिविधानतया  
समुत्पद्यन्ते, शेषं सुगमं, यावच्चत्वारोऽप्यालापका उदकगमेन नेतव्या इति । साम्रपतं सर्वोपसंहारद्वारेण सर्वजीवान्  
सामान्यतो चिमणिषुराऽह—

अहावरं पुरकखायं सबै पाणा सबै भूया सबै जीवा सबै सत्ता नाणाविहजोणिया नाणाविह-

द्वयगड़ा  
स्वर्तं  
दीपिका-  
निवतम् ।

॥ ९२ ॥

संभवा नाणाविहुकमा, सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरहुकमा सरीरहारा कर्मसोवगा कर्म-  
निदाणा कर्मगईया कर्मद्विईया कर्मणा चेव विष्परियासमुच्चेति । से एवमायाणह, से एव-  
मायाणिता आहारगुते साहिष समिष सथा जए निबेमि । [ सु० २१ ]

बीयसुयक्खंधसस आहारपरित्रानाम तईयमज्जयणं समतं ॥ ३ ॥

व्याख्या—अथापरमेतदारुण्यातं—सर्वे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे जीवाः नानाविधयोनिका नारक-तिर्युद्धनरा-  
मशादिगतिपृष्ठपद्धन्ते, यत्र यत्रोपचान्ते तत्र तत्र तच्छुरीराहारिणो भवन्ति, तदाहारवन्तश्च तत्रागुसास्तद्वद्वारायाततकर्म-  
वशगा नारकतिर्युद्धनरामणतिपु जघन्यमइयमोलकृष्टिथयो मवन्ति, अनेनेदमुक्तं भवति—यो याहगिह भवेत्—स ताहग ॥  
मुक्ताऽपि भवतीत्येतत्त्रिरसं भवति, अपि हु कर्मणैपगः कर्मनिर्दानाः कर्मनिर्दानाः कर्मणैपगः कर्मनित, तथा तेनेव कर्मणा लुख-  
लिप्सगोऽपि तदिपर्यासं—दुःखमुपगच्छन्तीति । साम्रप्रतमहयनार्थमुपसंजिहीपुराह—‘से एवमायाणहे’त्यादि, यदेतन्म  
याऽऽदितः प्रभृत्युक्तं, तद्यथा—यो यत्रोपचान्ते स तच्छुरीराहारको भवन्ति, आहारगुपश्च कर्मणादतो, कर्मणा च नानाविधासु  
योनिव्यवरयद्वयटीत्यायेन पौनःपून्येन पर्यटतीत्येव जातीत यूंय, एतदिपर्यासं—दुःखमुपगच्छन्तीति । एतत्परिज्ञाय सदस-

द्वितीये  
श्रुतो  
तृतीया-  
ध्ययते-  
सर्वोप-  
संहार-  
वर्णनम् ।

× जीवसत्त्वयोर्व्यत्ययेन निवेशोऽन ।

॥ ९२ ॥

द्विवेकी आहारगुप्तः पञ्चभिः समितिभिः समितिभिः सहितो ब्रानादिभिः ‘सदा’ सर्वकालं—याचादुच्छासं तावधते—संयमातुष्टाने  
प्रयत्नवान् भवेदिति । इति: परिसमाप्त्यर्थं ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुचिहितखरतरगच्छविभूपणपाठकप्रवरश्रीमतसाधुरङ्गपिवरगुप्तिक्रतायां श्रीसत्रकृताङ्—  
दीपिकायां द्वितीये शुत्रस्कन्धे समाप्तमाहारपरिज्ञाख्यं दृतीयमध्ययनमिति ॥ ३ ॥

अथ प्रत्याख्यानक्रियाख्यं चतुर्थमध्ययनम् ।

अथ दृतीयाख्ययनानन्तरं चतुर्थमारम्भते, आहारपरिज्ञानक्रियाऽप्यनमारम्भते, तत्त्वेदम्—  
सुखं मे आउसंतेणं भगवया एवमव्याख्यां—इह खलु पच्चकखाणकिरियानाम अज्ज्ञयणं, तस्म  
पां अयमद्देष पद्धते—

व्याख्या—श्रीजम्बूस्वामिनं प्रति श्रीसुधर्मस्वामी कथयति—श्रुतं मया [ आयुषमता ] भगवतेदमारम्भात—इह खलु  
प्रत्याख्यानक्रियानामाऽप्ययनं, तस्यायमथो वक्ष्यमाणलक्षणस्तथाहि—  
आया अपच्चकखाणी आविभवति, आया अकिरियाकुसले आविभवति, आया मिच्छासंठिए

आवि भवति, आया एंगंतदंडे आवि भवति, आया एंगंतबाले आवि भवति, आया एंगंतसुने आवि भवति, आया अवियारमणवयणकायवके आवि भवति, आया अपाडिहयपच्चवल्लायपावकम्मे आवि भवति, एस खलु भगवता अवरखाए असंजए अविरए अपाडिहयपच्चवल्लायपावकम्मे सकिरिए असंचुडे एंगंतदंडे एंगंतबाले एंगंतसुने से बाले अवियारमणवयणकायवके सुविण- मवि ण पस्सति, पावे य से कम्मे कज्जड [ सू० १ ] तत्थ चोयए पञ्चवण्ँ एवं बदासि—

व्याख्या—अथमात्मा-जीवः अनादिमिश्यत्वाविरतिप्रमादकपाययोगानुगततया स्वभावत एवाप्रत्याहयान्यपि भवति, [ अपि शब्दात् ] स एव कुरुश्चनिमित्तप्रत्याहयान्यपि भवति, तथा + अकियाकुशलोऽपि भवति, तथाऽऽत्मा मिथ्यात्वोदय-संस्थितोऽपि भवति, तर्थेकान्तेनापरान्प्राणिनो [ दण्डयतीति ] दण्डस्तदेवमभूतो भवति, तथाऽऽत्मा एकान्तवालश्च भवति, तथाऽऽत्मा एकान्तसुसश्च भवति, यथा द्रव्यसुसः शब्दादीन् विषयान् जानाति हितप्राप्तिपरिहारविकलश्च भवति, तथाऽऽत्माऽपि भावसुसो हिताहितं न वेच्चि, तथाऽऽत्माप्रत्याख्यानक्रियः सन् अविचारितमनोवाक्यायवाच्यश्चापि अभवति,

+ “ सदुष्टानं क्रिया, तस्या कुशलः क्रियाकुशलस्तप्तियेधात् ” इति बृह० ।

× “ वाग्प्रहणेनैव वाक्यस्य गतार्थत्वात्पुनर्वाक्यप्रहणं बाग्वत्यापारस्य प्रातुर्युक्तापनाथैर् । ” इति हृष० ।

द्वितीये शुत० चतुर्थी-  
इयने अप्रत्या-  
र्थ्यानि:

तथाऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति, एवंविधो जीवो मगचता असंयत अविरत अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा सक्रिय असंहृत एकान्तबाल एकान्तसुपश्च कथितः, तदेवमभूतश्च बालसुपतश्च अविचारणी 'अविचारणी' अविचारितरमणीयानि परमार्थविचारणया युक्त्या चा विद्युतमानानि मनोवाकायवाक्यानि यस्य स तथा, अविचारितमनोवाक्याः निर्विवेकतया पद्मविज्ञानरहितः स्वममपि न पश्यति, तस्य चाव्यक्तविज्ञानस्य स्वममपयपश्यतः पापं कर्म बड्यते, एतावता यद्दस्तु स्वमेऽपि नायाति कदाचिद्दृष्टमपि न तस्यापि कर्मवन्धो लगति, अव्यक्तविज्ञानेनापि ग्राणिना पापं कर्म क्रियत इति भावः । तत्र चैवं व्यवस्थिते परः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—अत्र चाचार्यमिषां परः प्रतिषेधयति—

असंतएणं मणेणं पावएणं असंतिआए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहण-  
तस्म अमण[कख]स्स अवियारमणवयणकायवक्तरस सुमिणमवि अपपस्सओ पावे कर्ममे नो  
कज्जइ, कर्सन णं तं हेउं ? चोयगे एवं ब्रवीति—

व्याख्या—अविद्यमानेन असता मनसा तथा अप्रदृतेनाशीभनेन, तथा वाचा कायेन च पापेन असता, तथा सर्वान् अनिन्द्रियः, तथाऽपनस्कस्याविचारमनोवाकायवाक्यस्य स्वममपयपश्यतः, एव मत्यकविज्ञानस्य पापं कर्म न बद्धते, एवमभूतविज्ञानेन पापं कर्म न क्रियत इति, तहि कथयन्तु पूज्याः ? कथं पाप कर्म बद्धते ? केन हेतुना—केन कारणेन कर्ममेवन्धः स्यात् ? नात्र कश्चिद्वयकविज्ञानत्वात् पापकर्म हेतुरिति । अथ पर एव स्वाभिमायेण पापकर्ममेवन्धहेतुमाह—

अन्नयरेणं मणेणं पावएणं मणवात्तिए पावे कम्मे कज्जल्ह, अन्नयरीए वतीए पावियाए वति-  
वात्तिए पावे कम्मे कज्जल्ह, अन्नयरेणं काएणं पावएणं कायवात्तिए पावे कम्मे कज्जल्ह, [ हृणांतस्स  
समणक्वलस्स सवियारमणवयणकायवक्लस्स सुचिणमवि पासओ एवंगुणजातीयस्स पावे कम्मे  
कज्जल्ह । ] पुणरवि चोयगे एवं ववीति—तत्थ णं जेते एवमाहंसु—असंतएणं मणेणं पावएणं असंती-  
याए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहृणांतस्स अमणक्वलस्स अवियारमणवयण-  
कायवक्लस्स सुचिणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जल्ह, [ तत्थ णं ] जे [ ते ] एवमाहंसु तं मिळ्छा ।  
तत्थ पञ्चवए चोयगं एवं वयासी—[ तं सम्मं ] जं मए पुवं तुतं असंतएणं मणेणं पावएणं  
असंतियाए वइए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहृणांतस्स अवियारमण-  
वयणकायवक्लस्स सुचिणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जल्ह तं सम्मं । [ कस्स णं तं हेउं ? । ]  
वयाहया—कमर्भवद्वारभूतेमनोवाक्षायकर्ममिः कर्म चल्यत दश्यति—अन्यतरेण क्लिटेन प्राणतिपातादिप्रद्वया  
मनसा वाचा कायेन च तत्प्रत्ययिकं कर्म चल्यते । तथा सरसपत्नान्समनस्कया  
पद्यतः प्रसपट्विकानस्येतद्वुणजातीयस्य पाप कर्म चल्यते, न पुनरेकेनिद्रयविकलेन्द्रियादेः पापकर्मसम्भव इति, तेषां घात-

द्वितीये श्रुतं चतुर्थ-  
व्ययने- परामि-  
प्रायेणा- विचार-  
मनो- वाकाय-  
वाक्यस्य कर्मवन्धा-  
भावः ।

कस्य मनोचाकायव्यापारस्यामाचात्, अथेतद्व्यापारमन्तरेणापि कर्मचन्द्र इष्यते ? एवं च सति मुक्तानामपि कर्मचन्द्रः स्याव, न चैतदिष्यते, तस्माज्जेव चन्द्रः, तत्र यदेवम्भूतेरेव मनोचाकायव्यापारैः कर्मचन्द्रोऽभ्युपगमयते । तदेव व्यवस्थिते सति ये ते एवमुक्तव्यत्वस्तद्यथा—अविद्यमान्तरेवाश्रमैर्योगीः पाप कर्म क्रियते, मिथ्या ते एवमुक्तव्यत्वं इति दिश्थतम् । तदेव विष्वेणाचार्यपक्षे दूषयित्वा स्वप्ने व्यवस्थापिते सत्याचार्यं आह—‘तं सम्म’मित्यादि, यदेवन्मयोक्तं प्राग् यथाऽस्पष्टान्वयन्योगानामपि कर्मसं व्यष्टते तत्र ‘सम्यक्’ योमन्त युक्तिसङ्गतं इति । एवमुक्तं पर आह—‘कस्य हेतोः ? ’ केतन कारणेन ? तत्सम्यगिति चेदाह—

तत्थ खलु भगवत्या छज्जीवनिकाया हेऊ पक्षता, तं जहा—पुढाविकाह्या जाव तसकाह्या, इच्छेतोहि छाहि जीवनिकापृष्ठिं आया अप्याडिहयपञ्चव्यापाचकम्भे निच्चं पसहविउचातचित्तदंडे, तं जहा—पाणाह्याए जाव परिगग्हे कोहे जाव मिच्छादांसणसळ्हे ।

न्याख्या—आचार्य आह—तत्र खलु भगवता पहजीवनिकाया: कर्मचन्द्रोऽहेतुत्वेनोपन्यस्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका याचञ्चसकायिका इति । कथमेते पटकायाः कर्मचन्द्रस्य कारणमित्याह—‘इच्छेऽपि’ हत्यादि, इत्येतेषु पृथिव्यादिषु षड् जीवनिकायेषु अप्रतिहतप्रत्याहयातपापकमर्मी य आत्मा जन्तुः ‘नित्यं’ सर्वकालं प्रकर्षेण शठः तथा ‘व्यतिपाते’ प्राणिव्यपरोपो चित्तं यस्य स व्यतिपातविचित्तदण्डेश्वेति आत्मा, तद्यथा—

भ्रयगडाङ्ग-  
सूत्रं  
दीपिका-  
न्वितम् ।

॥ ९५ ॥

प्राणातिपाते विधेये प्रश्नठ[ व्यतिपात ] चित्तदण्डः, एवं मृपाचादानमैथुनपरिशेष्ठपि वाच्यं, याचकिमञ्च्यादर्थन-  
शल्यमिति । तेषामिहैकेन्द्रियविकलेन्द्रियार्दीनामनिवृत्तचानिमञ्चयात्माविरतिप्रमादकपायोगात्मात्मात्मा इति द्रष्टव्यं, तद्वात्मा च  
ते कथं प्राणातिपातादि दोपवन्तो न भवन्ति ? एतानता एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः प्राणातिपातादिदोपवत्तया अव्यक्तविज्ञाना  
अपि सन्तोऽस्वप्नाद्यवस्थायामपि ते कर्मपूर्वकां एव, तदेवं व्यवस्थिते यत्प्राप्तुकं परेण, यथा—अव्यक्तविज्ञानानामनवृत्तां  
अमनस्कानां न कर्मपूर्वत्वं इत्येतन्मृपा । साम्रातमाचार्यः सापथासिद्धये हृष्टान्तमाह—

तत्थ खलु भगवता वहए दिँदुते पन्नते, से जहा नामए वहए लिया गाहावैस्स वा गाहावै  
पुत्तस्स वा रज्जो वा रायपुरिस्सस वा खणं निदाय पविसिस्सामि खणं लङ्घणं वाहिस्सामि[न्ति]  
पहारेमाणे से किं तु हु नाम से वहए तस्स गाहावैस्स वा [ तस्स ] गाहावैपुत्तस्स वा तस्स  
वा एणो तस्स वा रायपुरिस्सस खणं निदाय पविसिस्सामि खणं लङ्घणं वाहिस्सामि[न्ति] पहारेमाणे  
दिया वा राओ वा सुन्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निचं पसढविउवायचित्त-  
दंडे भवति ? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए—हंता भवति ।

न्यालया—तत्र खलु भगवता वधुकहृष्टान्तः प्रहसनवधुया—वधुकः कवित्तस्यादिति, कृतश्चिकिमिताहृष्टपितः सन्  
दितीये श्रुतो चतुर्थी-इयत्ते-वृपक्ति-विज्ञानाम-स्वप्नाद्य-वस्थया-सप्तमं-वर्णनम् ।

॥ ९६ ॥

कस्यचिद्भपरिणतः कश्चित्पुरुषो भवति, कीदृशो वधकः ? ‘गाहाचाहसे’ त्यादि, गृहपरिर्गृहपरितुमो वा तस्योपरि  
कश्चिद्भक्तः संहृतः; स च वधपरिणामपरिणतेऽपि कस्त्रिश्चित्क्षणे पापकारिणमेन घातयिष्यामीति । तथा राहः राजपुरुषस्य  
गोपरि कुपित एतत्कूर्यादिल्लाह—‘खणं निदाय’ इत्यादि, क्षण-मवसरं निदायति प्राण्य लङ्घना [वधयस्य] पुरे गृहे  
वा प्रवेद्यमासीति तद्यवसायी भवति, तथा क्षणमवसरं लिदादिकं वध[वधय]स्य लङ्घना तं वध्यं हनियासीत्येवं सम्प्र-  
वारयति, तथा गृहपते राज्ञो वा कश्चित्कारणकोपाद्यपरिणतेऽप्यात्मनोऽवसरं लङ्घना हनियामील्यवसरं-छिद्रमपेश  
माणस्तदवसरापेशी, कञ्जित् कालपुदासते, स च तत्रौदासीन्यं कुर्वाणः अपरेण कायादिना व्यग्रवेतास्तस्मिन्नवसरे च[धं] इयं  
प्रत्यस्पष्टविज्ञानो भवति, स चैवमभूतोऽपि यथा तं वध्यं प्रति नित्यमेव प्रशुठवधपरिपात्तिदण्डो भवति, एव मविद्यमानेतरपि  
प्रव्यक्तैरशुमैयोग्येरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियादयोऽप्यष्टविज्ञाना अपि मिथ्यात्वाविरप्तिप्रमादकमाययोगात्मात्प्राणातिपातादि-  
दोपवन्तो भवन्तीति, न च तेऽवसरं अपेक्षमाणा उदासीना अपि अवैरिण इति, एवमस्पष्टविज्ञाना अपि वैरिणो भवन्तीति ।  
साम्प्रतमाचार्य एव स्वामिप्रेतमर्थं परपश्चपूर्वकमाविर्मावयन्नाह—‘से किं तु हु’ इत्यादि, आचार्यः स्वतो निर्णिताश्चेऽप्यया  
एवं पृच्छति-किमसौ वधक पुरुषो[हनना] इवसरापेशी छिं ‘सम्प्रधारयन्’ चिन्तयन् अहनिंशं सुसो जाग्रदवस्थो वा  
, तस्य’ गृहपते राज्ञो वा वधयस्यामित्रभूतो वा मिथ्यास्तिथतो नित्यं प्रशुठवधपरिपात्तिदण्डो भवति ? आहोस्विज्ञेत्येवं  
पृष्ठः परः समतया माध्यस्थ्यमवलम्बमानो यथाऽवस्थितमेव व्यागृणीयात्, यथा-इत्त आचार्य ! भवत्यसाचमित्रभूत  
इत्यादि । तदेवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दाष्टान्तिकमाह—

आचार्य आह—जहा से वहए तस्स गाहावइस्स [ वा ] तस्स गाहावइपुत्तस्स [ वा ] तस्स गाहावइस्स [ वा ] एको तस्स वा रायपुरिस्स खणं निदाय पविसिस्सामि खणं लङ्डूणं वहिस्सामिति पहारे-  
माणे दिया वा राओ वा सुने वा जागरमाणे वा आमितभूते मिच्छासंठिए निचं पसढविउवाय-  
चितदंडे [ भवह ] एवामेव वाले वि सबेसि पाणाणं जाव सबेसि सत्ताणं दिया वा राओ वा सुने  
वा जागरमाणे वा आमितभूते मिच्छासंठिए निचं पसढविउवायचितदंडे [ भवह ], तं जहा—  
पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवता अकलाए—असंजए आविरए अपाडिहय-  
पञ्चवस्त्रायपात्रकमे सकिरिए असंतुडे एंगंतवाले एंगंतसुने आवि भवति, से वाले  
आवियारमणवयणकायवके सुविणमविण पस्सति पावे य से करमे कजाति ।

वयाख्या—‘जहा से वहए’ इत्यादि, यथाऽसौ वधक इत्यादिना दृष्टान्तमनुद्य दार्दनितकमर्थं दर्शयितुमाह—  
‘एवामेवे’ इत्यादि, यथाऽसौ वधकोऽवसरापेक्षितया वहयस्य व्यापत्तिमहुविणोऽप्यमित्रभूतो भवतयेवमसाचपि वालोऽसपु-  
विज्ञानो निवृत्तेभावात्सत्तेवं प्राणिनां व्यापादको भवति यावनिमश्यादर्शनशल्योपेतो भवति, यद्यच्युत्थानादिकं विनयं  
कुतश्चिन्निमिचादसौ विघ्ने तथाप्युदायिन्वप्यतिपात्रचिपदन्तर्दृष्ट एवेति नित्यं प्रशुद्धयतिपात्रचिपदन्तर्दृष्ट यथा परशुरामः ॥ ९६ ॥

द्वितीये  
श्रुतो  
चतुर्थी-  
द्यपने-  
व्ययक-  
विज्ञानाम-  
स्वप्नाद्य-  
वस्थाया-  
मपि  
कर्मचन्ध  
वर्णतम् ।

कुर्तव्यं व्यापाद्यापि तदुत्तरकालं भस्त्राणिःक्षत्रां पृथिवीं चकार, एवममावमित्रभूतो मिथ्याविनीतश्च भवति । ‘एवं खलु भगवया’ इत्यादि, यथाऽसौ वष्टकोऽन्वसरपेशी न वाचद्वयातयति [अथ च] अनिवृत्तवाहोपद्गुट एव, एवमसाम्येकेन्द्रियादिकोऽस्पष्टविज्ञानोऽप्यविरतत्वातथाभूत एव-अविरताप्रतिहताप्रत्याख्याताऽस्तुक्यादिदोपद्गुट एवेति, शेषं सुगमं, याचतपां कर्म क्रियत इति ।

जहा से वहए तस्स वा गाहावहइस्स वा[ जाव ]तस्स वा रायपुरिस्स पत्तेयं[ पत्तेयं ]चित्त-समादाए दिया वा राओ वा सुन्ते वा जागरमणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिए[ निच्चं ]पसडविउचातचित्तदंडे भवति, एवामेव वाले सबैसि पाणीं जाव .सबैसि सत्ताणं पत्तेयं[ पत्तेयं ]चित्त-समादाए दिया वा राओ वा सुन्ते वा जागरमणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसडविउचातचित्तदंडे भवति ॥ [ सू० २ ]

व्याख्या—यथाऽसौ वधको वधयस्य विनाशं चिन्तयन् अनिष्टनापि अमित्तभूतः कश्यते, तदतु तस्य वधमस्तुतोऽपि पापकर्म जायते, एवं वाल एकेन्द्रियादिरपि सर्वेषां प्राणिनाममित्रभूतः कश्यते, अविरतत्वात्, एकेन्द्रियादेवत्यकुन्तोऽपि वन्धो भवति पापकर्मण इति । एवमाचायेण प्रतिपादेते सति शिष्यः कथयति—

नो इणमट्टे समट्टे [ चोदकः ] । इह खलु वहवे पाणा० जे इमेणं सरीरसमुस्साएणं तो दिल्ला  
वा सुया वा नाभिमता वा, विजाया वा जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमायाए दिया वा राओ वा  
सुते वा जागरमाणे वा अभिन्नभूते मिछडासंठिते निचं पसडविउवातचित्तदंडे, तं जहा—  
पाणाइवाए जाव मिछडादंसणसल्ले ॥ [ सू० ३ ]

॥ ६७ ॥

व्याकुया—‘नो इणमट्टे समट्टे’ नायमर्थः समर्थः यदकुर्वतोऽसतः; अपनकर्मयापि पापकर्म लगति, नायमर्थः  
समर्थः-प्रतिपत्तु न योग्य इति । तत्र शिष्यः काणपाह—‘इह लड्ठू’, नहुदशरज्जगतमके लोके ‘बहवो’ऽनन्तः; प्राणिनः  
सन्ति देशकालविश्रुद्धास्तयाभूता यहा॒; मन्ति ये अनेन शरीरप्रकृत्येण न कदाचिद्वृद्धाश्रुषा न श्रुता॒; श्रवणाम्य  
विशेषतो नाभिमता-इषा, न च निहाता॒; स्वयमेवेत्यतः कथं तदिपरस्तस्यामिभावः क्यात् ? , अतस्तेषां कदाचिदप्य-  
विज्ञातानां कथं प्रत्येकं नथं प्रति चित्तसमादानं भवति ? न चासौ तात् प्रति नित्यं प्रश्नठन्यतिपातचित्तदण्डो भवतीति ।  
एव च हयवस्थिते न सर्वविषयं प्रत्याख्यानं युज्यते, इत्येवं प्रतिपादिते सति परेण आचार्य आह—

तथ्य खलु भगवया उन्ने दिल्लुता पत्रता, तं जहा—सज्जिदिल्लुते य असज्जिदिल्लुते य, से किं तं  
सज्जिदिल्लुते ?, २ जे इमे सज्जिपंचिंचिदिया पजातगा, एतेसि णं उज्जीवनिकाए पडुच्च, तं०-पुढीविकायं  
॥ ६७ ॥

द्रितीये  
श्रुतं  
चतुर्थे-

दृश्ययते  
श्रुत०

चाहिमतेना  
नभिमते  
कर्मवन्धा-  
आच-  
वर्णनस् ।

व्याख्या—यद्यपि सर्वे यु जीवेषु देशकालस्वभावविप्रकृतेषु ब्रह्मक्षिणं नोत्पद्यते तथाऽयसाचिरतिप्रत्ययत्वाचेष्वमुक्तवैर

जाव तसकायं, से एगतिओ[ पइन्हं कुजा ] पुढविकाएणं किच्चं करेइ[ वि ] कारवेइ[ वि ], तसस णं  
एवं भवइ—एवं खलु अहं पुढविकाएणं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवइ—  
इमेण वा[ इमेण वा ], से य तेण पुढविकाएणं किच्चं करेति वि कारवेति वि, से णं ताओ पुढ-  
विकायाओ असंजयाचिरयअपडिहयपच्चकखायपावकम्मे यावि भवति, एवं जाव तसकाएन्ति  
भाणियवं । से एगतिओ छाहिं जीवनिकाएहि किच्चं करेति वि कारवेति वि, तसस णं एवं भवति—  
एवं खलु अहं छज्जीवनिकाएहि किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवति—इमेहि  
वा[ इमेहि वा, से य तोहिं छाहिं जीवनिकाएहि जाव कारवेइ वि ], से य तोहिं छाहिं जीवनिकाएहि  
असंजयअचिरयअपडिहयपच्चकखायपावकम्मे, तं जहा—पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एस  
खलु भगवता अकखाए—असंजाए अविरप् अपडिहयपच्चकखायपावकम्मे सुविणमवि अपससतो  
पावे य से कम्मे कजाति, से तं सज्जिदिद्दुते ।

एव कळ्यते, अस्य चार्थस्य सुखप्रतिपत्तये भगवता द्वौ हृष्टान्तौ प्रकृतौ, तद्यथा-संज्ञिदृष्टान्तोऽसंज्ञिदृष्टान्तश्च । अथ कोऽयं संज्ञिदृष्टान्तः ? ये केचन इमे संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्तिनिः संज्ञिदृष्टान्ते दीपिका-न्वितम् ॥ ९८ ॥

‘प्रतिज्ञां’ नियम कुर्यात्, यथाऽहं पहुजीवनि कायमऽये पृथिवीकायेनैकेन वाणुकुशिलोपललणादिस्फलपेण ‘कृत्यं’ कार्यं कुर्यात्, स चैवं कुतप्रतिब्रह्मते तत्त्वम् तु करोति कारयति च, शेषकायेभ्योऽहं विनिवृत्तः, तस्य च कुतनियमस्य-वर्भूतो भवत्यद्यवसायः—खलवहं पृथिवीकायेन कृत्यं करोमि कारयामि [च], तस्य च सामान्यकुतप्रतिज्ञश्य विशेषाभ्यैवं च मिसन्धिष्ठेत्वं भवति, यथाऽहं कुरुणेन चा पृथिवीकायेन कार्यं करोमि [कारयामि च ], सामान्येन च वचमाऽहं पृथिवीकायारम्भं करिष्यामि एवं स सर्वस्मात्पुरुषीकायादनिवृत्तोऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मां भवति, तत्र सर्वत्र पृथिवीकायेन सनन्त्यानन्तियोदत्तवग्नत्वन्तेजारप्रश्वरणादिकृण ] किं प्रासङ्गावात्सर्वस्मात्पुरुषीकायादनिवृत्तवत्वात्, एनमसेजोवाप्युचन्तपतित्वेष्यपि वाच्यं, तत्राऽकायेन स्नानपानावगाहनभाण्डोपकरणधावनादिपूपयोगः, तेजस्कायेनापि [ पचनपाचनवितापन-प्रकाशनादिष्टु, वायुनाऽपि ] व्यजनतालबुद्धतेष्यापारादिष्टु प्रयोजनं, वनस्पतिनाऽपि—कृनदमूलफलपत्रत्वक्षाखात्युप-योग, एवं विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियेन्द्रियोऽयोऽयम् । तर्थे कः कश्चित् पदस्वपि जीवनिकायेष्यविरतोऽसंपत्तत्वाच तेरसी ‘कार्यं’ सामाचारुषानं सर्वं करोति कारयति च परेस्तस्य च कश्चिदपि निवृत्तेष्यावादेवम्भूतवमायो भवति, तद्यथा—एवं खलवहं पद्मिरपि जीवनिकायैः सामान्येन कृत्यं करोमि, न पुनस्तद्विद्वेषेप ग्रतिवैति, स च तेषु पदस्वपि जीवनिकायेष्वसंयतोऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मां भवति । एवमादशापापस्थानकेष्वप्यायोऽप्यम् । तदेवमसौ हिंसादीन्यकुर्वन्नपि अविरतत्वात्

द्वितीये श्रुतो चतुर्थी-इयत्वे-आचार्येणा-विचार-मनो-वाक्याय-कर्मवन्ये-दृष्टान्ते-द्वयोप-न्यासः ॥ ९८ ॥

त्प्रत्ययिकं कर्म बद्धनाति । एवं देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्वपि जनन्तुपु अविरतत्वादभिन्नभूतो भवति तप्तप्रत्ययिकं च कर्माऽचिन्नोति, सोऽयं संज्ञिद्वान्तोऽमिहितः, स च कदाचिदेकमेव युधीकार्यं व्यापादयति शेषेषु निवृत्तेः, कदाचिद्द दावेवं त्रिकादिकाः संयोगा मणीयाः, वाचत्सर्वानि पि व्यापादयते ति । स सर्वेषां व्यापादकत्वेन व्यवस्थायते, मर्वविषयामप्रवृत्तेः, यथा कश्चिद्ग्रामवाताय प्रवृत्तः, यद्यपि च तेन विविक्षितकाले केचन पूरुषा न व्यापादयाप्यसौ ततोऽनिवृत्तत्वातद्वधातक इत्युच्यते, एवं जीवोऽप्यविरतत्वात् प्राणातिपातस्यापादादत्मेशुनपरिग्रहकोषभानमायालोमादिकमकूर्वन्नायि तत्कर्माऽचिन्नोति, अपादश्यापस्थानान्यकुर्वतोऽपि कर्मवन्धः स्यादविरतत्वादिति मावः । इति संविद्विष्टान्तः, अधुना असंज्ञिद्विष्टान्तः । कथयते—

से किं तं असत्रिदिङ्दुते ? जे इमे असत्रिणो पाणा, तं जहा—पुढविकाड्या जाव वणस्सइ-काड्या छट्ठा वेगतिया तसा पाणा, जेसि णो तक्काड वा सक्काति वा पक्काति वा वड्डति वा सर्यं वा करणाएऽअब्रोहि वा कारावित्तए करंतं वा समणुजाणित्तए, तेवि णं बाला सठवोसि पाणाणं जाव सठवोसि सत्ताणं दिया वा राओ वा सुता वा जागरमाणा वा अमित्तभूता मिच्छासंठिया निच्चं पसङ्गविउत्तातिचित्तदंडा, तं० पाणाइवाएऽजाव मिच्छादंसणसळ्हे । इच्चेवं [ जडवि ] जाव (?) नो चेव णं मणो नो चेव णं वई [ तहावि ] पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खवणयाएऽसोयणयाए

जूरणयाए तिष्पणयाए पिदणयाए परितपणयाए ते दुकखण—सोयण जाव परितपणवहंधण-  
परिकिलेसाओ अचपलिविरता भवंति ।

॥ ९१ ॥

न्याख्या—‘से किं तं असक्षिदिङ्कंते’ इत्यादि, ‘असंज्ञिनो’ मनोविकला: सुसमचमूँडुतादिवत्, ये हमे अ-  
संज्ञिनः पृथिवीकायिका: यावदनस्पतिकायिकास्तथा पष्टा अप्येके व्रसा: प्राणिनो विकलेनिरिया: यावत्सममूँडिमपञ्चेनिरियास्ते  
संबेदप्रसंज्ञिनो, येपां नो ‘तक्फो’ विचारो भीमां साविशिएविमाशो विद्यते, यथा—कस्यचित्संज्ञिनो मन्दमन्दपकाशो स्थाणु-  
पुरुणोचिते देशे किमयं? स्थाणुरुत पुरुण इत्येवमात्मक ऊह—स्तरकः सम्भवति, नैनं तेपामसंज्ञिनां तर्कः सम्भवतीति । तथा  
, ‘संझा’, पूर्वोपलान्धेऽयं तदुत्तरकालपर्यालोचनं, सा संझा येपां नास्ति, तथा ‘प्रजा’, बुद्धिः-साऽपि नास्ति, तथा मनस्तथा  
वाक्वचनं, साऽपि न विद्यते, तथा स्थायं करोमि अन्यैव कारया मीत्येवभूतोऽप्यवमायो नास्ति, तेऽप्यसंज्ञिनो वालवद्धाला  
दिवा रात्रौ [वा] सुप्ता जाप्रदवस्था चा सर्वजीवानामभित्रभूता उच्चन्ते, विरतेरभावात् । एवमपदशपापस्थानकेऽव-  
प्यायोज्यन्ते । असंज्ञिनो हि निरतेरभावादविरताः, अविरतताच कर्मणां चन्धका एवेति । यद्यप्यसंज्ञिनो [ विशिष्ट ] मनो-  
व्यपारश्वितास्तथाऽपि सर्वप्राणिनां हुःखोत्पादनतया तथा शोचनतया—शोकोत्पादनतया तथा जूरणतया—वयोहा-  
निरूपया तथा ‘तिष्पणयाए’ त्रिष्यो मनोवाक्कायलृपेमयः पावनं जिपातनं, तद्वावस्तया, यदि वा ‘तिष्पणयाए’ त्ति-  
परिदेवनतया तथा ‘पिदणयाए’ प्राणिलोटादिप्रहारेण तथा [ तथाविष ] परिपाणतया—वहिरतश्च पीडया, ते चासंक्षिनो

द्वितीये  
श्रुतो—  
चतुर्था-  
इयत्येत-  
ऽव्यक्त-  
विज्ञाना-  
मणि  
कर्मेवन्धे-  
उसंक्षि-  
दृष्टान्त-  
वणन्तम् ।

॥ ९२ ॥

यद्यपि देशकालस्वभावचिप्रकृत्यानां, न सर्वेषां दुःखमुहुषादयन्ति तथापि विरतेरभावाचत्प्रत्ययिकेन कर्मणा बध्यन्ते, तदेवं  
विप्रकृष्टविपरेऽपि वर्णन्धकाः स्युश्विरतत्वात् । अथोपसंज्ञिहीर्पुराह हृति—

इति खलु ते असत्रिणो वि सत्ता अहोनिसं पाणातिवाए उवकखाइज्जाति, जाव अहोनिसं  
परिगग्ने हेउवकखाइज्जाति जाव मिन्छादंसणासल्ले उवकखाइज्जाति ।

ब्याह्या—‘इति खलु’ इह खलु ये इसे पृथिवीकायादयोऽसंज्ञिनः प्राणिनस्तेषां न तक्षी न संज्ञा न प्रज्ञा न मनो  
न चाक् [न] स्वयं कर्तुं नान्येन कारणितुं न कुर्वन्तमनुमन्तुं वा प्रवृत्तिरस्ति, ते चाहन्तिशममित्रभूता मिथ्यासंस्थिता नित्यं  
प्रशठउव्यतिपातचिचतदण्डा दुःखोत्पादनं यावत् परितापनपरिकलेशादप्रतिविरता, असंज्ञिनोऽपि सन्तोऽहन्तिर्भुं प्राणातिपाते  
कर्त्तव्ये तद्योग्यतया तदमस्प्राप्तावपि ग्रामघातकदुपाख्यायन्ते—कथन्ते, यावनिमध्यादर्शनशल्ये उपाख्यायन्ते, एतावता  
असंज्ञिनामपि प्राणिनां किमप्यकुर्वतामपि अविरतत्वातपापकर्मवन्धो जायत इति भावः । तदेवं दृष्टान्तद्वयं प्रदद्युं तत्प्रति-  
चद्मेचाऽर्थशेषं प्रतिपादयितुं शिष्यः प्रशं करोति—किमेरे सत्त्वाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च भव्याभव्यत्वविनियतरूपा एवाहोस्वित्  
संज्ञिनो भूत्वा असंज्ञिनं प्रतिपद्यन्ते असंज्ञिनोऽपि संज्ञित्वमित्येवं शिष्येण प्रतिपादिते सत्याहाचार्यः—  
सठवज्जोणिया वि खलु सत्ता सत्रिणो हुच्चा असत्रिणो हुंति असत्रिणो हुच्चा सत्रिणो  
हुंति । होच्चा सद्वी अदुवा असद्वी ।

सूत्र-

दीपिका-  
निवारि-  
म् ॥ १०० ॥

व्याख्या—ये वेदान्तवादिनो वादिनस्ते एवं प्रतिपादयन्ति ‘पुरुषः पुरुषतमेवाक्षुते पशुरपि पशुतमेवेति, तदत्रापि संज्ञिनः संज्ञिन एव भविष्यन्ति असंज्ञिनोऽपि असंज्ञिन इति, तत्सततपवचलेदार्थमाह—‘सन्दवजोगिया ची’ त्यादि, यदि चाकिं संज्ञिनोऽसंज्ञिनमर्मसमन्वयं ग्राक्तने कर्मणि सत्येव कुर्बन्ति ? किं वा नेत्रेवमसंज्ञिनोऽपि संज्ञिकमन्वयं ग्राक्तने सत्येव कुर्बन्तयाहोस्त्रिवेत्यतदाशक्याह—‘सन्दवजोगिया ची’ त्यादि, सर्वा योनयो येषां ते मर्वयोनयः, संवृत्तविष्टुतौमय-शीतो-षोमय-सचित्ताचित्तोमयरूपयोनय इत्यर्थः । सर्वं योनयोऽपि खलु सत्त्वाः पर्याप्तपेशया यानन्मनःपर्याप्तिस्तर्वते तावदसंज्ञिनः करणतः सन्ततः पश्चात्संज्ञिनो मत्तिन्त एकस्मिन्नेव जन्मनि, अन्यजन्मापेक्षया त्वेकेन्द्रियादयोपि सन्ततः पश्चान्मतुज्यादयो भेदवन्तीति, तथा भूतरकर्मपरिणामात्, न पुनर्भूत्यामवदवृत्यवस्थानियमो, भवयाभवयत्वे हि न कर्मायते, अतो नानयोर्व्यभिचारः । ये पुनः कर्मवशगास्ते संज्ञिनो भूत्याऽन्यत्रासंज्ञिनो भूत्या संज्ञिन इति । वेदान्तवादिमतस्य तु प्रत्यक्षेणैव व्यभिचारः समुपलङ्घयते, तथाहि—संदृश्यपि कश्चिन्मूल्यधवस्थायामसंज्ञित्वं प्रतिपद्यते मूल्यापगमे पुनः संज्ञित्वामिति, जन्मान्तरे तु सुतरां व्यभिचारः, तथा प्रशुद्धो निद्रोदयात्स्वप्निति सुसश्च प्रतिपुष्पते, एवं स्वापप्रचोबावस्था एकस्मिन्नेव भवे जीवस्य जायते, एवं संज्ञित्वमसंज्ञित्वमयेकस्मिन्नेव भवे जन्मतोरविरुद्धमिति । एवं परभवेऽपि संदृश्यसंक्षी प्रयादसंक्षी च सङ्क्षी स्याव । तथा पुरुषो देवत्वं देवत्वमित्येवं सर्वत्र योद्यम् ।

तथ तथ से अविविलिचिता असंसुचित्ता अणणुताविता असन्त्रिकायाओ [वा] [च]

( इसंजिकायाद् ) सन्ति कायं संकर्मिति ( संकामन्ति ) १, सन्ति कायाओ [ वा ] असन्ति कायं संकर्मिति २,

सन्ति कायाओ [ वा ] सन्ति कायं संकर्मिति ३, असन्ति कायाओ [ वा ] असन्ति कायं संकर्मिति ४ ।

व्याख्या—तत्र प्राकृतं कर्म यदुदीर्णं यच्च बद्धमास्ते, तस्मिन् सत्येव तत्कर्म ‘ अविविद्य ’ अपुश्यकृत्य तथाऽविष्या-  
समुच्छिद्याननुताप्य तदेवमपरित्यक्तरुमणोऽसंजिकायात्संजिकायं सङ्कामन्ति तथा संजिकायादसंजिकायमिति [ संजिकाया-  
तसंजिकायं असंजिकायादसंजिकायं ] । त[य]था नारकाः—सावशेषकर्मण एव नरकाद्विष्ट्य प्रतनुवेदते पु तिर्यक्षूतपद्यन्ते, एवं  
देवा अपि प्रायस्तत्कर्मशेषतया शुभस्थानेषुत्पद्यन्ते हत्यागन्तव्यम् । अत्र चतुर्भूमिका स्वेतेव दर्शिता ।

जे एए सन्नी वा असन्नी वा सबे ते मिळ्ठायारा [ निचं ] पसडवित्तवात्तित्तदंडा, तं जहा—  
पाणातिवाते वा जाव मिळ्ठादसणसल्ले ।

व्याख्या—सर्वेऽप्येते संजिनोऽसंजिनो वा मिळ्याचारा, अप्रत्याह्यानित्वादित्यमिश्राय; सर्वजीवेष्वपि नित्यं प्रश्नठ  
नपतिपातीत्विच्छण्डा भञ्जतीत्येवमभूतात्र प्राणातिपातोद्येषु सर्वेष्वप्याश्रवद्वारेषु वर्तन्ते इति । तदेवं व्यवस्थिते यदुक्तं परेण  
तद्यथा—‘ इहाविष्यमानाऽशुभयोगसम्बवे कथं पापकर्म बद्यते ? ’ इत्येतत्त्वात्मपि पापं  
लगत्येवेति भावः ।

एवं खलु भगवया अक्षवाए—असंजाए अविरए अपाडिहयपच्चकखायपावकम्मे सकिरिए  
असंकुडे परंतदें परंतवाले एंगंतसुते, से वाले अवियारमणवयणकायवके सुविणमवि ए  
पासह पावे य से कम्मे कज्जलि । [ सू० ४ ]

व्याख्या—एवं ‘भगवता’ तीर्थकृताङ्गप्रतिक्रियादि यत्प्राकृतिक्रियातं तदेवास्मिन् द्वयाख्यापके दर्शितं, व्याख्यानं  
प्राप्तवृत्तेयमिति, पापं च फूर्म् लग्नयेव । तदेवप्रत्याख्यानिनः कर्मप्रमाणात्तसम्मवे च नारकतिर्थहनरामरगति-  
लक्षणं संमारमणवय संजातवैराग्यः शिष्यः आनार्थं प्रति प्रवणनेताः प्रश्नायितुमाह—  
चोयगः—से किं कुब्जं किं कारवं कहं संजयविरयपाडिहयपच्चकखायपावकम्मे भवति ? ।  
व्याख्या—शिष्यः प्राह—मगन् ! किमउत्तुनं स्वतः हुर्वन् ? कि वा परं कारयन् ? केन प्रकारेण संयतविरप्रति-  
हतप्रत्याख्यातपापकम्मी जन्मुभेगति ? इत्येवं पृष्ठे मत्याचार्यं आह—  
तथ खलु भगवया छज्जीवनिकाया हेऊ पक्षता, [ तं जहा— ] पुढिकाइया जाव त-  
सकाइया, से जहा नामए ममं असतातं दंडेण वा अट्टीण वा सुर्दीण वा लेल्दुपण वा कवालेण  
वा आतालिज्जमाणसस वा जाव उद्विज्जमाणसस वा लोमुकखणणमायमवि हिंसाकारं दुखं भयं

द्वितीये  
श्रुतं  
वारुष-  
द्वयने  
आत्मो-  
पर्मये  
सर्वजीवान्  
प्रयतः  
कर्मवन्धा-  
भाव-  
वर्णनम् ।

पाडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सबै पाणा जाव सबै सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आताडिजमाणा  
 वा उच्चहस्ममाणा वा तजिज्जमाणा वा ताडिजमाणा जाव उच्चाविज्जमाणा वा जाव लोमुकवण-  
 णमायमवि हिसाकारकं दुकर्खं भयं पाडिसंवेदिति । एवं नच्चा सबै पाणा [ जाव सबै सत्ता ] न  
 हंतद्वा जाव न उहवेयद्वा, एस धर्मे सुद्धे ध्यवे नितिए सासए समिच्च लोगं खेदन्नोहं पवेहृष्ट ।  
  
 उपाह्या—तत्र खलु भगवगा पहुँजीवनिकायाः संयमसङ्घावे हेतुत्वेनोपन्यस्ताः, यथा प्रत्याख्यानरहितस्य पहुँजीव-  
 निकायाः संसारगतिनिचन्धनत्वेन कथिताः एवं त एवं प्रत्याख्यातिनो मोशाय भवन्तीति, तथा चोक्तम्—“ अजे-  
 जत्तिया य हेऊ, भवस्तु ते चेव तत्तिया मोक्षेण । गणाणार्हया लोगा, दोहवि पुण्णा भवे तुल्ला ॥ १ ॥ ”  
 इदमुक्तं भवति—यथाऽऽत्मनो दण्डाशुपथाते दुःखमुत्पथते एवं सर्वेषामपि प्राणिनामिल्यात्मोपमया तदुपघातान्विवत्ते, एष  
 धर्मः सर्वापायत्राणलक्षणो ध्रुवो नित्यः शाश्रतः परैः कविदप्यस्वलितो युक्तिसङ्ग्रहत्वात् । अयं च धर्मः सम्यक्शुद्ध-  
 हत्यचगम्य, लोकं चतुर्दशउच्चवात्मकं खेदहैः प्रवेदितः ।  
 एवं से भिक्षु विरते पाणाइचायाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ, से भिक्षु ओ दंतपक्खा-

× ये यावन्तश्च हेतवो भवस्य ते तावन्तश्च मोक्षस्य । गणनातिगा लोका द्वयोरपि पूर्णी भवेत्तुल्याः ॥ २ ॥

लण्ठनं दंते पक्खवालेज्जा, नो अंजणं नो चमणं नो धू[ वाणितं ] मणतं पि आ[ इते ] दत्ते, से भिक्खु-  
अकिरिए अद्वृत्सए अकोहे जाव अलोभे उवसंते परिनिबुडे, एस खलु भगवया अकखाए संजय-  
विरयपाडिहयपच्चव्यवायपावकम्मे, आकिरिए संबुडे पगंतपंडिए यावि भवति तिबोमि । [सू० ५] ।

वीयसुयव्यवधस्स चउत्थं पच्चखवाणकिरियानाम अञ्जयणं, समतं ।  
व्याख्या — एवं स मिशु-निवृतः सवश्रवद्वारेभ्यो दन्तप्रशालनादिकाः किया अकुर्वन् सावद्यक्रियाया असावादक्रि-  
योऽक्रियत्वाच्च प्राणिनामद्वयप्रकोदयापादको यावदेकान्तेनवासौ पठिदतो भवति । इतिः परिसमायर्थं, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुविदितखरतरगच्छविभूपणपाठकप्रवरश्रीमतसाधुरङ्गणणिवरगुरुकितायां श्रीसुत्रकठताङ्ग-  
दीपिकायां द्वितीय श्रुतस्कन्धे समां स्रत्याख्यानक्रियारूपं चतुर्थमद्ययनमिति ॥ ४ ॥

## अथ पञ्चमाचारश्रुताध्ययनम्

साम्प्रतं पञ्चमारभ्यते, तत्रेयमादिगाथा—  
आदाय चंभचेरं च, आसुपत्रे इमं वर्यं । अस्ति धर्ममे अणायां, नायरेज्ज कयाइ वि ॥ १ ॥

न्याख्या—‘आदाय’ गृहीत्वा, किं तद् ? ब्रह्मचर्य—सत्य-भूतदया-तप-इन्द्रियनिरोधलक्षणं, एतत्मैनीन्द्रियवचने ब्रह्मचर्यमित्युक्त्यते, तदादाय ‘आशुप्रहः’, सदसद्विवेककहः; ‘इमां’ समस्ताचयनेनाभिधीयमानां वाचं [ इदं जगत् ] शाश्वतसेवाचाराभ्यतसेव वा, इत्यादिकां कदाचिदपि ‘नाचरेत्’ न कथयेत्, तथाऽस्तिसन्धर्मम् सर्वहप्रणीते न्यवास्थितः सन् अनाचारं-सावद्यातुष्टानरूपं ‘न समाचरेत्’ न विद्यावृ, यदि वा केवलिप्रणीते धर्मम् न्यवास्थितः ‘इमां’ वक्ष्यमाणं वाचसनाचारं च कदाचिदपि नाचरेदिति श्लोकार्थः ॥ २ ॥

अथाचायोऽनाचारं दर्शयितुं यथाचारस्थितलोकस्वरूपप्रकटनपूर्वकमाह—

अणादीयं परिज्ञाय, अणावदगोति वा पुणो । सासस्यमसासए वा, हति दिष्टुं न धारए ॥ २ ॥  
न्याख्या—चतुर्दशरज्ज्वालात्मकं लोकमनादिकमनवदग्रां—अनन्तोच परिज्ञाय—अपर्यवसानं च ज्ञात्वा शाश्वतमशाश्वतं वा इत्येकान्तेन न वदेत्, इत्येवमभूतां दृष्टि न धारयेत्, पण्डितस्त्वेकान्तेन शाश्वतमेवाक्षाश्वतमेव लोकं न वदेदिति गाथाऽर्थः ॥ ३ ॥

किमित्येकान्तेन न बदेदित्याह—

एषाहं दोहिं ठाणोहि, ववहारो ण विज्ञहं । एषाहं दोहिं ठाणोहि, अणायारं तु जाणाह् ॥ ३ ॥

व्याख्या—अयं लोको नित्य एवानित्य एव वा, अथवा सर्वं वस्तु नित्यमेवानित्यमेव वा, एताभ्यां स्थानाभ्यामभ्यु-  
पगम्यमानाभ्यां अनयोर्वा पश्योव्यवहारो लोकस्यैहिकामुचिमक्योः कार्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो न विद्यते, एतावता-  
एकान्तपक्षं नाश्रयेत्, एकान्तपक्षाभ्ययं त्वनाचारः, स्यादादपक्षाश्रयणं त्वाचार इति । अत्र हेतुयुक्तयो ब्रह्महीकातोऽव-  
सेया, अत्र तु संक्षेपेण द्वजार्थस्यैव प्रकाशनमिति गाथार्थः ॥ ३ ॥

तथाऽन्यमध्यनाचारं निषेद्धुकाम आह—

समुच्छिह्निति सत्थारो, सठन्वे पाणा अणोलिसा । गोंठिगा वा भविस्संति, सासंयंति व णो वए ॥ ४ ॥

व्याख्या—सम्यद्दनिरवशेषतया ‘उच्छेत्स्यन्ति’ उच्छेदं यास्यन्ति—क्षयं यास्यन्ति यदिवोच्छेत्स्यन्ति—सिद्धिं यास्यन्ति,  
केते? शास्त्रार—स्तीर्थिङ्कुरासत्तलासनप्रतिपक्वा वा ‘सर्वे’ निरवशेषाः सिद्धिगमनयोग्या भव्याः, ततश्चोत्सनभव्यं जगत्स्या-  
दिति, अत्र शुक्करकमिमानप्रहगृहीता युक्ति प्रकाशयन्ति—कीवसङ्गावे सत्यध्यूत्त्वोत्पादाभावात् अभव्यस्य च सिद्धिगमना-  
समभवात् कालस्य चानन्त्यात् निरन्तरं सिद्धिगमनसम्भवेन तद्ययोपतेरपूर्वमव्यजीवोत्पत्तेर माचाङ्गोच्छेद इत्येवं नो-  
वदेत्, तथा सर्वेऽपि प्राणिनः ‘अनीदुशाः’, न सदशाकाशः । तथा प्रनिधकाः सन्तीत्येवमपि नो वदेत् । तथा प्रनिधकाः सर्वाः—सर्वेऽपि

दितीते—  
श्रुत०  
पञ्चमा-  
ष्ट्यपनेऽ-  
नारचारी-  
पदमेनम् ।

प्राणिनः कर्मग्रन्थयोपेता एव भविष्यन्तीत्येवमपि नो बदेत् । इदमुक्तं मवति-सर्वेऽपि प्राणिनः सेत्स्यन्त्येव कर्मवृत्ता चा सर्वे भविष्यन्तीत्येवमेकमणि पश्चमेकान्तिर्कं नो बदेत् । यदि चा ‘ग्रन्थका’ इति प्रतिथमेदं कर्तुमसमर्था भविष्यन्तीत्येवं च नो बदेत्, तथा शा[श्वता:]स्तारः सर्वकालस्थायिनस्तीर्थकरा भविष्यन्ति, नोच्छेदं यास्यन्ति इत्येवमपि नो बदेत् ॥ ४ ॥

बदेत् दर्शनाचारवादनिषेधं वाङ्मात्रेण प्रदक्षयांश्चुना युक्ति दर्शयितुमाह—

एषाहि दोहिं ठाणोहि, ववहारो ण विज्ञाती । एषाहि दोहिं ठाणोहि, अणायारं तु जाणए ॥ ५ ॥

व्याख्या—सर्वे शास्तारः क्षयं यास्यन्ति शाश्वता चा भविष्यन्तीति, यदि चा सर्वे शास्तारस्त्रहर्येनपत्राचाचा] सेत्स्यन्ति, शाश्वता चा भविष्यन्तीति, यदि चा सर्वे प्राणिनो विस्वहशाः सद्वशा चा, तथा ग्रन्थिकसच्चास्त्रदहिता चा भविष्यन्तीत्येवमनयोद्देयोः स्थानयोर्वहारो न विद्यते, तथाहि—‘सर्वे शास्तारः क्षयं यास्यन्ती’ व्येतदयुक्तं, क्षयनिवन्धनस्य कर्मणोऽमाचात् सिद्धानां क्षयाभावः, [अथ]मवस्थकेवलयपेश्या चेदभिधीयते तदध्ययुक्तं, यतोऽनाद्यन्ततानां केवलिनां सङ्घावात्, भरतेषु केवलिनां विरहे महाविदेहेषु सर्वदा केवलिसङ्घावः । तथा सर्वेऽपि मवयाः सेत्स्यन्तीत्येतदपि न स्यात्, यतः श्रीभगवत्यां जयन्तीप्रशाधिकारे “सन्देवे विं भंते ! भवसिद्धिया जीवा सिद्धिस्तंति ?” मगवानाह—“हंता जयती ! भवसिद्धिया जीवा सिद्धिस्तंति ×× भवसिद्धियविरहिए लोए मविवस्सह ? नो हणमझौ समझौ” इत्यादि-मगवादुक्तवचनप्रामाण्याङ्गवजीवविरहितं जगत् मविष्यति, युक्तिश्वान् मविष्यति, युक्तिश्वान् मगवतीश्वितीत्येवा, तथा च “जइया होही

पुङ्छाः, जिणांदपासंभिः उत्तरं तहया । हक्कस्स निगोयस्स, अणांतभागो य सिद्धिगाओ ॥ १ ॥” इति चचनात् सर्वेऽपि न सेत्यन्तिः, न भव्यजीवविरहितं जगद्विषयति । न सिद्धिक्षेत्रं पूर्णं मविषयति । सिद्धिं च निरन्तरमेव प्रयास्यन्ति, अतो “ तमेव सञ्च नीसंकं, जं जिणोहि॒ पवेहयं ” इति चचनादेकान्तपञ्च नाभयेत् । अथ शाश्वतत्वमपि शास्त्रुणां न प्रहृष्टेव, यतस्तेषामपि सिद्धिगमनसङ्घावादशाश्वतत्वमिति, अत एकान्तेनाशाश्वतत्वमपि न श्रेष्ठै॑ । तथा सर्वेऽपि प्राणिनः चित्रकर्मसङ्घावानागतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिभिर्जन्मयोऽपरे च तथाविष्वपरिणामासाचाङ्गाद्विष्वकसङ्घाव । एत भवन्तीत्येवं कथाञ्चित् सहशा इति । तथोल्लिपितसद्वीर्यरया केचिद्गिन्यन्ययोऽपरे च तथाविष्वपरिणामासाचाङ्गाद्विष्वकसङ्घाव । एत भवन्तीत्येवं व्यवस्थिते नेकान्तपक्षो भवतीति निपिद्धः, तदेवमेतयोरेण द्वयोः स्थानयोरुक्तनीत्याऽनाचारं विजानीयादिति द्विष्वतम् । अपि चागमेऽनन्तवान्तस्तास्त्रभुत्तसर्पिण्यवसर्पिण्यु भव्यानामनन्तभाग एव सिद्ध्यतीत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते, यदा चैवमभूतं तदानन्त्यं, तत्कथं तेषां क्षयः ? । युक्तिरप्यत्र-समविष्वशब्दावेती, मुक्तिः संसारे विना न भवति संसारोऽपि न मुक्तिमन्तरेण, ततश्च भव्योऽन्तेदे॑ संसारस्याप्यभावः स्यादतोऽभिधीयते-नानयोर्व्यनहारी युज्यत इति ॥ ५ ॥

अधुना चारित्राचारमङ्गीकृत्याह—

जे केह खुडुगा पाणा, अटुवा संति महालया । सरिसं तोहि॒ वेरंति, असरिसंती य नो वदे॑ ॥ ६ ॥  
व्याख्या—ये केचन क्षुद्राः प्राणिनः एकेन्द्रियदीन्द्रियोऽवकाया वा पञ्चेन्द्रिया, अथवा ‘ महालया ’ महाकाया ॥ २०४ ॥

द्वितीये  
श्रुतं  
पञ्चमा-  
इचयने  
दर्शन-  
चारित्रा-  
चारविषय-  
कमना-  
चारम् ।

हस्तश्वादयः अल्पकायाः—कुन्तचादयः, तेषां व्यापादने सद्वर्णं ( विसद्वृण् वा ) वैरमिति एवं ( एकान्तेन ) नो चदेत्, यतः बन्धोऽपि अङ्गवरमायवशाङ्कवति, तीव्राह्यवसायिनोऽवपकायसत्त्वव्यापादनेऽपि महारूपन्वधः, अकामस्य अनामोगादिना महाकायसत्त्वव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

एएहि दोहिं ठाणोहि॒, ववहारो न विज्ञाई॑ । एएहि॒ दोहिं ठाणोहि॒, अणायारं तु जाणए॑ ॥ ७ ॥

व्याख्या—आभ्यामेव स्थानाभ्यां अनयोर्वा स्थानयोर्महाकायालपकायव्यापादने कर्मवन्धः महजः असदशो वा, एतयोः स्थानयोर्व्यवहारो न विघ्ने, निर्युक्तिकल्पनान् युद्धयते । एतयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्थानाचारं विजानीयात्, यतो—नहि जीव-व्यापत्या हिसोच्यते, जीवस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्यत्वात्, अपि हिंदिन्दिव्यापत्या हिसा स्थात्, तथा चोक्तं—“ पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं वलं च, उच्छ्वासनिरचासमथान्यदायुः । प्राणा ददौते अगच्छिरक्ता—सतेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥ ” अपि च हिसा चतुर्धा, एका द्रव्यतोडपि भावतोडपि १, एका द्रव्यतो न भावतः २, एका भावतो हिंसा न द्रव्यतः ३, एका न द्रव्यतो न भावतः ४, अपमेको भजः शुद्धः, अवन्वकत्वाद॒, द्वितीयो भजः जातेऽपि द्रव्यतः प्राणिवदे स्वल्पः कर्मवन्धः, भावतः परिणामस्य शुद्धत्वात् । मावमहितस्यैव कर्मवन्धोऽभिहितः, तथाहि—वैद्यस्थागमात्माराण सम्यक्क्रियां कुवर्तोऽपि यद्यातुरविपत्तिर्मनति तथापि न वैराग्यको भवेदोपामावात् । अपरस्य तु सर्पवृद्धा रज्जुमपि ज्ञतो मावदोषात् कर्मवन्धः, यतः—“ उच्चालियंभिपि पाए, इरियासमियस्तु संकमट्टाए । चावज्जेज्ज कुल्लिगी,

श्रुत०  
पञ्चमा-  
द्युषिका-  
निरप्-  
॥ १०५ ॥

मरिज्ज तज्जोगमासज्ज ॥ १ ॥ न य तस्स तज्जिमित्तो, चंधो छुहमो वि देसिओ समए । अणवज्जे य पओगे,  
ण सठवभावेण सो जमहा ॥ २ ॥ अज्ञात्थविसोहिए, जीवनिकाएहि संघ(डे)डो लोए । देसियमहिसयत्तं  
जिगेहि तेलोक्कंदसीहि ॥ ३ ॥ नाणी कम्मस्स खयहु-मुट्ठिओ नो ठिओ य हिंसाए । जयह असहं अहिस-  
(त्थ)-मुट्ठिओ अवहओ सो उ ॥ ४ ॥ तस्स असंचयओ सं-चयओ(य) जाहं सत्ताहं । जोगं पप्प विणासंति,  
नहिथ हिंसाफलं तस्स ॥ ५ ॥ जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोगं पहुच जे सत्ता । वाविज्जंते नियमा,  
तेस्सि सो हिंसओ होह ॥ ६ ॥ जे वि न वाविज्जंती, नियमा तेस्सि पि हिंसओ होह । सावज्जो य पओगे,  
सठवभावेण सो जमहा ॥ ७ ॥ आया चेव अहिसा, आया हिंसात्ति निचक्कओ एसो । जो होह अप्पमत्तो,  
अहिसओ हिंसओ हयरो ॥ ८ ॥ जो य पओगं ऊंजह, हिंसत्तं जो य अनभावेण । अमणो य जो पउंजह,  
इत्थ विसेसो महं तुत्तो ॥ ९ ॥ हिंसत्तं ऊंजत्तो, सुमहं दोसो अ[प्प]णत्तरं हयरो । अमणो य अप्पदोसो,  
जोगनिमित्तं च विक्केओ ॥ १० ॥ रत्तो वा मूढो वा, जो पउंजह पओगं । हिंसा वि तथ जायह, तमहा  
सो हिंसओ तुत्तो ॥ ११ ॥ न य हिंसामित्तेण, सावज्जेणावि हिंसओ होह । सुद्दरस य संपत्ती, अफला  
भणिया जिणवरेहि ॥ १२ ॥ जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्रस्स । सा होह निज्जरफला,  
अज्ञात्थविसोहिज्जत्तस्स ॥ १३ ॥” अन्त यूवीक्तचत्तुभैक्किकामझे प्रथमतृतीयभङ्गाचशुद्धी, शेषी शुद्धी, इत्यलं विस्तरेण  
एतावता महत्प्राणीवधे अल्पकायसच्चयापादने च सदर्शं वैरं सदर्शः कर्मण्वन्वः इत्येवं नो वदेत् इति गाथायः ॥ ७ ॥

॥ १०५ ॥

अथ पुनरपि चारित्रमधिकृत्याहारमधिकृत्याचारानाचारौ प्रतिपादयितुकाम आह—

अहाकर्मणि भुञ्जति, अन्नसद्वे सकर्ममुणा। उवलितेति जाणिजा, अगुचलितेति वा पुणो ॥ ८ ॥

व्याख्या—साधुमाश्रित्य कर्मणि—आधाकर्मणि, तानि च वक्त्वमोजनवस्त्यादीनि, एतान्याधाकर्मणि ये भुञ्जन्ते—  
एतेऽपमोगं ये कुर्वन्ति ‘अन्योऽन्यं’ परस्परं तामूलकीयेन कर्मणोपलिसान् विजानीयादित्येन नो वदेत्, [ तथाऽनुप-  
लिसानिति वा नो वदेत् ]। एतदुक्तं मत्वा श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुज्ञानः कर्मणा नोपलिप्यते तथा  
श्रुतोपदेशमन्तरेणाऽहरगुद्ध्या आधाकर्मणे भुज्ञानस्य तन्निमित्तकर्मवन्धसङ्गाचाइ, अतोऽनुपलिसानपि नो वदेत्, यथाऽन-  
स्थितमौनीन्द्रागमजस्य त्वेवं युद्धयते चकुं—आधाकर्मणोपमोगेन स्यात्कर्मसंबन्धः स्याक्षात् वदेत्, उक्तं च—“ किञ्चिच्छुद्धं क-  
र्त्पय—सकलत्यं वा स्यादकर्त्पयमपि कर्त्पयम् । पिण्डः शारया चर्लं, पात्रं वा मेषजात्यं वा ॥ ९ ॥ ” अतः—  
आधाकर्मणोपलिसान् वा अनुपलिसान् वा हत्येकान्तेन नो वदेत् ॥ ८ ॥ किमित्येन स्यादादः प्रतिपादते ? इत्याह—  
एतोहिं दोहिं ठाणोहिं, चवहारो न विज्जई । एतोहिं दोहिं ठाणोहिं, अणायारं तु जाणाए ॥ ९ ॥

व्याख्या—आभ्यां स्थानाभ्यामतयोर्वा स्थानयोराधाकर्मोपमोगेन कर्मवन्ध[भावा]गावभूतयोर्वयहारो न विद्यते,  
तथाहि—श्रुते हि कदाऽपि कर्मयासप्यवस्थायामावाकर्मग्रहणमप्यत्तुज्ञातमस्ति “ सर्ववत्थ संजामं सं—जमाओ अपाण-  
सेव रक्षित्वज्ञा । मुच्चइ अह्वायाओ, पुणो विसोही न(त)या (?) विरई ॥ १ ॥ ” तथा—“ संथरणंभि असुखं,

खण्डाङ्ग-

सूत्रं

दीपिका  
निवतम् ।

॥ १०६ ॥

कुन्नह वि गिणहंतादितयाणऽहियं, आउरादिहंतेण, तं चेव हियं असंथरणे ॥ २ ॥” तथा च श्रीभगवत्यो—  
“ तहारुचं भंते ! समर्णं चा माहणं चा फासुपएसणिज्ञेणं असणपाणखाइमसाहसिणं पडिलामेसाणसस-  
किं कज्जलिति ? गोयमा ! एंततसो निज्जरा कज्जलिति । तहारुचं समर्णं चा माहणं चा अफासुएणं अणेसणि-  
ज्ञेणं असणपाणखाइमसाहसेणं पडिलामेसाणसस किं कज्जलह ? गोयमा ! बहुतरिया निज्जरा कज्जलह  
अपपतरे पाचे कम्भे कज्जलह । ” इत्यादिप्रकारेणाधारकम्भियुज्जातमस्ति, अतः आधारकम्भिपमोगेन कम्भणा लिघ्यते  
इत्येकान्तेन नो चेदेत्, नाऽपि तदुपशोगे कम्भमध्याभावि हत्यपि चेदेत्, यतः—आधारकम्भिणि निष्पाद्यमाते पहिनीचनिकाय-  
वधस्तद्वये च प्रतीतः कम्भवद्वय[तोऽन्योः स्थानयोरेकान्तेनाश्रीयमाणयोव्यवहारो न युजपते, तथाऽऽस्यामेव स्थानाभ्या-  
माश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादिति स्थितं ॥ ९ ॥ पुनरन्यथा दर्शनं प्रति वागनाचारं दर्शयितुमाह—

जामिदं ओरालमाहारं, कम्भमगं च त[सेव तं] हेव य । सवत्थ वीरियं अहिथ, ननिथ सवत्थ वीरियं ॥ १० ॥

इत्याख्या—ओदारिकं शरीरं १, तथाऽऽहारकं २, चैकियं ३, काम्भणं ४, तैजसं ५, एवं पञ्च शरीराणि, तत्र कश्चिदेवं-  
जानाति—यदेवौदारिकं तदेव तैजसं काम्भणं तदेवौदारिकं तदेवाहारकं तदेव वैकियं च, एवं-  
विघां संज्ञां न धारयेत्, एतेषां शरीराणां ऐक्यं न गणयेत्, तथा मिथः पार्थक्यमपि न गणयेत्, कथश्चिदेकत्रोपलङ्घयेत् एव-  
कथश्चिद्व संज्ञामेदाक्षेद इति स्थितं, तदेवौदारिकादीनां शरीराणां मेदामेदौ प्रदर्शय सर्वस्य द्रव्यस्य मेदामेदौ प्रदर्शयितु- ॥ १०६ ॥

द्वितीये  
श्रुतं  
पञ्चमे-  
इत्ययने  
याधाकम्भे-  
पमोगे-  
कर्मणी-  
पलिस्तव-  
मलिस्तवं  
च ।

कामः पूर्वपक्षं श्लोकपश्चाद्दुनं दर्शयितुमाह—‘ सच्चवत्थ चीरिय ’ मित्यादि, ‘ सर्वदन्यवीर्यं सर्वदन्येषु विद्यते ’ अयं  
 सांख्याभिमायः, साँड्यानां हि सच्चरजस्तमोरुपस्य प्रधानस्यैकत्वात् तस्य च सर्वस्यैकत्वात्, अतः ‘ सर्वं सर्वात्मकं ।-  
 मित्येवं न्यवास्थिते सर्वत्र घटपटादावपरस्य न्यक्तस्य [ कार्यस्य ] ‘ वीर्य । ’ शक्तिविद्यते, सर्वस्यैव हि न्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वा-  
 तकार्यकारणयोश्चकत्वात्, अतः ‘ सर्वं सर्वात्मकं गित्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, तथा “ सर्वं भावावाः सर्व भावे  
 न्यवास्थिताः ”, अतः प्रतिनियतशक्तिकत्वात् सर्वत्र सर्वस्य ‘ वीर्यं ’ शक्तिरित्येवमपि संज्ञां नो निवेशयेत्, अत्रैकान्तिनिषेदेत  
 स्याद्बाष्या चदेदिति गाशार्थः ॥ १० ॥

एषाहि दोहिं ठाणोहि, ववहारो न विजाई । एषाहि दोहिं ठाणोहि, अणायारं तु जाणए ॥ ११ ॥

सुगमाख, व्याख्या पूर्वत् । तथा—

नहिथ लोए अलोए चा, नेवं सन्नं निवेसए । आहिथ लोए अलोए चा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १२ ॥  
 व्याख्या—पञ्चास्तिकायात्मकशतुर्दशरुद्ग्रहित्वात्मको वा लोको नाहित, एवं संज्ञां नो निवेशयेत्-न धारयेत्, तथा केवला-  
 कायात्मकोऽलोकोऽपि नास्तीत्येवमपि संज्ञां न निवेशयेत्-न निवेशयेत्, किन्तु ‘ अतिथ लोए ’ हत्यादि, किन्तु अस्ति लोकः

× “ द्वाष्यामेताया शक्तिरिति नास्ति वेति, अश्वा शरीरणा सर्वेषा मेदोऽभेदो वेति द्वाष्या स्थानाभ्या न्यवहारो न विद्यते,  
 युक्तयो न सङ्गगच्छन्ति इत्यर्थः । एतयोः स्थानयोः प्रवृत्तस्थानाचारं जानीयात् ” इति हर्षकुलीयदीपिकायां ।

स्वयमादाङ्ग  
स्वर्वं  
दीपिका-  
निवासम् ।

॥ १०७ ॥

ऊरुषस्तिर्यग्रहूपे वैशाखस्थानस्थितकटित्यस्तकरुपमपुरुषसहशः पञ्चास्तिकायात्मको वा, युक्तिशाऽन्न—यदि सर्वं नास्ति ततः सचान्त्वः प्रतिहाल्लोकप्रतिपेषकर्त्तुपुरुषोऽपि नास्ति, एतावता लोकाभावे प्रतिपेषकपुरुषाभावः, पुरुषाभावात्प्रतिपेषस्याभ्यावः, तदेवं भयवस्थिते लोकोऽप्यस्ति इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १२ ॥

॥ १०८ ॥

नरिथ जीविवा अजीविवा वा, नेवं सद्वर्तं निवेसए । अहिथ जीविवा अजीविवा वा, एवं सद्वर्तं निवेसए ॥ १३ ॥ व्याख्या—उपयोगलक्षणः संपारिणो युक्ता वा जीवा न विघ्नते, तथा अजीविवा धमर्याधर्मकाशकालपुदलात्मकः गतिस्थित्यनगाहदनिलायातपोद्योतादिवर्तनालक्षणा न विघ्नते । प्रत्येकातुपलभ्यपात्तवाजीवा न विघ्नते, कायाकारपरिणतानि भूतान्वयेन धावनवहगतादिर्वाङ्कियां कुरुन्तीति । अजीवा अपि न विघ्नते, एवंविषां संज्ञां नो निवेशयेत्, नास्तिवादी तु सर्वं नास्तीति प्रहृपयति । 'अहिथ जीवे'त्यादि, नास्ति जीवः अस्त्यजीवः एवंविषां संज्ञां निवेशयेत् । तस्मानेकान्तेन जीवाजीवयोरभावः, अपितु सर्वपदार्थार्थानां स्पादादाऽश्रवणाजीवाजीवयोरस्तिवर्तनं नास्तिवर्तनं च (स्यात्) केवलप्रकारणेति । अत्र जीवाजीवयोरस्तिवर्ते नास्तिवर्ते च युक्तयोः प्रन्यान्तरादवसेया इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

॥ १४ ॥

व्याख्या—धर्मः श्रुतचारित्राऽत्मको जीवस्थात्मपरिणामोऽस्ति धर्मः कर्मकारणं, अधर्मोऽपि मिथ्यात्वाविरतिप्रभादकपाययोगरूपः कर्मभन्धकारणं, धर्मोऽपि नास्ति नेत्रं संज्ञां निवेशयेत्—नेत्रं प्रहृपयेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

द्वितीये  
श्रुतं  
पञ्चमा-  
द्वयमे-

इनाचार-  
त्वमेकान्ते-  
न जीवा-  
जीवयोर-  
स्तिवर्तना-  
स्तिवर्तन-  
निवेदने ।

॥ १०९ ॥

कथं प्रलयेत् ? ‘ अतिथ धर्ममे ’त्यादि, अस्ति धर्मः—अधर्मोऽप्यस्ति, यतो धर्मोऽप्यस्ति, संसारवैचित्रं न स्यात्, यतः—“ प्रलयक्ष एव विशेऽस्ति, प्रपञ्चः पुण्यपापयोः । द्विभिन्नं (हि) जगत्सर्वं, सुखदुःखद्वयवस्थया ॥ १ ॥ एके दधाति साम्राज्यं, परे दधाति आसताम् । ” इत्यादिवचनात्, अतो धर्मः सम्प्रदर्शनादिकोऽस्ति अधर्मोऽपि मिल्यात्वादिकोऽस्ति हत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १४ ॥

न तिथं वंधे व मुक्तेवं वा, नेवं सद्वं निवेसए । अतिथ वंधे व मुक्तेवं वा, एवं सद्वं निवेसए ॥ १५ ॥

व्याख्या—बन्धः कर्मणां ‘ नास्ति ’ न विद्यते, अमृतेत्वादात्मनो गगतस्येव न कर्मणं बन्धः, इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, तथा व्याख्याभावाच मोक्षस्यात्यभाव इत्येवमपि संज्ञां नो निवेशयेत्, किन्तु—‘ अतिथ वंधे व मुक्तेवं वा, अस्त्यात्मनो बन्धः कर्मणां, अमृतेत्वाद्यात्मनो मूर्त्तैः कर्मपुहलैः सह सम्मन्त्रो—बन्धः, स तु विधत् एव, आत्मनः सक्रियत्वात्, सक्रियस्य द्यादेव बन्धः, यदा व्यात्माक्रियस्तदा न कर्ममन्त्रः, बन्धामात्राच्च मोक्ष एव, अतो बन्धोऽप्यस्ति मोक्षोऽप्य-

स्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १५ ॥

अथ बन्धसङ्क्लावे पुण्यपापयोरपि सङ्क्लावः । तर्हि—

न तिथं पुन्त्रे व पावेवा, नेवं सद्वं निवेसए । अतिथ पुन्त्रे व पावेवा, एवं सद्वं निवेसए ॥ १६ ॥

व्याख्या—‘ नास्ति ’ न विद्यते ‘ पुण्यं ’ शुभकर्मप्रकृतिलक्षणं तथा पाप-मशुभकर्मप्रकृतिलक्षणं ‘ नास्ति ’ न विद्यते,

ब्रह्मगडाहङ्क  
सुन्त  
दीपिका-  
निवतम् ।

इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, यतः:-पुण्यपापयोर्विना जगद्देविचित्रं न स्यात् । केषांचिन्मते जगद्देविचित्रं नियतिकृतं, नियत्या जगद्देविचित्रं स्यात् तदप्युक्तम्, यदि नियत्या समावेन वा जगद्देविचित्रं स्यात् । सकल क्रियात एव सकलकार्योत्पत्तिः । यतः:-शुभक्रियातः पुण्यं पुण्याच्च सुखं अशुभक्रियातः पापं पापाच्च दुःखमित्यतः । अतिथ पुनं च पाचं चे'त्यादि, अस्ति पुण्यं पाप चास्ति एवंविधां संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

॥ १०८ ॥

नहिय आसवे संचरे वा, नेवं सद्वं निवेसए । अतिथ आसवे संचरे वा, एवं सद्वं निवेसए ॥ १७ ॥

व्याख्या—आश्राः प्राणतिपातादिल्पः कर्मोपादानकारणं, तनिषेधः संवरः एतौ द्वाचपि न स्तः, इत्येवं संज्ञां न निवेशयेत्, किन्तवस्त्याश्रमः संवरश्च, हत्येवंविधां संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १७ ॥

नहिय वेयणा निजारा वा, नेवं सद्वं निवेसए । अतिथ वेयणा निजारा वा, एवं सद्वं निवेसए ॥ १८ ॥

व्याख्या—‘वेदना’ कर्मादुभ्यवलक्षणा तथा ‘निर्जरा’ कर्मपुहलशाटतलक्षणा, एते द्वे अपि न विद्येते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतः:-पव्योपममगरोपमशताऽनुभवनीयं कर्म उन्तर्मुहूर्तेन क्षयपुण्यातीतप्रभुपगमातदुक्त—\*“जं अन्तर्मुक्तं, च्वेदं यहृयाहि वासकोडीहि । तं नाणी तिहि गुचो, च्वेदं ऊसासमितोणं ॥ १ ॥” इत्यादि । क्षपकश्रेण्यां तु शटित्येव कर्मणो भस्मी करणाद्यथाकरमवद्दस्य चानुभवनाभावेन वेदनाया अमाच्च, तदभावान्निर्जराया अप्य

द्वितीये श्रुतं पञ्चमा-  
षुत० पञ्चमा-  
हयने आश्रम-  
संवरयो-  
रेकान्तेना-  
स्थितत्वा-  
निवेदने-  
उनाचार-  
त्वम् ।

॥ १०८ ॥

\* यदद्वानी कर्म श्रूपयति वहुकामिवर्पकोटीभिः । तद्वानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्रासमानेण ॥ १ ॥

भावः, इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । किमिति ? यतः—कस्यचिदेव कर्मण एवमनन्तरोक्तया नीत्या क्षणात्प्रसा प्रदेशानु-  
भवेन चापरस्य तृहयोदीरणाभ्यामनुभवनमित्यतोऽस्ति वेदना, आगमोऽप्येवमभूत एव, तथथा—“ × पुर्विच उचित्ताणं-  
दुष्पठिकंताणं वेहत्ता मोक्षाणे, ननिथ अवेहत्ता ” इत्यादि । वेदनासिद्धौ च निर्जराऽपि सिद्धैवेत्यतोऽस्तिवेदना  
निर्जरा चेत्येवं संज्ञा निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १८ ॥

वेदना निर्जरा च क्रियाऽक्रियायते, ततस्तद्वाचं प्रतिपेष्यत्वकं दर्शयितुमाह—  
ननिथ किरिया आकिरिया वा, नेवं सद्वं निवेसए । अहिथ किरिया आकिरिया वा, एवं सद्वं निवेसए ॥ १९ ॥  
व्याख्या—‘ क्रिया ’ परिस्पन्दलक्षणा तद्विपर्यस्ता त्वकिया, तेष्वे अपि न स्तो—न विद्यते, इत्येवंविधां संज्ञां नो निवेशयेत्,  
यतः—शरीराऽत्मनोदेशादेशान्तराचाप्तिनिमित्ता परिस्पन्दात्मिका क्रिया प्रत्यक्षेणौपलभ्यते, सर्वथा निषिक्यत्वे चात्मनोऽ-  
भ्युपगम्यमाने गमनस्येव वन्धमोक्षाद्यभावः, म च उटेष्टवाधितः, अपि चैकान्तेन क्रियाऽमावे संसारमोक्षाभावः स्या-  
दित्यतोऽस्ति क्रिया तद्विप्रक्षभूता चाक्रियाऽप्यस्ति इत्येवंविधां संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

अथ सक्रिये आत्मनि सति क्रोधादिसङ्गाव इत्येतदर्शयितुमाह—  
ननिथ कोहे च माणे वा, नेवं सद्वं निवेसए । अहिथ कोहे च माणे वा, एवं सद्वं निवेसए ॥ २० ॥

× पूर्वं दुश्कीरणना दुष्प्रतिक्रान्तवाना ( कर्मणा ) वेदयित्वा मोक्षो, नास्त्यवेदयित्वा ।

व्याख्या—स्वपरात्मनोरप्रीतिलक्षणः क्रीधः, स चानन्तानुभव्यपत्त्याख्यानप्रत्याख्यानसङ्कलनमेदेन चर्तु-  
द्वितीये श्रुते, तथैताचद्वेद् एव ‘मानो’ गर्वः, तौ द्वावपि ‘न स्तो’ न विद्येते, इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतः—  
कपायकमोदयवर्ती दृष्टिः कृतभृक्टीमङ्गो रक्तचद्वो गलतस्वेदविनटुसमाहुलः कोधाब्सातः सप्तप्रस्त्रते न  
क्रीधो मानांशु एवेत्येतदप्ययुक्तं, श्वपक्षेण्यां तु भेदेन श्वपणात् कोषक्षये न मानस्य क्षयः पृथक् पृथक् श्वयो द्वयोरपि,  
तदुभयस्य च नरसिंहन[द]स्त्वत्तरत्वादित्यतोऽप्स्ति क्रोधः, मानोऽप्स्ति चेत्येवं संज्ञा निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २० ॥  
नहिं माया व लोभे वा, नेवं सद्वं निवेसए । अतिथ माया व लोभे वा, एवं सद्वं निवेसए ॥ २१ ॥  
व्याख्या—अत्रापि प्रागवन्मायालोभयोरपाचवादिनं निराकृत्यास्तित्वं प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥  
साम्प्रतमेषामेव क्रीधादीनां समासेनास्तित्वं प्रतिपादयन्नाह—  
नहिं पेजे व दोसे वा, नेवं सद्वं निवेसए । अतिथ पेजे व दोसे वा, एवं सद्वं निवेसए ॥ २२ ॥  
व्याख्या—प्रीतिलक्षणं ग्रेम, पुत्र कलत्रधनघान्याद्यात्मीयेषु रागस्तदिपरीतस्त्वात्मीयोपयातकारिणि द्वेषस्तावेतौ द्वावपि  
न विद्येते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । प्रेमाभ्यस्ति द्वेषोऽप्यस्ति, यतः—“को हुःस्वं पाविज्ञा ? , कस्स व सुक्खवे हि  
विमहओ हुज्जा ? । को व न लहिज्जा ? सुक्खं, रागहोसा जह न हुज्जा ॥ १ ॥ तो बहुगुणनासाणं, समत्त-  
चरित्युणविणासाणं । न हु वसमागंतवं, रागहोसाण पावाणं ॥ २ ॥” इत्यादिवचनप्रामाण्यान्न तदभावः; ॥ १०९ ॥

अतः ग्रेमाप्यस्ति द्वेषोऽप्यस्ति हृत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २२ ॥  
×

नातिथ्य चाउरंते संसारे, नेवं सन्ननं निवेसए । अतिथ्य चाउरंते संसारे, एवं सन्ननं निवेसए ॥ २३ ॥

व्याख्या—चत्वारोऽन्तरा गतिमेदा नारकतिर्युक्तनरा मरलक्षणा यमय संसारसयासी चाहुरन्तः, संमार एव कान्त्वारो भयैक-हेतुत्वात्म चतुर्विधो न विद्यने, अपि तु मर्वेषां संस्कृतिरूपत्वात् कर्मवन्धात्मकरुतया च हुःखैकहेतुत्वाइकविष एव, अथवा नारकदेवयोरुपलभ्यमानत्वात्तिर्युक्तमनुष्टयोरेव सुखद्वयोर्खोत्कृपतया तदृश्यवस्थानाहृ द्विविषः संसारः, पर्याप्यनयाश्रयणारवेकविषः, अतश्चातुर्विद्यं न कथयित्विद्युष्टं नो संज्ञां निवेशयेत्, अपि त्वरित चाहुरन्तः संसार हृत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । यदुक्तमेकविषः संसारसततं घटते, यतोऽप्यक्षेण तिर्युक्तमनुष्टयोर्मेढः समुपलभ्यते, तथा [ सम्भवानुमानेन ] नारकदेवानामध्यस्तित्वाभ्युपगमात् [ द्विविषयमपि न विद्यते ], एवं चातुर्गतिक एव संमार हृत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २३ ॥ नातिथ्यस्तित्वाभ्युपगमात् निवेसए । अतिथ देवो व देवी वा, एवं सन्ननं निवेसए ॥ २४ ॥ नातिथ देवो व देवी वा, नेवं सन्ननं निवेसए । अतिथ देवो व देवी वा, एवं सन्ननं निवेसए ॥ २५ ॥

व्याख्या—भवनपतिर्यन्तरदयोर्तिकवैमानिका देवा न मन्त्रित तथा देवामानाद्वयोऽपि न सन्ति हृत्येवं संज्ञां नो

× इतोऽनन्तरं निम्नोद्युतः श्लोकः भवन्तिकः समुपलभ्यते हप्तकुलीयाया—“ नतिथ रागे न दोसे या, नेवं सन्नं निवेसए । अतिथ रागे व दोसे वा, एवं मन्त्रं निवेसए ॥ २३ ॥ दी०—रागदेवो न स्तः इति न स्वीकार्य, तौ विद्यते इति मतिः कार्यां, युक्तिः पूर्वोक्ता । ( पुनरुक्त एवायम् )

निवेशयेत्, किन्तु देवा देवयश्च सन्ति, अर्हतः पञ्चमु कल्पाणके पु ममागमनदशनात् ॥ १० ॥ महरिसितवाणु भावाओ । जग्मन्तरनेहेण य, आगच्छंती सुरा हहयं ॥ १ ॥ अन्यथा नायान्ति, ( यतः:- ) “ चत्तारि पञ्च जोयण-सयाइं गंधो उ मणुयलोयस्स । उहुं वच्छह जेण, न हु देवा तेण आर्चिति ॥ २ ॥ ” तथा च ग्रहगृहीतवरप्रदानादिना च तदस्तित्वमनुमानेन माध्यते, अतो देवा देवयश्च सन्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २४ ॥ नाथ्य सिद्धी असिद्धी वा, नेवं सन्नं निवेसए । आतिथ्य सिद्धी आसिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २५ ॥

व्याख्या—अरेकमश्यलक्षणा सिद्धिस्तद्विपर्यमभूता चासिद्विनास्तीत्येवं नो संज्ञा निवेशयेत्, अस्ति सिद्धिरित्येवं संज्ञां निवेशयेत् । ममयगृजानदर्शनवारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य सद्गम्भावात् कर्मस्क्षयस्य च पीडोपशमनादिना प्रत्यक्षेण-दर्शनात्, अतः कस्याचिदात्यनितकक्षम्भानिसिद्धेरस्ति सिद्धिरिति गाथार्थः ॥ २५ ॥ नाथ्य सिद्धी नियं ठाणं, नेवं सन्नं निवेसए । आतिथ्य सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥ २६ ॥

व्याख्या—सिद्धेशेषोपकर्मस्क्षयलक्षणाया निज स्थानमीपत्राग्रभाराख्यवहारतो, निश्चयतस्तु तदुपरि योजन[चतुर्थ]-कोशपडभागः, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्मनास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, किन्तु सिद्धानामवस्थानस्थानं सिद्धाश्च सन्तीत्येवं सज्जां निवेशयेत्, यतः—अयोगिचरमसमये त्रयोदश प्रकृतीः “ क्षयं नीत्वा स लोकान्तं, तत्रैव समये व्रजेत् । लठ्ठसिद्धदत्तपर्याप्य, परमेष्ठी सनातनः ॥ १ ॥ पूर्वप्रयोगतोऽसङ्ग-भावाद्वन्धविमोक्षतः । द्वयभाव-

द्वितीये श्रुत० पञ्चमा-  
सुन्नं पञ्चमा-  
दीपिका-  
न्वितम् । देवादीनां सिद्धादी-  
महरिसितवाणु भावाओ । जग्मन्तरनेहेण य, आगच्छंती सुरा हहयं ॥ १ ॥ अन्यथा नायान्ति, ( यतः:- ) “ चत्तारि पञ्च जोयण-सयाइं गंधो उ मणुयलोयस्स । उहुं वच्छह जेण, न हु देवा तेण आर्चिति ॥ २ ॥ ” तथा च ग्रहगृहीतवरप्रदानादिना च तदस्तित्वमनुमानेन माध्यते, अतो देवा देवयश्च सन्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २४ ॥ नाथ्य सिद्धी असिद्धी वा, नेवं सन्नं निवेसए । आतिथ्य सिद्धी आसिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २५ ॥

द्वितीये श्रुत० पञ्चमा-  
सुन्नं पञ्चमा-  
दीपिका-  
न्वितम् । देवादीनां सिद्धादी-  
महरिसितवाणु भावाओ । जग्मन्तरनेहेण य, आगच्छंती सुरा हहयं ॥ १ ॥ अन्यथा नायान्ति, ( यतः:- ) “ चत्तारि पञ्च जोयण-सयाइं गंधो उ मणुयलोयस्स । उहुं वच्छह जेण, न हु देवा तेण आर्चिति ॥ २ ॥ ” तथा च ग्रहगृहीतवरप्रदानादिना च तदस्तित्वमनुमानेन माध्यते, अतो देवा देवयश्च सन्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २४ ॥ नाथ्य सिद्धी असिद्धी वा, नेवं सन्नं निवेसए । आतिथ्य सिद्धी आसिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २५ ॥

द्वितीये श्रुत० पञ्चमा-  
सुन्नं पञ्चमा-  
दीपिका-  
न्वितम् । देवादीनां सिद्धादी-  
महरिसितवाणु भावाओ । जग्मन्तरनेहेण य, आगच्छंती सुरा हहयं ॥ १ ॥ अन्यथा नायान्ति, ( यतः:- ) “ चत्तारि पञ्च जोयण-सयाइं गंधो उ मणुयलोयस्स । उहुं वच्छह जेण, न हु देवा तेण आर्चिति ॥ २ ॥ ” तथा च ग्रहगृहीतवरप्रदानादिना च तदस्तित्वमनुमानेन माध्यते, अतो देवा देवयश्च सन्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २४ ॥ नाथ्य सिद्धी असिद्धी वा, नेवं सन्नं निवेसए । आतिथ्य सिद्धी आसिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २५ ॥

द्वितीये श्रुत० पञ्चमा-  
सुन्नं पञ्चमा-  
दीपिका-  
न्वितम् । देवादीनां सिद्धादी-  
महरिसितवाणु भावाओ । जग्मन्तरनेहेण य, आगच्छंती सुरा हहयं ॥ १ ॥ अन्यथा नायान्ति, ( यतः:- ) “ चत्तारि पञ्च जोयण-सयाइं गंधो उ मणुयलोयस्स । उहुं वच्छह जेण, न हु देवा तेण आर्चिति ॥ २ ॥ ” तथा च ग्रहगृहीतवरप्रदानादिना च तदस्तित्वमनुमानेन माध्यते, अतो देवा देवयश्च सन्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २४ ॥ नाथ्य सिद्धी असिद्धी वा, नेवं सन्नं निवेसए । आतिथ्य सिद्धी आसिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २५ ॥

परिणामाच, सिद्धस्योद्वेगति भवेत् ॥ २ ॥ कुलालचक्रदोलेषु, मुहयाणं हि यथा गतिः । पूर्वप्रयोगतः  
सिद्धा, सिद्धस्योद्वेगतिस्तथा ॥ ३ ॥ मृष्टेपसङ्गनिर्मैक्षा-यथा दृष्टाऽश्वलातुनः । पूर्वसङ्गविनिर्मैक्षा-तथा  
सिद्धिगतिः स्मृता ॥ ४ ॥ एषणफलवीजादे-र्बन्धन्तेदायथा गतिः । कर्मचन्धनविचलेदात्, सिद्धस्यापि  
तथा भवेत् ॥ ५ ॥ यथाधरितयग्रहं च, लोष्टवाऽवर्तिनवीचयः । स्वभावतः प्रवर्तन्ते, तथोद्देशतिरात्मनः  
॥ ६ ॥ न चाधो गौरवाभावा-न तिर्थक् प्रेरकं विना । न च धम्मास्तिकायस्या-भावाल्लोकोपरि व्रजेत्  
॥ ७ ॥ मनोज्ञा सुरभिसत्त्वी, पुण्या परमसासुरा । प्राग्रभारा नाम वसुधा, लोकसूर्यन व्यवस्थिता ॥ ८ ॥  
नुलोकतुल्यविकर्मभा, सितचक्षुविनिभा शुभा । ऊर्द्धं तस्या: क्षितेः सिद्धा, लोकान्ते समवस्थिताः ॥ ९ ॥  
उमीपदभाराए, उचरि वल्ल जोयणंभि जो कोसो । कोसस्स य छलभाए, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ १० ॥  
हति सिद्धानां स्थानम् । अथ सिद्धास्तु-“ नो किए हे नो नीले नो लोहिए नो चुक्किले नो सुरभिगंधे  
नो डुरभिगंधे नो तिते नो कड्हए नो अंबिले नो महुरे ( नो लचपो ) नो बहु नो तंसे नो चउरंसे  
नो परिमंडले नो दीहे नो हस्से नो गुरुए नो सीए नो उणहे नो कक्खड्हे नो मउए नो हथी नो  
पुरिसे नो अबहा ” एवं सिद्धाः लोकाग्रपदसंस्थिताः सदाऽङ्गयाः अनन्ता अजरामराः सदाऽनन्दमया अवतिष्ठन्ते ।  
एवं सिद्धास्तथा सिद्धानां च स्थानं विद्यते, एवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २६ ॥  
तथिथ साहू असाहू वा, नेवं सन्ननं निवेसप । आहिथ साहू असाहू वा, एवं सन्ननं निवेसप ॥ २७ ॥

सुर्यगडाङ्ग-

मूर्ति-  
दीपिका-  
न्निवर्त् ।

॥ ११२ ॥

व्याख्या—‘नास्ति’ न नियते यथोक्तगुणोपेतः साधुस्तदभावाच्च तत्प्रतिपक्षभृतस्यामावोरयभावः, यतः “ केवल-  
मणोहिचउदस-दसनवपुङ्कीहि संपर्यं रहिए ! सुद्दमसुद्दं चरण, को जाणइ ? कज्जलभावं च ॥ १ ॥ ”  
इत्येवमभृतां संज्ञां नो निवेशयेत् “ कालाडोसवसओ, कहवि दीसंति तारिसा न जह । सन्नवत्य तहवि नविथन्ति,  
नेव कुज्जा अणासासं ॥ २ ॥ कालोचियजयणाए, मचक्कररहियणा उज्जमंताणं । जणजत्तारहियाणं, होह जहत्तं  
जईण सया ॥ ३ ॥ अञ्जाणनिरंतरतिमिर-पूरपूरियमि भवभवणे । को पयडहु ? पयत्थे, जाइ गुरुदीवा न  
दिपंपति ॥ ४ ॥ पलए महागुणाणं, हवति सेवारिहा लहुगुणा वि । अत्थमिए दिणनाहे, अहिलसह जणो  
पहेवं पि ॥ ५ ॥ अहु गुणाणं मज्जें, इफेण गुणेण संघपचकवं । तित्युक्तमं कुणांतो, ऊगपवरो सो इहं नेओ  
॥ ६ ॥ दुपपसहतं चरणं, जं भणियं भगवया इह भित्ते । आणाजुत्ताणं पुण, न होह अहुणाति यामोहो  
॥ ७ ॥ श्रीमगवत्यां—“ केवडयं कालं तु देवाणुषिपयाणं तित्ये अणुसज्जिसह ? गोयमा ! हक्कवीसवास-  
सहस्राहं ममं तित्ये अणुसज्जिसह, तित्यं पुण चाउवणो समणसंघो-समणा समणीओ सावया  
सावियाओ ” इत्यादिभगवदचनप्रामाण्यातीर्थं यावद् साधनः मनित तदिपरीताशासाधोऽपि सन्तीतयेवं संज्ञा  
निवेशयेदिति गायार्थः ॥ २७ ॥

नविथ कल्हाण पावे वा, नेवं सक्षं निवेसए । अतिथ कल्हाण पावे वा, एवं सक्षं निवेसए ॥ २८ ॥

द्वितीये  
श्रुतो  
पञ्चमा-  
द्वयने-  
दुप्रसह-  
नंतं याव-  
चारित्रम् ।

लयाल्या—यथेष्टार्थकलसमप्राप्तिः कलयाणं तत्र विद्यते<sup>x</sup> तथा पां पापचान्वा न कश्चिद्दिव्यते, तदेव मुमयोरप्यभावः;  
इत्येवं रूपां संहाँ नो निवेशयेत्, यतः—कलयाणपापयोर्विना सुखी दुःखी सरोगी निरोगी सुरुपः कुरुपो दुर्भगः सुभगो धनी  
दरिद्रो मूर्खः पण्डितो वेत्यादिको जगद्वैचित्रयमाचोऽहयक्षमिद्वेऽपि न स्यात्समादस्ति कलयाणं पां चेत्येवं संज्ञां निवेशये-  
दिति गाथार्थः ॥ २८ ॥

न चैकान्ततेन[ कलयाणं ] कलयाणमेव, यतः—केवलिनां प्रक्षीणघनवातिकर्मचतुष्टयानां सातासातेदयसङ्काचातथा  
नारकाणामपि पञ्चेन्द्रियत्वचिह्निष्ठानादिसद्भावालैकान्तेन ते पापचन्त इति, तस्मात्कथञ्चित्कलयाणं कथञ्चित्पापमिति  
स्थितं । तदेवं कलयाणपापयोरनेकान्तरूपत्वं प्रसाद्य एकान्तं दृष्यितुकाम आह—

कळ्हाणो पावण् वा विं ववहारो न विजई । जं वेरं तं न जाणांति, समणा बालपंडिया ॥ २९ ॥

नयाल्या—मव्यथा कलयाणचानेवाय मित्रेवभूतो व्यवहारो न विद्यते, एकान्तस्यार्थस्याभावात्,  
अनेकान्तरूपवादस्यैवाश्रयणात्सर्ववस्तुतामनेकान्ताश्रयणोन[ प्राक् ]प्रमाणितत्वात्, एकान्तिको व्यवहारो न विद्यते कुत्रापि वस्तु-  
विषये इति भावः । यः पुरुष एकान्तेन पुण्यचान् दृश्यते साऽऽप्यत्यावस्थायां परिणामपरावताहुर्गती प्रयाति यः पाणी  
सोऽपि परिणामवशात्मुगतिगामी श्यात्, अत एकान्तवचनं न ब्रूयात् । तथा वेरं कर्मविरोधो वा वेरं, तद्येन च परोप-

X “ तदभावे कलयाणचाश्च न कश्चिद्दिव्यते ” इति बुद्धद्वृत्तिः ।

वातादिना एकान्तपश्चसमाश्रयेन वा सवति, तते 'श्रमणा' स्तीर्थि कः: 'बाला' ॥ रागद्वेषकलितः: 'पण्डिता' ॥ अभिमानिनः शुष्कतर्कदण्डिमाता न जानन्ति, परमार्थभूतस्याहिंसालक्षणस्य धर्मस्यानेकान्तपश्चस्य वाइनाश्रयणात् ॥ यदि वा यद्देव तते श्रमणा बाला: पण्डिता न जानन्तीत्येवं वाचं न निसुजेत्, ततेपां कोपेत्पतोः, यज्ञेवम्भूतं वचस्तत्त्वं वाच्यं, यतः—“+ अपपत्तियं जेण सिया, आसु कुण्पेज्ज वा परो । सन्वत्सो तं न भासिज्ञा, भासं अहियगामिणि ॥ १ ॥” हति गाथार्थः ॥ २९ ॥ अपरमादि वाक्संयमधिकत्याह—

॥ ११२ ॥

असेसं अवखयं वा वि, सबदुक्खेति वा पुणो । वज्ज्ञा पाणा न वज्ज्ञान्ति, इति वायं न नीसिरे ॥ ३० ॥ वयाह्या—इह जगति मर्वेऽपि घटपटादयः पदार्था एकान्तेन नित्याः—शाश्वताः, सर्वं जगदकृतं नित्यं एवं न ब्रूयात्, सर्वेषां पदार्थानां प्रतिमयं चाच्यथा यावदर्शनात्, सर्वं शाश्वतकर्मेवमपि न ब्रूयात् । तथा सर्वं जगतुःखात्मकमेवमपि न वदेत्, सुखात्मकस्यापि सम्यग्दर्शनादिमावेन दर्शनात्, यतः—“×तणसंथारनिसज्जोऽचि, सुणिवरो भद्रागमयमोहो । जं पावह भुत्तिसुहं, कतो? तं चक्कवट्टीचि ॥ १ ॥” इत्यादि, तथा वद्याश्वीरपारदारिकादयोऽवृद्धा वा, तत्कर्मातुमतिप्रसङ्गात् \*, इत्येवम्भूतं वाचं स्वानुषानपरायणः साधुः परव्यापारनिरपेक्षो न निसुजेत् । तथाहि—सिहन्यामि

+ अप्रतिकं यथा स्यादाशु कुत्येदा परः । सर्वया तां न मायेत भाषामहितगामिनीम् ॥ १ ॥

× उणसत्तारकनिषणोऽपि मुनिवरो भद्रागमदमोहः । यस्पात्नेति मुक्तिसुख तुतस्तकवर्त्येति ॥ १ ॥

\* वैय्यकथने हिसाविकर्मणामवद्यकथने च वौयादिकर्मणाम् ।

मार्जरादीन् परमत्वद्यापादनपरायणान् दद्या मात्र्यस्थयमवलम्बयेत् । तथाऽमी गच्छद्यो चाशा न वाह्या वा तथाऽमी बुक्ष-  
अद्या अद्या चा इत्यादिकं वचो न वाच्य साधुनेति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अथायमपरो चाक्संयमप्रकारोऽन्तःकरणशुद्धिमाश्रितः प्रदर्शयते—

दीसंति समियाचारा, भिक्खुणो साहुजीविणो । एए मिच्छोवजीविणि, इति दिद्दुं न धारए ॥ ३१ ॥

व्याख्या—जगत्येके दृष्ट्यन्ते ‘समियाचार’ [ चि समिताचारः ] सिद्धान्तोकाचारे प्रवर्तमाना भिक्षो दोपरहिता-  
हारगवेषिणस्तथा साधुजीविणः, आन्ता दान्ता जितेद्या जितकोषा ईर्योषोषका युगमात्रा-  
न्तरदृष्टयः सत्यसन्धा दृष्टवताः परिपूरोदकपायिनो मौनिनः सदा तायिनो विविक्तेकालतइयाना इयासिनोऽकौत्कृत्यास्तानेवभृ-  
तानवधार्यापि ‘मरागा आपि चीतरागा इव चेष्टन्ते’ इति मत्वा एते मिथ्योपजीविन इत्येवं दृष्टि न धारयेत्—नेवमभूतमध्यवसायं  
कुर्यान्नाप्येवमभूतं चाचं तिसुजेत्—यथैते मिथ्योपाचारप्रवृत्ता मायाविन इति, छब्दस्थैन हर्विगदर्शिता एवमध्यवस्था निश्चयमय-  
क चुमशक्यत्वादित्यमिप्रायः, ते च स्वयूथ्या चा मवेयुस्तीश्वन्तरीया चा, तावुभावापि न चक्तव्यौ साधुनेति ॥ ३१ ॥ किञ्च—  
दक्षिणाएृ पाडिलंभो, आतिथ वा नतिथ वा पुणो । न वियागरेज्ज मेहाची, संतिमउगं च त्रूहए ॥ ३२ ॥

व्याख्या—दानं दक्षिणा, तस्या: ‘प्रतिलम्पः’ प्राप्तिः, स दानलामोऽस्माद्दुहस्थादेः सकाशादस्ति नास्ति वेत्येवं  
न व्यागृणीयात् ‘मेघाची’ मर्यादाचावान् स्वयूथ्यस्य तीर्थन्तरीयस्य वा एकान्तेन दानं-दाननिषेधं वा न कुर्यात्, तथाहि—

द्वितीये  
तदाननिषेदेऽन्तरायमःगच्छः, तदानातुमताचव्यधिकरणोद्भवः;  
इत्यत्रोऽस्मिन् दानं न वैयेकान्तेन न त्रूयत् । कथं तदेह  
ब्रूयात् ? इति दर्शयति—‘ शान्तिमोक्षश्च[ सत्य ]मार्गस्तं , उपग्रहयेत् , बद्धयेत् , यथा मोक्षमार्गमिहुद्धिभवति तथा वदे  
भृत० पञ्चमा-

द्वितीये  
द्वितीये  
द्वितीये  
द्वितीये

सर्वं  
दीपिका-  
निवत्सु ।  
॥ २१३ ॥

तदाननिषेदेऽन्तरायमःगच्छः, तदानातुमताचव्यधिकरणोद्भवः;  
इत्यत्रोऽस्मिन् दानं न वैयेकान्तेन न त्रूयत् । कथं तदेह  
ब्रूयात् ? इति दर्शयति—‘ शान्तिमोक्षश्च[ सत्य ]मार्गस्तं , उपग्रहयेत् , बद्धयेत् , यथा मोक्षमार्गमिहुद्धिभवति तथा वदे  
द्वितीये । एतावता यथा सावधं साच्चया न वदेदिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

इच्छेपद्वेहि ठाणेहि, जिणादिद्टोहि संजाए । धारयन्ते उ अटपाणों, आमोकखाए परिवाएजासि त्तिवेमि ॥ ३३ ॥

बीयसुयरबंधसस अणायारनामं पञ्चमउद्ययणं समन्तं ॥ ५ ॥

व्याख्या—इत्येतरेकान्तनिषेदद्वारेणानिकान्तविधायिभिः स्थानैवकृसंयमप्रधानैः समस्ताहययनोक्तेः रागदेवपरहितैर्जिन-  
ः इट्रपलब्धेन स्वमतिविकल्पोत्थापितेः ‘संयतः’ संयमनानात्मान धारयन्, एभिः स्यानिरात्मानं वर्तयन् आमोक्षाय[अ]शेष-  
कमंशयार्थं ‘परि’ समन्तात्संयमानुषाने ‘वजेः’ गच्छेत्तन्यमिति विनेयस्योपदेशः । इति: परिमालार्थ्ये, वरीमीति पूर्वचर्तु ।

इति श्रीपरमसुविदितवरतरगच्छुविभूषणपाठकप्रस्त्रारथीमत्माधुरकृष्णिग्रसन्दहृष्याया श्रीमूर्त्रठतार-  
दीपिकायां समाप्तमनाचारश्रुताख्यं पञ्चमद्ययनमिति ॥ ५ ॥

अथ षष्ठमार्दिकायमध्ययनतम् ।

—→ ◎—

उक्त पञ्चममध्ययनं, साम्रते पुष्टमारम्यते इदमार्दिककुमाराड्ययनम् ।  
अत्र आर्दिककुमारोत्पत्तिः प्राग्भवस्वरूपप्रतिमादच्छन्नोपत्पन्नजातिस्मरणादिकं सर्वं शुहद्वीकातोऽन्वसेयं, अत्र हु सूत्रार्थ एव  
प्रत्यन्यते, तथाहि—

पुरे कडं अह ! इमं सुणोह, एगंतचारी समणे पुरासी ।  
से मिक्रघुणो उचणेता अणेणे, आइकरवतिर्णिह पुढो वित्थरेणं ॥ १ ॥

ब्याख्या—यथा गोशालकेन समं वादोऽभृदार्दिककुमारस्य तथाऽनेनाड्ययनेनोपदिव्यते, तं च राजपुत्रमार्दिककुमारं  
प्रत्येकचुदं भगवत्समीपमागच्छन्तं गोशालकोऽवचीद्, यथा—सो आर्दिक ! यदहं ब्रजीमि तच्छृणु, पुरा, पूर्वं पदनेन  
भवतीर्थकृता कृतं तच्चेदमिति दर्शयति—पुरा एकान्तप्रदेशचारी—श्रमणः पुराऽसीतपश्चरणोद्युक्तः; साम्रतं तृष्णेस्तपश्चरणे-  
र्मणो मां विहाय देवादिमध्यगतोऽसौ घम्रं कथयति । बहून् मिश्रतुपनीय-प्रभूतश्चिद्यपरिचारं कृत्वा मन्त्रद्विष्णानां सुख-  
जनानामिदानीं घर्ममाचेऽप्यकृ पुथक् विस्तरेणोति गाथार्थः ॥ २ ॥

धर्मगडाङ्क-

सं

दीपिका-  
निवर्तम् ।

॥ ११४ ॥

साऽऽजीविया पहुचिताऽथिरेणं, सभागओ गणओ भिक्खुमज्ज्वे ।

आइकरखमाणो बहुजनमत्थं, न संधयाती अवरेण सुवं ॥ २ ॥

नयाख्या—येयं बहुजनमद्यगतेन पृष्ठमुद्रणा घर्मदेशना प्रारब्धा मा आजीविका प्रस्थापिता, एकाकी विहरन् पामरे-  
परिभूयत हति मत्वा महान् परिकरः कृतः, तदनेन दम्प्रप्रधानेन आजीविकार्थमिदमारब्धं अस्थिरेण, पूर्वमयं मया साद्दु-  
मेकाक्षयन्तप्राच्छानेन शूलयारामदेवकुलादी युक्ति कलिपत्याद, न च तथाभूतमउत्तुनं सिकताक्वलविनिरास्तादं यावज्जीवं  
कर्तुमलं, अतो मां विदाय बहुन् शिख्यान् प्रताय एवम्भूतेन सफटाटोपेन विहरतीत्यतो अनविस्थितचितः, पूर्वचर्यापरित्या-  
गेनापराचारमाश्रयणात् । ‘गणओ’ चहुशो भिक्षुणां मध्यगतो ( बहुजन्य-  
मर्थ— ) बहुजनहितमर्थं कथयन् विहरति, पृतचास्यउत्तुनं [ पूर्वापर न मन्दघाति- ] पूर्वपरिवर्द्धं, यदि साम्प्रतीयं वृत्तं  
प्राकारात्रयसिद्धामनाशोकवृक्षमापण्डलछत्रचामरादिकं मोक्षाद्दम्प्रविष्यततो या प्राकता चर्या कुंभकुलाइन रुता सा  
क्षेत्राय केवलं, अथ निर्जराहेतुका परमार्थभूता ततः माम्प्रताचरस्था परप्रतारकृत्वाइम्प्रकल्पा, ततः पूर्वोत्तरयोरुद्धानयोमानवत-  
घमदेशनयोः परस्परतो विरोध इति गायार्थः ॥ २ ॥ अपि च—

एवंतसेवं अदुचावि इर्पिह, दोवपणमत्रं न समेति जम्हा ।  
पुर्वि च इर्पिह च अणागयं च, एवंतसेवं पाडिसंध्याति ॥ ३ ॥

द्वितीय

श्रुत०

पष्टा-

धयने-  
गोशाल  
केनसह-  
विवाद  
आर्दक-  
मुतेः ।

॥ ११४ ॥

विद्यारुद्धया—यद्येकान्तत्वारित्वमेव शोभनं, पूर्वमान्त्रित्वात्ततः; मर्वदाऽन्यनिरपेक्षेस्तदेव कर्तव्यं, अथ चेदं महापरिवार-  
 द्वां साधुतया मन्यसे ततस्तदेवादावाचारणीयमासीत्, अपि च ह्ये अप्येते ज्ञायाऽतपवदत्यन्तविरोधिनी वृत्ते नैकत्र  
 समवाय गच्छतः । तथा यदि मौनेन धर्मस्ततः किमियं महता प्रबन्धेन धर्मदेशना ? अथानयैव धर्मस्ततः किमिति पूर्व-  
 मौनवत्वमनेनाऽलम्बे ? । तदेवं गोशालक्ष्मेनोक्ते सत्यार्थिकः लोकपश्चाद्द्वैतोत्तरदानायाह—‘ पुठिन्व चे ’त्यादि, ‘ पूर्व-  
 स्मिन् काले यन्मौनवत्वात्कर्तव्यं या चैकचर्या तच्छब्दस्थित्वाद् व्यातिकर्मचतुष्यक्षयार्थं, साम्प्रत यद्यमेदेशनादीनां दान ततीर्थ-  
 करनामनो वेदनार्थं “ + तं च कहं वैइज्ज्ञाह ? अग्निलाए धर्ममदेसपणाहृत्वं ” इति वचतात्, अपरामां चोक्षेगोत्र-  
 शुभायुनीमादीना शुभप्रकृतीनां वेदनार्थमिति, यदिवा पूर्वं साम्प्रतं चानागते काले[ च ]रागद्वयरहितत्वाद्वैदिकत्वभावनाऽनन्ति-  
 क्रमणाचैकल्त्वमेवाशेषपञ्चनाहितं धर्मं कथयन् सन्दधाति, न तस्य पूर्वोत्तरयोरस्तथ्योरांश्चारहितत्वाद्वैदिकत्वे । यदुच्यते—  
 पूर्वोत्तरयोरस्तथ्यंयोमेदस्तत्वं किञ्चित् ॥ ३ ॥ अथ धर्मदेशनया श्रीतृणां कश्चिदुपकारोऽपि स्यादत आह—

सामिच्च लोक्यं तस्यावराणं, खेमंकरे समणे माहणे वा ।

आइच्छवमाणो वि सहस्रसमज्ज्ये, एगांतयं सारथृं तहृचे ॥ ४ ॥

विद्यारुद्धया—‘ समेत्य ’ ज्ञात्वा लोकं त्रसस्थावराणां जन्तुनां ‘ क्षेमं ’ शान्तिः—रक्षा, तत्करणशीलः क्षेमङ्गः श्रमणो  
 + तत्त्व कथ वेद्यते ॥ अग्नान्या धर्मदेशनादिभिः ।

माहनो वा, स एवभूतो निर्ममो रागदेपरहितः प्राणिहितार्थं, न लाभपूजारुपात्यर्थं, धर्ममाचक्षणोऽपि प्रापयकल्पशास्त्र-  
स्थायां मौनचतिक इवोपचादिव्यज्ञानोऽपि देवासुरनरतियंकमहस्तमध्येऽपि व्यवस्थितः पक्षाधारपक्षजवत्सदोपव्याप्तिज्ञा-  
(संयोगा) भावान्ममत्परविरहादाशंसादोपविकल्पादेकान्तमेव [ सारायति— ] साधयति । अस्य भगवतः पूर्वविस्थासामप्रति-  
कालीनावस्थयोनीस्त्वतरं, रागदेपाभावात् । तथा प्रापद्वचार्ण-लेश्या शुक्लोपानाहया यस्य, अष्टमहाप्राप्तिहार्यः पूज्य-  
मानोऽपि नोब्बेन्नोत्से ] कं-गर्वं विदधाति, जितरागदेपत्वात् । तथा चोक्तं—“रागदेशो विनिर्जित्य, किमरपये  
करिष्यसि ? । अथ नो निर्जितावेतो, किमरपये करिष्यसि ? ॥ ३ ॥” तथा वाख्यमन्त्रमान्तरं कपायजयादिकं  
प्रधानं कारणमिति गायार्थः ॥ ४ ॥

अथ भगवाननेकलोकैः परिष्वतोऽपि रागदेषाभावादेकान्तचार्येवासौ मन्तव्यः, निरीहः भन्तु धर्मं कथयन्तपि न दोष-  
भागिति दर्शयति—

धर्मं कहंतस्तु उ नहिथ दोसो, खंतस्तन दंतस्तस जिङ्दियस्स ।  
भासाइ दोसे य विचज्जगस्स, युणे य भासाइ निसेचगस्स ॥ ५ ॥

वायारुप्या—तस्य भगवतोऽपगतघनधातिकलङ्कस्योत्पन्नकलपदाथर्थनिर्विज्ञानस्य जगदभ्युदरणप्रकृतस्यैकान्तव्यपर-  
हितकारिणः स्वकार्यनिरपेक्षस्य धान्तव्यस्य जितेन्द्रियस्य भाषादेपविचर्जकस्य कर्कशासभ्यवचोवर्जकस्य तथा ॥ ११५ ॥

द्वितीये  
श्रुतं पृष्ठा-  
द्ययने-  
आदिकों  
गोशालको-  
चरम् ।

भाषणा ये गुणा हितमितदेशकालासन्दिग्धभाषणादयस्तनिषेचकस्य मतो धर्मं कथयतोऽपि नास्ति दोषः, उच्चस्थय हि [ बाहुल्येन ] मौनमेव श्रेयः स पुत्पन्नकेवलस्य हि भाषणमपि गुणायेति गाथार्थः ॥ ५ ॥

किंभूतं धर्ममसौ कथयतीत्याह—

सहवाए पञ्च अणुवाए य, तहेव पंचासव संवरे य ।

विवरद्वं इहससामणियंमि पञ्चे, लवाचसक्तो समणे निबोमि ॥ ६ ॥

इयाख्या—पञ्चमहाव्रतानि तथा पञ्चैवाणुव्रतानि आवकातुद्विद्यु प्रज्ञापितवान्, तथा पञ्चाश्रवसंवरं च तथा सप्तदश-  
प्रकारं संयमं च प्रतिपादितवान्, संयमवतो हि विरतिभवत्यतो विरति च प्रतिपादितवान्, च शब्दातत्फलभूतो निर्जरा-  
मोक्षो च कठिथतवान् । कथमभूतः ? श्रामण्ये प्राप्तः प्राज्ञो वा एतत्प्रतिपादितवान्, कथमभूतो ? ‘लवाचसक्ती’, लवं-  
कम्, तस्मादयसपर्वति, एवंविषः श्रमणस्तपस्वी, स्वयमेव हि भगवान् पञ्चमहाव्रतोपपत्न इन्द्रियोन्निद्रयशुभो विरतो  
लवाच[व्युत्की]मर्पी सन्, ततोऽन्येषामपि तथाभूतमुपदेशं दत्तवान् । तत आर्द्धकुमारवचनमाकर्ण्य गोशालकस्तत्प्रतिपक्ष-  
भूतमण्य वर्तुकाम इदमाह—इत्येतददृश्यमाण यदहं ब्रवीमि तत्कृष्ण त्वमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ अथाह गोशालकः—

सीओदणं सेवउ वीयकायं, अहायकमं तह इतिथयाओ ।

एगंतचारिसिसह अमह धर्ममे, तत्वस्तिप्पाणी पामिसमेति पावं ॥ ७ ॥

द्वितीये

श्रुत० पष्टा-  
व्ययने-  
गहीभाव-  
कशने ।

इमं वर्णं तु तुमं पाउकुवं, पाचाइणो गरिहसि सब एव ।

पाचाइणो पुढो किट्टयंता, सर्यं सर्यं दिट्टि करिंति पाउ ॥ ११ ॥

अहो आर्द्धकुमार ! ‘हमाँ’ पूर्वोक्तां वाचं ‘प्रादुङ्कुर्वत्’ प्रकाशयन् सर्वान् प्राचादुकान् गर्हसि, व्याख्या—यस्मात्सर्वेऽपि तीर्थिका बीजोदकादिभोजिनोऽपि संसारोच्छेदनाय प्रवत्तन्ते, ते तु प्राचादुकाः पृथक् पृथक् स्वीयां स्वीयां दृष्टि प्रत्येकं स्वदद्यन्ते कीर्तयन्तः ‘प्रादुङ्कुर्वन्ति’ प्रकाशयन्ति, यदिवा श्लोकपञ्चाद्वादृक्कुमार आह—सर्वेऽपि प्राचादुकाः यथाचारिष्यत स्वदद्यन्ते प्रादुङ्कुर्वन्ति, तत्प्रामाण्याच वयमपि स्वदद्यन्ताचिभावनं कुर्मः, तथाहि—अप्रासुकेन बीजोदकादिभोजेन कर्मवन्ध एव केवलं, न संपारोच्छेदः, इतीदसस्मरीयं दर्शनं, एवं च व्यवस्थिते काऽन्तपरनिन्दा ? को चाऽन्तमोक्तपूर्वं ? इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ किञ्च—

ते अत्र मन्त्रस्स तु गरहमाणा, अवखंति भ्यो समणा माहणा य ।

सतो य अतथी असतो य ऊरथी, गरहामो दिट्टि॒ ण गरहामो॑ किंचि॒ ॥ १३ ॥ व्याख्या—‘ते’ प्राचादुकाः ‘अन्योऽन्यस्य’ परस्परेण तु स्वदद्यन्तस्यापतेन परदर्शनं गर्हमाणाः गदगतगुणान् कथयन्ति, ते श्रमणा ब्राह्मणाः स्वप्लमेन समर्थयन्ति परकीय च दृष्यन्ति । तदव॑ पञ्चाद्वेन दर्शयति—सत्रकीये पक्षे स्थायमानेऽस्ति पृथक्य तत्काये च स्वर्गापवर्गादिकमस्ति, ‘अस्तते’ पराम्पुरगमाच नास्ति पुण्यादिकमित्येवं मर्वेऽपि तीर्थिकाः ॥ १४ ॥

श्रयगडाङ्ग-

सत्रं

दीपिका-  
निवत्सु ।

परस्परम् यावातेन प्रवृत्ताः; अतो वयमपि यथावस्थितत्वं प्रहृष्णतो युक्तिविकल्पादेकान्तवृद्धिं गहीमो, नापरं किमपि गहीमः;  
सत्ये उक्ते न काऽपि गही<sup>X</sup>, एकान्तवादं निराकुर्मः, न परचादिनो, रागदेविरहात् कमपि गहीम इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

एतदेव स्पष्टतरमाह—

न किञ्चि रुद्रेणाऽभिघारयामो, सदिद्विसर्वं तु करेमो पाउं ।

मग्ने इमे किदिए आरिष्टाहि, अणुतरे सप्तपुरिसेहि अंजू ॥ १३ ॥

व्याख्या—मो गोशालक ! वयं न कञ्जन श्रमणं ब्राह्मणं वा ‘रुपेण’ उप्रतिपत्ताङ्गोपाङ्गो इष्टदृतेन जात्यादिमस्प्र-  
काशनेन[वा] गहीमः, केवलं स्वहृष्टिमार्गं प्रादुडकुर्मः—स्वदर्शनं प्रकाशयामः, अथवाऽन्यदर्शनप्रहृष्णतं मार्गं दर्शयामः, यथा—  
“ ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृश्या सहकृ उयालुसशिश्वा हरः, सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्युल्लिखिलभृक् सोमः  
कलङ्काङ्कितः । स्वनर्थोऽपि विसंस्थूलः चलु चपुःसंस्थैरपर्यः कृतः, सन्मार्जसखलनाङ्कवनित विपदः प्रायः  
प्रभृणामपि ॥ १ ॥ ” इत्यादि, एतच्च तैरेव स्वागमे पल्यते, वयं तु श्रीतारः, परं न कस्याण्यपवादं कुर्मः । अयमस्मद्दीयो  
मार्गः ‘ अनुत्तरः ’ प्रधानः ‘ आर्थ्यैः ’ सर्वज्ञैः [ कीर्तिः ] प्ररूपितः अत एव ‘ अंजू ’ इति व्यक्तो, निर्दोषत्वात्प्रकटः

X “ नेत्रैनिरीक्ष्य विलक्षणकीटमर्पाच्, समययथा वजत तान्परिहत्य सर्वाच् ।  
कुज्जानकुशुतिकुमार्गकुट्टिदोषान्, समयग् विचारयत कोऽत्र परापत्रादः ? ॥ १ ॥ ” इति हर्ष०

[ क्रुजुरी- ] अकुटिलः इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ पुनरापि स्वधम्भूप्रलपणायाह—

उद्दुं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।

भूयाहिसंकाह उगुंठमाणा, णो गरहती बुसिमं किंचि लोए ॥ १४ ॥

वायाख्या—ऊद्धीथस्तिर्यग्निदिश्य ये त्रयाः स्थावराश्च ये ग्राणिनस्तेषा पालकः ‘भूताभिशङ्क्या, प्राणुपमदशङ्क्या सर्वं सावधमतुष्टानं ऊगुपमानो नैगापरं लोकं कञ्चन ‘गहते’ निन्दति, कः ? ‘बुसिमं’ ति संयमचानिति, तदेवं रागदेवपराहितस्य बस्तुस्वरूपादिमाचते न काऽपि गहा भवति, तत्रापि येहर्वा स्थाचहि उणोऽर्दिनः शीतमुदकं विष्य मारणात्मकमित्येवमादि न किञ्चिदस्तुस्वरूपमाविभावनीयमिति गाथार्थः ॥ १४ ॥

स एव गोशालकमतानुसारी ब्रैराशिको निराकृतोऽपि पुनरन्येन प्रकारेणाह—

आगंतुगारे आराम्भङ्गारे, समणे उभीते ण उत्वेति वासं ।

दक्खर्वा हु संती बहवे मणूसा, ऊणातिरिता य लचालवा य ॥ १५ ॥

वायाख्या—भो आर्द्धकुमार ! भवत्सम्बन्धी योऽसी तीर्थकर स रागदेवप्रयुक्तः, तथाहि—असी भवतीर्थकरः आगन्तागारं-कार्पटिकादीनां स्थानं घर्मशालाऽऽदिकं, आरामागारं उद्यानादिकं, त्रासो न चस्ति—न तत्र विष्टुति भयेन । किं तत्र भयकारणं ? तत्र सागरनुकाः बहवो ‘दक्षा’ प्रभृतश्चात्मिश्चारदाः मुतुयास्तिरुच्छिन्ति, तद्वीती न तत्र चासं कुरुते ।

यतस्ते स्वतोऽवमाः-हीना जात्या[दि]भिस्ते: पराजितस्य महांशुलाङ्गदिषु वासं विधते ।  
कथम्भृतास्ते पण्डिराः ? लप्तीति 'लपा:' चाचालाः दोषितानेकतर्कविचित्रदण्डकाः, तथा-न[? अ] लपा-मौनवतिका  
निष्ठितयोगाः गुटिकादियुक्ता चा, यदशात्परवादिनामभिधेयविषया वागेत न प्रवर्तते, ततस्तुक्षयेत् युहमस्तीर्थकर आगन्ता-  
गारादौ न ब्रजतीति गाथार्थः ॥ १५ ॥ पुनरपि गोशालक एवाह—

मेहाविणो सिक्किखियबुद्धिमत्ता, सुन्तेहि अत्थेहि य निच्छुयज्ञा ।

पुच्छसु मा नो+ अणगार अन्त्रे, इति संकमाणो न उवेति तत्थ ॥ १६ ॥

व्याख्या—सो आद्वक्षुमार ! भवत्सम्बन्धी तीर्थकृत् एवं जानाति-यद्यहं धर्मशालादिषु स्थास्यामि तदा तत्र वहवी  
विश्वारदा मेघाविनो-ग्रहणधारणामयर्थः; आचायर्थिः समीपे गृहीतशिक्षाः; तथैत्यत्प्रथादिवर्त्तिवृद्धयुपेताः, तथा शूत्रार्थ-  
विषये विनिश्चयज्ञाः—यथावस्थितसुत्रार्थवेदिनस्ते चैवम्भूताः सुत्रार्थविषयं मा प्रस्तं कार्पुरितयेवं शङ्कमान-स्तेभ्यो विभ्यन्  
धर्मशालादिषु न तिष्ठति । अहं तेः पृष्ठः सन्तुतर दातुमयमर्थस्ततो मम लायात्रांशो भविष्यता मिया न तेषु मध्ये  
आयाति, तेभ्यो दूरत एव तिष्ठति, अत एवासी न क्रज्जुमार्गः, भययुक्तत्वात्तस्य, तथा मलेच्छुविषयं गत्वा न कदाचिद्दर्म-  
देशनां चकार, आर्यदेशेऽपि न सर्वज्ञापि[ ? अपितु ]कुत्रिचित्, अतो विषमद्वित्वादागद्वेष्वर्थसी हृति ॥ १६ ॥

+

‘ ऐ ’ इति पादपूर्वच्छब्दयम् ।

[ एतद् ] गोशालकमतं परिहत्तुकाम आर्दक आह—

पोऽकामाकिच्चा ण य वालकिच्चा, रायाभिओगेण कुओ भएण ।

वियागरेज्ञा पसिणं नवाचि, स कामाकिच्चेणि ह आरियाणं ॥ १७ ॥

व्याख्या—मो गोलालक ! म हि भगवान् ग्रेक्षापूर्वकारितया नाकामकृत्यो भवति, एताचता अनिच्छाकारी न भवति ।  
 [ कथं ] व्यपरयोनिरुपकारकमेनं क्ल्यात् ? तथा न चासौ बालकृत्यः—बालवदनालोचितकारी न पराइनुरोधान्नापि गोरचा-  
 द्धमेदेशनादिकं विथते, अपितु यदि कस्यचिद्द्रव्यमस्योपकाराय तक्षापितं भवति तेन प्रवृत्तिभवति, नान्यथा, तथा  
 न राजाभियोगेनासौ धर्मदेशनादौ कथञ्चित्प्रवर्तते, ततः कुतस्तस्य भवेन प्रवृत्तिः ? स्यादित्येवं व्यवस्थिते केनचित्  
 कचित्संशयकृत प्रश्न व्याख्यात्तीयाद् यदि तस्योपकारी भवति, उपकारमन्तरेण न व्याख्यातीयाद्, यदिवा अनुत्तरसुराणां  
 मनःपर्यवज्ञानिनां च द्रव्यमनसैव तजिण्यममनादतो न व्याख्यायादित्युपते, यद्भवता कल्यपते—कीतरागोऽसौ किमिति  
 ब्रह्मकथां करोतीति ? वेदित्याशृष्ट्याह—‘स्यकामकृत्याचारिकारित्यापाचाचिपि तीर्थक्षापकर्मणः क्षपणाय,  
 न यथाकथञ्चिद्, अतोऽमावश्लानं ‘इह’ अस्मिन् समारे आर्योऽस्मै चोपकारयोऽये आर्यणापुकाराय धर्मदेशनं

द्वितीये  
श्रुत०  
पष्टा-  
व्ययने-

यथोपकारं  
तीर्थ-  
कृद्धम-  
देशना ।

गंता व तत्था अदुवा अंगंता, वियागरेज्जा समियासुपन्ने ।

अणारिया दंसणओ परिता, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥ १८ ॥

व्याख्या—स हि मणवान् परहिते करते गत्वाऽपि चिनेयासनं, अथवाऽप्यगत्वा यथा यथा मन्यसचोपकारो भवति तथा तशाऽहन्तो धर्मदेशनां विद्वति । उपकारे मति गत्वाऽपि कथयन्ति, अमति तु स्थिता अपि न कथयन्त्यतो न तेषां रागदेषसम्बन्ध इति । केवलमाशुप्रज्ञः समरया चक्रवाचिद्रमकादिषु [पृष्ठोऽप्येत्] वा धर्मं व्यापृणीयात् । “जहा पुण्यस्स कत्थइ, तहा तुच्छत्स कत्थइ” इति वचनान् रागदेषवान्, यत्पुनरनार्यदेशमसौ न ब्रजति त्रेदमाह—अनार्यः दर्शनतोऽपि ‘परि’ समन्ता ‘दिता’ गताः—प्रअष्टा इति याचत्, तदेवमसौ भगवान् [तेषु] सम्यग्दर्शनमात्रमपि न भवतीत्याकुमानसतत्र न ब्रजतीति । यदिवा विपरीतदर्शनाः—साम्रातेक्षिणो ह्यनायर्यस्ते हि वर्तमानसुखमेवेकमङ्गीकृत्य प्रवचन्ते, न पारलोकिकमङ्गीकृत्यतः भद्रमपराङ्मुखेषु तेषु भगवान् याति, न पुनस्तद्देषादिबुद्ध्येति । यदुच्यते त्वया—यथाऽनेकशास्त्रविशारदगुटिकादिसिद्धविद्यासिद्धादितीर्थिकपरामवभयेन न तत्समाजे गच्छतीत्येतदपि बालप्रलिपितप्रायं, यतः—सर्वज्ञयभगवतः समर्थैः प्राचादुक्मुखमप्यवलोकयितुं न शक्यते, वादस्तु दूरोत्पादित एवेत्यतः कुतस्तत्परामनः? सगवास्तु केवलालोकेन यत्रैव स्वपरोपकारं पक्षयति त्रैव गत्वापि धर्मदेशनां विवेते इति गाथार्थः ॥ १८ ॥

पुनरन्येन प्रकारेण गोशालक आह—

पन्नं जहा चाणिए उदयट्टी, आयस्स हेउं पगरेति संगं ।  
तओचमे समणो नायपुत्रे, इच्छे न मे होति मती चियक्का ॥ १९ ॥

इयाह्या—भो आर्द्धमार ! यथा कश्चिद्दणिक् ‘उदयार्थी’ लाभार्थी ‘पण्य’ व्यवहारयोऽयं भाण्डं कर्पुरागुरु-  
कस्तृतिकाऽप्यवादिकं गत्वा देशान्तरं विकीरणाति, तथा ‘आयस्य’ लाभस्य ‘हेतोः’ कारणान्महाजनमङ्गं विष्वतो, तदु-  
पमोऽयमपि भवतीर्थकरः ‘श्रमणो’ ज्ञातपुत्रः इत्येवं मे मतिर्भवति वितको-मीमांसा वेति गाथार्थः ॥ १९ ॥

एवमुक्ते गोशालकेन आर्द्धक आह—

पांचं ण कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमईं ताहै[इ]य इ(?)साह एवं ।

प(त्वा)क्ता [एतो]वया बंभवतित्ति त्रुता, तस्सोदयट्टी समणे चिक्केमि ॥ २० ॥

इयाह्या—भो गोशालक ! योऽयं बणिगदष्टान्तो दर्शितः, स कि सर्वतो देशतो वा सदक्षः ? यदि देशरस्ततो न नः  
( अस्माकं ) क्षतिमाचहति, यतो बणिगपत्रैव लाभं पश्यति तत्रैव क्रियां व्यापारयति, न यथाकथञ्चिदिति, एतावता  
साधमर्यमस्तयेव । अथ सर्वसाधमयेण, तत्र शुद्धयते, यतो भगवान् विदितवेद्यतया सावधानुष्ठानरहितो नवं कर्म न कुरुयति,  
तथा विष्वनय-त्यपनयति पुरातनं यद्गतोपप्राहिकर्म चर्द्द, तथा त्यक्त्वा ‘अमति’ चिमति ‘त्रायी’ मगचान् ‘तायी वा’  
मोक्षं प्रति गमनशीलो भवतीति, एतावता च सन्दर्भेण ‘ब्रह्मणो’ सोक्षस्य व्रतं ब्रह्मवत्रभित्येतदुक्तं, तस्मिंश्चोक्ते तदर्थं च ॥ १२० ॥

अनुष्ठाने क्रियमाणे तस्योदयस्यार्थी—लाभार्थी अमण इति ब्राह्महासिति ॥ २० ॥

न चैवभूता वणिज इति पुनराद्कुमारो दर्शयितुमाह—

समारभंते वाणिया भूयगामं परिग्रहं चेव समायमाणा ।

ते णातिसंजोगमविष्पहाय, आयस्स हेउं पकरेति संगं ॥ २१ ॥

व्याख्या—ते हि वणिजश्चतुर्दशप्रकारमपि भूतप्रामं समारमन्ते, तदुपमर्हका: क्रिया: प्रवर्त्यनिति क्रयविक्रयार्थं शकट वाहनोऽप्तसुडलिका( आना )दिभिरत्तुष्टानैरिति, तथा परिग्रहं द्विषदचतुर्घटदादिकं ममीकुर्वन्ति, ते हि वणिजो ज्ञातिभिः सद संयोगं ‘ अविप्रहाय ’ अपरित्यज्य ‘ आयस्य ’ लामस्य हेतोरपरेण साद्दें, सङ्कं , सम्बन्धं कुर्वन्ति । भगवास्तु—पङ्कजीच-रक्षापरोऽपरिग्रहस्तयक्तस्वजनपक्षः सर्वत्राप्रतिवद्वौ धर्मार्थायपद्व गत्वाइपि धर्ममदेशनां विषवै, अतो भगवतो वणियः साद्दें न सर्वसाधार्यमस्तीति गाथार्थः ॥ २१ ॥ पुनरपि वणिजां दोपमुद्गावयन्नाह—

वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणाडा वाणिया वयांति ।

वयं तु कामोहि अज्ञानोववद्वा, अणारिया पेमरसेसु गिद्वा ॥ २२ ॥

व्याख्या—वणिजो वित्तेपिण्ठतथा ‘ मैशुने ’ त्वीसम्पक्षे ‘ सम्प्रगाढा ’ अघुपपवास्तथा ते मोजनार्थ—माहारार्थं वणिज इतश्चेतत्त्वं वजातित वदन्ति वा, गौस्तु वणिजो वयमेवं ब्रूमो—यथैते कामेवधुपपक्षाः—गृद्धाः, अनार्या रसेतु च साता-

गौरवादिषु 'गुदा' मूर्डिङ्गाः, न त्वेवम्भूता मगवन्तोऽहन्तः; कथं तेषां तैः सह साधमर्यमिति दूरत एव निरस्तुपा कथेति  
गाथार्थः ॥ २२ ॥ किञ्च—

आरंभं चेव परिगाहं च, अविउस्तिया गिरिस्तय आयंदला ।

तेस्मि च से उदए जं वयासी, चउरंतणांताय दुहाय णोह ॥ २३ ॥

व्याख्या—आरम्भं परिग्रहं च ‘अन्युत्सुइय’ अपरित्यज्य तिस्मेने गारम्भे परिग्रहे च निश्चेन ‘सुता’ चद्वा—  
निचुता वणिजो भवन्ति । तथा आत्मदण्डा असदा चाप्रवृत्तेरिति, भावोऽपि च तेषां वणिजां परिग्रहारम्भवतां स ‘उदयो’  
लाभो यदर्थं ते प्रवृत्ताः यं च तन्म लाभं चदसि, स तेषां ‘चतुरन्ता’ चउर्गतिमो यः संपारोऽनन्तस्तस्मै-तदर्थं भवतीति,  
[तथा] दुःखाय च मनति । अतस्त्रवामहतां वणिजां साम्यं पा कुर्वन्ति गाथार्थः ॥ २३ ॥ एतदेव दर्शयितुमाह—  
णोगंतिएऽणच्छन्तिय उदए से, वयन्ति ते दो निगुणोदयंमि ।

से उदए सातिमणांतपचे, तमुदयं साहय्यइ ताइ पाई ॥ २४ ॥

व्याख्या—अहो गोशालक ! स वणिजां लाभो नैकान्तिकः, लाभार्थं बावतामलामोऽपि स्यात्, स ह लाभ  
आत्मनिकोऽपि न-अवश्य सर्वकालमान्यपि न, कदाचित्स्यापि कदाचिक्लेति व्यापारविदो वदन्ति । तौ च द्रावपि भावो  
निगरणणोदयो, किमुकं भवति ? किं तेनोदयेन-लाभेन ? यो नैकान्तिको नात्यनितकश्च अनशीय च प्रत्युत द्यात् । तथा

भगवतः सर्वज्ञस्य यो लाभः स केचलज्जानप्राप्तिस्तुष्णो निर्जरारूप एव, म तु साधनन्तो लाभ इति, एवंविश्वलाभसहितो  
भगवान् अन्येषामपि ताद्विवधमेव लाभं ददाति । कथम्भूतो भगवान् ? ज्ञायी, आसन्नसिद्धिगमनानां ब्राह्मकरणात्  
तथा 'ज्ञाती', ज्ञातशत्रियांस्तोऽनुवः अथवा 'ज्ञाती', विदितसमस्तवेद्य इत्यर्थः । तदेवम्भूतेन भगवता तेषां वणिजां  
निर्विवेकिनां कथं सर्वसाधमर्य ? कथं वा तैः सह भगवतः उपमानं दीयत ? इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

साम्प्रतं देवकुरुतसमवसरणपञ्चावलीदेवन्वचन्दकसिंहासनादिकोपमोगं कुर्वन्नयाचाकर्मकुरुतवक्षायुधवक्षं तदतु-  
मतिकृतेन कर्मणाऽसौ न लिङ्घत इत्येतद्दोशालकमतमाशङ्कयाह आद्यकुमारः—

आहिंसयं सबपयाणुकंपी, धर्ममे ठितं कर्ममविवेगहेतुं ।

तमायदंडेत्वा ह समायरंता, अबोहीए ते पाडिलुहवमेयं ॥ २५ ॥

नयाख्या—मो गोशालक ! असौ भगवान् समवसरणायुधमोगं कुर्वन्नपर्हिःसन्तुष्टमोगं करोति, एतदुकं भवति—न हि  
तत्र भगतो मनागत्याशंसा प्रतिचन्द्र्यो वा विद्यते, समर्तगमणिलोऽनुकावनतया तदुपमोगप्रवृत्तेद्वाः प्रवचनप्रभावनाहेतोः  
समयक्तव्यनिमस्त्विकरणार्थमहङ्किभाविताः सन्तः प्रवर्तते, अतोऽसौ भगवान्हिमकः, तथा सर्वप्रजाऽनुकम्पकः । एवम्भूते  
भगवन्तं धर्ममे व्यवस्थितं कर्मविवेकहेतुभूतं भगवद्विद्वा आत्मदण्डैः समाचरन्त आत्मकर्त्तव्यं कुर्वन्ति वणिगादिभिरुदाहरण-  
रेतचाचोचे—रविज्ञानस्य प्रतिरूपं वर्तते । एकं ताचदिदमज्ञानं—यत्सन्तः कुमारंप्रवचनं द्विग्रीयं च यद्गवतामपि जग-

खण्डाङ्ग-

सूत्रं  
दीपिका-  
निवतम् ।

॥ १२२ ॥

दूर्द्यानां सर्वोत्तिशयनिधानभृतानामितरैः समत्वापादनमिति गाथार्थः ॥ २५ ॥

साम्रांतमार्दुक्षामपहस्तगोशालक ततो भगवन्दभिमुखं गच्छन्ते द्वष्टाऽपान्तराले शाकयुक्त्रीया भिस्थन इदमुत्तुर्येदेत  
दणिगदध्यान्तं गोशालोकं त्वया दूषिते तच्छोभनं कृते भवता, यतो चाण्यमनुप्रायं अन्तरङ्गमुत्प्रान्तं प्रधानं  
मोक्षाद्वां ज्ञातव्यम् । अस्मितिसद्वान्तेऽपेनमेव व्याचय्येते, भो आदेककुमार । त्वं सावधानतया मदुक्तमनधारयेति भणित्वा  
ते भिस्थवः आन्तरानुष्ठानसमर्थकमात्मीयसिद्धान्ताविभावनायेदमाहुः ।

पित्राणविद्धीमसवि विद्धु सूले, केऽपपज्ञा पुरिसे इमेति ।

अलाउद्यं वाचि कुमारघाति, स लिप्पती पाणिव्वहेण अमहं ॥ २६ ॥

गदान्तः  
स्यासिद्ध-  
तम् ।

विद्यारुद्या—‘पित्रानुः’ खलशकलमचेतनमपि कापि स्थाने पतिं द्वष्टा तदुपरि केनचिन  
उयता प्राचरण (वस्तुं) खलोपरि प्रक्षिप्त, तच म्लेच्छेन केनापान्वेषु प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति मर्त्या खलपिण्डया सह गृहीतं,  
ततोऽसौ रहेद्द्वयो वसवेषितां तां खलपिण्डं पुरुषुद्वया श्रून् प्रोतां पाचकं पचेत्, तथा ‘आलाउकं’ तु घरकोऽयमिति  
मर्त्या अग्नावेन पपात्, स वै च चित्रस्य हुएत्तरात्प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यते, अस्मितिसद्वान्ते चित्रमूलतत्त्वानुभासुग-  
चन्धस्य, अशुभचरिणामेन चन्धः, अशुभचरिणामाण्यादुर्बलपि पाणातिपांच प्राणातिपांच प्राणातिपां युज्यत इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अग्नेन दृष्टान्ते वेपरीत्यवाह—

द्वितीये

श्रुतं  
प्राप्तयने,

गोशाल-  
कोक्षणि-

गदान्तः  
स्यासिद्ध-  
तम् ।

॥ १२२ ॥

अहवा वि विद्धुण मिलक्खु सूले, पित्रागबुद्धीह नरं पषज्जा ।

कुमारगं चावि अलाउयंति, न लिपपइ पाणिवहेण अमहं ॥ २७ ॥

व्याख्या—अथवाऽपि सत्यपुरुषं खलबुद्ध्या कश्चित्मलेक्छः शूले श्रोतमनो पचेत्, तथा कुमारकमलापुद्ध्याइनादेव-  
पचेत्, न चासौ प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यतेऽस्माकमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥ किञ्चान्यत्—

पुरिसं च विद्धुण कुमारगं वा, सूलांसि केव लिपपैष जायतेष ।

पित्रायपिंडं सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कपपति पारणाए ॥ २८ ॥

व्याख्या—पुरुषं वा कुमारकं वा शूले विद्धा कथित्पचेत् वहौ खलपिण्डीयगिति महत्वा ‘सर्वी’ शोमनां, रदेवतृ  
बुद्धानामपि पारणाय कलपते—योर्यं भवति, किमुतापरेषाम् ? एव मनसा अमङ्गलिपतं कर्म न लगतीति गाथार्थः ॥ २८ ॥

पुनः शाव्य एव दानफलमधिकत्याह—

स्तिपायगाणं तु दुर्वे सहस्रे, जे भोयए निति[गिय]ए भिक्खुयाणं ।

ते पुद्धरखंचे सुमहाज्जिपिता, भवति आरोप्य महंतसता ॥ २९ ॥

व्याख्या—स्नातका बौद्धसते प्रथाना दर्शनिनस्तेषां भिक्षुकाणां सहस्रद्वयं ‘निजे’ शाकयुक्तीये घर्मे व्यवस्थितः

द्वितीये  
श्रुतं आदिकृमा—  
पुण्यस्फन्दं [सु]महान्तं समाचर्जय-अर्जयित्वा तेन च पुण्यस्फन्देनाऽऽरोच्याख्या देवा मवन्ति, सर्वोत्तमां देवगति-  
गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

कथित्युपासकः पचनपाचनाद्यपि कृत्वा भोजयेत् समांसगुडदाढिमेन इष्टेन भोजनेन, ते महासरवाः पुरुणः अद्गालमः  
पुण्यस्फन्दं [सु]महान्तं समाचर्जय-अर्जयित्वा तेन च पुण्यस्फन्देनाऽऽरोच्याख्या देवा मवन्ति, सर्वोत्तमां देवगति-  
गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

तदेवं बुद्धेन दानमूलः शीलमूलश्च घर्मः प्रवेदितः, तदेश्चा-गच्छ बौद्धसिद्धान्तं प्रपद्यस्वेत्येवं भिक्षुकैरभिहितः सन्नार्दको-  
नाकुलया हृष्णा तान् वीक्ष्योचाचेदं वक्ष्यमाणमित्याह—

अजोगरुदं इह संजयाणं, पावं तु पाणाण पसज्ज्ञ काउं ।

अबोहिए दोपह वितं असाहू, वयंति जेआवि पाडिसुणांति ॥ ३० ॥

—अहो शाक्यपुत्रीया! ‘इह’ अस्मिन् मवदीये शाक्यमते ‘संयतानां’ भिक्षुणां यदुक्ते भोजनं तदयो-  
[उग्रस्प-मयो]यं, तथाहि—अहिसार्थमुत्थितस्य विगुप्तिस्पृश्य पञ्चममित्यस्य सतः प्रवजितस्य समयग्नानपूर्विकां  
क्रियां कृष्टेऽपि भावशुद्धिः फलवती मवन्ति, तद्विपर्यस्तमते स्वज्ञानावृतस्य महामोहाकृती हृतान्तरात्मतया खलपुरुषोरपि  
विवेकमजानतः कृतस्या भाव शुद्धिः? अतोऽत्यन्तमयुक्तमेतद्वद्मतातुसारिणां यत्वलतुद्ध्वया पुरुषस्य शलोपोतनपचनादिकं,  
तथा बुद्धस्य चाऽऽन्न[पिण्याक]तुद्ध्वया पिण्यित(मांस)पश्चणातुमत्यादिकमित्येतद्वाह ‘प्रागाना’ भिन्निदयादीनामपगमनेन हु-  
पापसेव कृत्वा रससात्त्वोरवादिगद्वास्त्रदभावं ड्याविष्यपन्ति, एतच तेषां पापामाचवपावर्णतमवौट्ये—अबोचिलाभावं तयो-

द्वयोरपि सम्पद्यते अतोऽसाधेतत्, कगोद्देयोरित्याह—ये वदन्ति पिण्याकुन्ड्या पुरुषयाकेऽपि पातकाभावं ये च तेऽयः श्रूण्वन्ति तयोर्द्वयोरपि चर्गयोरसाऽवेतदिति । अपि च—नाज्ञानावृत्पृष्ठजने मावशुद्ध्या शुद्धिर्भवति, यदि स्यात्संसारमोचकादी-कर्मादिकं चानुष्टानमनर्थकमापद्यते, तस्माल्लेखं विषया मावशुद्ध्या शुद्धिरुपजायत इति स्थितमिति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अथात् ये देवतानि भवतायाः —

उद्दुङ्गे अहेयं तिरियं दिसासु, विक्राय लिंगं तस्थावरणं ।

भयाभिसंकाइ दुर्गुच्छमाणे, वदें करेजा वि कओ विहातिथ ॥ ३९ ॥

व्याख्या—ऊङ्गुमधस्तिर्यक् सर्वासु दिक्षु त्रमनां स्थावराणां च लिहं—चलतस्पन्दनाङ्गुरो द्वचलेद्वलानादिकं विज्ञाय भूताभिशङ्कया—जीवोपमहोत्र भविष्यतीत्येवं बुद्ध्या सर्वमनुष्टाने त्रिगुणमानस्तदुपमहं परिहरन् ‘वदेत्’ वदेत् कथयेत्कुर्या। दप्यतः कुर्वोऽस्तीहारिमनेवम्भूतेऽनुष्टाने क्रियमाणे प्रोत्यमाने वाऽस्मत्पक्षे युष्मदापादितो दोष इति गायथ्रीः ॥ ३२ ॥

अथ खले पुरुषद्वया असम्भवमेव दर्शयितुमाह—

पुरिसेति पिन्नति [विक्रान्ति] न पय अतिथ, अणारिष से पुरिसे तहा हु ।  
कों संभवो ? पिकगापिडियाए, वाया वि एसा बड़या असच्चा ॥ ३२ ॥

द्वितीये  
श्रुत०  
वाचाऽपि  
अवाचपत्रं  
मांसभक्षण-

नयाख्या—तस्यां पिण्याकपिण्डयां पुरुषोऽयमित्येवं महामूर्खस्यापि [ विक्षिप्तेन नास्ति ] मतिरीढ़शी न जायते, तथा  
खलेऽपि यः पुरुषमत्ति मन्यते म अनार्थं एवासौ यः पुरुषमेव खलोऽयमिति मत्वा हतोऽपि नास्ति दोषः इत्येवं वदेत्  
तथाहि—कः सम्भवः ? पिण्याकपिण्डयां पुरुषदेवित्यतो वागपीयममत्या, ईहग्रामापाया भाषपोऽपि निविवेक अशुभं कर्म  
वदनाति अनन्तं च संसारं ललतीति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ किञ्च—

वायाभिओपण जमावहेज्ञा, पो तारिसं वायमुदाहरिज्ञा ।

अट्टुणमेयं वयनं गुणाणं, पो दिक्षिलए वृद्ध लुरालमेयं ॥ ३३ ॥

नयाख्या—वाचाऽभियोगस्तेजापि यस्मात्पापमाचहेत्, अतो विवेकी—भाषागुणदोषो न तादशी  
'चाचं' भाषामुदाहरेत्—न वदेत् । यत एवं ततोऽस्थानमेतद्वचनं गुणानां, अतो यः प्रवाजितः [ उदारं—सुदुष्टं परिश्वर ]  
ईहशमसारं वचनं न ब्रूयात् । तद्यथा—पिण्याकोऽपि पुरुषः पुरुषोऽपि पिण्याकः तथाऽलाकुमेव बालकं एव  
अलाकुमिति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

साम्प्रतमाद्विक एवं तं भिष्ठकं शुक्तिपराजितं सन्तं सोऽल्पं विमणिपुश्चाह—  
लच्छे (हु) अट्टे अहो !! एव तुठमे, जीवाणुभागे सुविचिच्छितेष य ।  
पुरुं समुदं अवरं च सुर्दं, ओलोइए पाणितलाद्विष वा ॥ ३४ ॥

ध्ययगडाङ्ग  
सत्र  
दीपिका-  
निवर्त्तम् ।

॥ १२४ ॥

॥ १२४ ॥

नयाख्या—अहो भिक्षवः ! एवंविशारदुपगमे युष्माभिरेव लब्धः ‘अथो’ विज्ञानं यथाचाचिथं तस्वभिति तथाऽन्व-  
गतः सुचिन्तितो भवद्विज्ञानामनुभागः—कर्मचिपाकस्तपीडा। इति, तथा एवम्भूतेन विज्ञानेन भवतां यशः पूर्वे समुद्र-  
मपरं समुद्रं च स्पृष्टं—गतिमित्यर्थः, तथा भवद्विभिरेव[विष्व]विज्ञानाबलोकेनावलोकितः पाणिवलस्थितं हवायं लोक इति  
अहो ! भवतां विज्ञानातिशयो !! यदुत—पिण्याकपुलपयोरलाभुकवालकयोर्वा वाते[ पापस्य ]कर्मणो माचाभावं प्राक्  
कलिपतवन्तो भवस्त इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

अथाद्वेकः परपक्षं दृपयित्वा स्वपक्षस्थापनायाह—

जीवाणुभागं सुविचित्यंता, आहारिया अद्विहीइ सोहि ।  
न वियागरे छन्नपओपजीवी, एसोऽनुधम्मो इह संजयाणं ॥ ३५ ॥

नयाख्या—जिनशासनप्रतिपत्त्वा: [ सर्वज्ञोक्तमागरुसारिणो ] जीवानामनुभाग—मवस्थाविशेषं तदुपमदेन पीडां चा  
सद्गु ‘विचिन्तयन्तः’ परलोचयन्तः अचिवधी शुद्धि ‘आहतवन्तः’ स्वीकृतवन्तो द्विचत्वारिंशद्वैपहितेन शुद्धेनाहारेणा-  
हारं कृतवन्तो, नतु यथा भवतां पिण्यिताद्यपि पात्रपतिं न दोषायेति, एवंविधं चचोऽपि जेना महर्षयो न मापन्ते । भवन्तः  
कीदृशाः ? छन्नपदोपजीविनः, हिंसास्थानोपजीविन इत्यर्थः, न तादुशा जेना मुनयः, तेषां हि मुनीनां निर्दीपाहारश्रहणे  
पद्मकायप्रतिपालनेन तीर्थङ्करानुयायी धर्ममोक्षे य इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ पुनराद्वक्तुमारः कथयति—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्रे, जे भोयए निह[निय]ए भिन्नखुयाणं ।

असंजए लोहियपाणि से ऊ, नियचल्ती गरिहमिहेन लोए ॥ ३६ ॥

व्याख्या—‘स्नातकानां’ औद्दिग्क्षणां नियं यः सहस्रद्यं भोजयेदित्युक्तं प्राक् तस्य यो लाभं चक्ति सोऽसंयतो ‘लोहितपाणि:’ रुधिराद्रपाणिरतार्थ्य इव ‘निन्दा’ उग्रप्रापद्वीप इहलोक एव निश्चयेन गच्छति परलोके चानार्येगम्यां गति गच्छति, एवं तावत्सावधानुष्ठानातुमन्तुणामपात्रभूतानां यदानं तत्क्रममेवन्धाय केवलं, न लाभायेति गाथार्थः ॥३६॥ किञ्च —

थूलं उरठभं इह मारियाणं, आहिद्दुभत्तं च पगप्पइता ।

तं लोणतेल्लेण उचक्षवाडिता, सापिएपलीयं पगरांति भंसं ॥ ३७ ॥

व्याख्या—‘स्थूलं’ महाकाय-सुपचितमांशोणितं ‘उरभ्र’ उरणकं ‘इह’ ग्रावयशामने भिशुकपक्षोहेशेन द्वयापाद्य-वातयित्वा तथोदिएमकं च प्रकलपयित्वा [विकर्त्य वातं] उरभ्र तन्मोसं चालवण्टेलाम्यापुपस्थल्य-पाचयित्वा सपिष्पलीकं समरिचं अपरस्त्वकारकद्रव्यसमिन्वतं प्रकर्त्य भवेणयोर्यं मौसं कुर्वन्तीति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

संस्कृत्य च यत्कुर्वन्ति तदर्थ्यितुमाह—

द्वितीये  
श्रुत०  
मांसशीर्ना  
बौद्धाना-  
मानार्य-  
गम्यगति-  
गमित्वपू।

ते भुजमाणा पिसिंत पभूतं नो उवालिप्यामो वयं रएणं ।

इच्चेवमाहंसु अणारिया बालं रसेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥

व्याख्या—‘तव’ पिशिंत शुक्रशोणितसभूतमतार्या हव भुजाना अपि प्रभूतं तदजसा—पापेन कर्मणा न वय-  
मुपलिप्यामहे इत्येवं धार्घोपेताः प्रोचुरनार्या ‘बाला’ विवेकरहिताः ‘रसेषु’ सांसादिषु ‘गुद्धाः’ मूर्छिताः, इत्येतच तेषां  
महते अनथपेति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ एतदेव दर्शयति—

जे यावि भुंजति तहप्पगारं, सेवन्ति ते पावमजाणमाणा ।

मणं न एयं कुसला करिती, वाया वि यसा बुद्ध्या उ मिच्छा ॥ ३९ ॥

व्याख्या—ये चापि रसगारवगुद्धाः शाव्योपदेशवार्तिनस्तथाप्रकारं स्थूलोरभ्रसम्भूतं घृतलक्षणमरिचादिसंकृतं पिणिं  
भुजन्ते पापमजानानाः निर्विवेकिनः सेवन्तेष्व तदेवं महादोषं मांसमशृणमिति मत्वा यद्विदेयं तदश्चयति—तदेवभूतं मांसाद-  
\* “ यदुकं—हिमामूलमसेडप्रासपदमलं इयानस्य रौद्रस्य य-द्वीपसं लूधिगाविलं कृषिगृहं दुर्गनिवृप्याविलम् ।  
शुक्रासुकप्रभवं नितान्तमलिनं मद्धिः सदा निनिदंतं, को शुह्ले ? नरकाय राक्षसस्मो मांसं तदात्मद्रुहः ॥ १ ॥ तथा—मां स  
मक्षयिताऽपुत्रं, यस्य मांसमिहाश्वद्भूम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २ ॥ (तथा)—योऽन्ति यस्य च सांस-  
मुखयोः प्रकथतान्तरम् । एकस्य शृणिका दृष्टि—इन्यः प्राणैर्विशुद्धयते ॥ ३ ॥ ” इति हर्ष०

द्वितीये  
श्रुतो  
उहिट-  
भक्तस्यापि

यज्ञं जैन-  
श्रमणा-  
नाम् ।

नाभिलापरुपं मनो—इन्नतःकरणं ‘कुशला’ निषुणा न कुर्वन्ति, महापापहेतुत्वा[चदभिलापा]—पनो निरसेयन्ती ह्यर्थःX | आस्ता॒  
मक्षणं वाग्येषा “न मांस भक्षणे दो+प०” हृत्यादिका वाग्मयुक्ता महते पातकायेति मत्वा च चोऽपि न वाच्यमिति  
गाथार्थः || ३९ || न केवलं गांसादनमेण त्याज्यमन्यदपि मुमुक्षुणां परिहर्चेऽवमिति दर्शयितुमाह—

सब्वेसि जीवाण दयटुयाए, सावजदोसं परिवज्जयंता ।

तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उहिटुभन्तं परिवज्जयंति ॥ ४० ॥

व्याख्या—सर्वेषां जीवानां सुखाभिलापिणा दुःखद्विषा, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति सर्वं प्रहणं, ‘दयार्थं’ दया-  
निमित्तं सावधारम्भं महासदोप मत्वा तं परिवर्जयन्तः [ तच्छक्षिनो-दोपशक्षिनः ] माधवो ज्ञातपुत्रीया महर्षयः ‘उहिटं’—  
साधुदानाय कलिपतं यद्वक्तपानादिरुं, तत् परिग्रन्थयन्तीति गाथार्थः || ४० || किञ्च—  
भूयाभिसंकाइ दुग्धुङ्छमाणा, सब्वेसि पाणाण निहाय दंडं ।

तस्महा पा भुंजन्ति तहटपगारं, एसोऽणु धर्मो इह संजयाणं ॥ ४१ ॥

X “निष्टुतितु महागुणाय, यहुक्त-श्रुत्वा दुर्गति, ये कुर्वन्ति शुभोदयेत विरति  
मांसादनस्यादरात् । सदीघीयुरदृपितं गदरुजा सम्भाव्य यास्यन्ति ते, मर्येषुद्रभोगधर्ममतिषु श्वर्गीपर्वग्नेषु च ॥ १ ॥ ”  
इति इर्ष० । + “‘पो, न मध्ये न च मैथुने । ग्रहन्तिरेषा भूतानां, निष्टुतितु महाफला ॥ १ ॥ ”

व्याख्या—‘भूतोपमहेश्वर्या’ भूतोपमहेश्वर्या सावधामनुष्ठानं ‘जुण्डमानाः’ परिहरन्तस्था सर्वेषां प्राणिनां , दण्डः , समुपतापस्तं ‘निः धाय’ ल्यस्यासम्प्रयुक्तथानेनोत्थाय सत्साधयो यतयस्ततो न बुद्धन्ते तथाप्रकारमशुद्ध-जातीयमाहारमिति, एपोऽनुष्ठामः इह प्रवचने संयताना-यतीनां तीर्थकराचरणादतु-पश्चादाचर्यते[ इत्यतुना विशेष्यते ], यथा तीर्थकरैनिदोपाहारग्रहणं कृतं तथा तदतुसारितिः साधुभिरपि तैव विधेयं, यद्याऽनुरिति स्तोकेनाप्यतिचारेण वा इयते विरिष्पुण्डपमित्र सुकुमारोऽप्य धर्मं इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ किञ्चान्यत—

निगंशधरमसंभिः इमं समाहि, आस्म सुठिच्चा अणिहे चरेजा ।

बुद्धे मुणी सीलगुणोच्चेषु, अच्चत्थ[ओ]तं पाउणती सिलोगं ॥ ४२ ॥

न्यालया—निग्रन्थधर्मे-श्रुतचारित्रहृष्टे थान्त्रियादिके वा सर्वज्ञोक्ते व्यग्रस्थितः ‘इमं’ पूर्वोक्तं ममाधिमउपासोऽस्मश्चा-शुद्धाहारपरिहारहृषे समाधी उस्थित्वानः ‘अनिहो’ मायारहितोऽस्तेनो हो वा साधुः संयमातुष्ठानं चरेत् , तथा बुद्धो-इत्यगततच्छो ‘मुनिः’ कालत्रयवेदी, तथा शीलेन कोधाद्यागमरूपेण गुणैश्च-मूलोचरणाभूतैरपेतो-युक्तः; इत्येवं गुणकलितोऽत्यर्थं सरोपात्मकां ‘श्लाघा’ प्रशंसां लोके लोकोत्तरे चाचानोति, तथा चोक्तम्—‘राजानं तृणतुल्यमेव मत्तते याकेऽपि लैचादरः; विचोपाजेनरक्षणान्ययकृताः प्राप्नोति नो वेदनाः । संसारान्तरचक्रपीह लभते चामुक्तवच्चित्तस्यः, सत्तोपात्पुरुषोऽमृतत्वमचिराचायात्मुरुरन्द्राचित्तः ॥ १ ॥” इत्यादि ॥ ४२ ॥

सूयगडाङ्ग  
उक्तं  
दीपि का-  
न्निवतम् ।

॥ १२७ ॥

तदेव मार्द कुमारं निराकृत गोगाल काजी तक पौदमतगमिस मीढ़य साम्रां दिग्जारुयः प्रोत्तु स्तरयथा—मौ आर्द कुमार !  
शोभनमकारि भवता यदेते वेदयाये द्वे अपि मते निरस्ते, तत्साम्प्रतमेतदप्याहंतं वेदवालामेवात्सरदपि नाश्रयणाहं  
भगदिधाना, तथाहि—भवान् शक्तिः, धक्षियणां च सर्वतनोत्तमा ब्राह्मणा एवोपास्याः, न शुदा:, जतो यागादिविधिता  
ब्राह्मणसेवैव युक्तिमतीत्येतत्प्रतिपादयन्नाह—

स्तिणायगाणं तु दुवे सहस्रे, जे भोयए णि[यए]तिए माहणाणं ।

ते पुनरख्यं दुम्पहज्जाणिता, भवंति देवा इति वेयवाओ ॥ ४३ ॥

व्याख्या—पद्ममधिरता: वेदाध्यापकाः शोचाचारप्रतया नित्यस्तायिनो ब्रह्मचारिणो द्विजाः स्त्रावतका उच्यन्ते,  
तेपां नित्यं सहस्रद्यं ये भोजयेयुः कामिनाहारेण, ते सपुष्पाञ्जितपृष्ठकृत्याः सन्तो देवाः स्वर्गनिकासिनो खचन्तीयेचम्भूतो  
वेदवाद इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ अथार्दक एतदद्दृष्टिप्रतुमाह—

स्तिणायगाणं तु दुवे सहस्रे, जे भोयए णि[यए]तिए कुलालयाणं ।

से गच्छति लोलुयसंपगाहं, तिवाहितावीं परगामिसेवी ॥ ४४ ॥

व्याख्या—स्त्रावतकानां सहस्रदयमपि नित्यं ये जोजयन्ति, किम्भूतानां ? ' कुलालयः ' माजारास्त्रत्सहशाः द्विजाः—  
चाततव्याः, यतः—सावधाहारनाक्तुया सर्वदा सर्वं गृहेषु माजारा इत्य अपन्ति, एवंविषानां नित्यजीविकाजीवनानां सहस्र-

दितीवि

शुरव  
पशुचर्यते  
त्रालगणः

स्वमत्त  
प्रकाशन्त-  
मार्दकुमा-  
शाम्रे ।

॥ १२७ ॥

द्वयं यो भोजवेत्मोऽमत्पात्रनिक्षिपदान्तस्ते: स्तारुक्त्राण्यैः: मह नरके बहुवैदने [गच्छति] प्रताचरा व्यक्षिक्षत्सागरायु-  
नौरको जायते दीति गायार्थः ॥ ४४ ॥ अति च—

द्यावरं धर्म दुर्घुलमणो, वहावहं धर्म पसंसमाणो ।

एंगपि जे भोजयति असीलं, निवो णिसं जाति कओऽसुरेहि ? ॥ ४५ ॥

व्याख्या—[दया वर]दयावरं धर्म 'कुण्डप्रसानो' निन्दन् उया 'व्यातमं', प्राणुप्रदृतिमकं वर्णं प्रशंभन् एकमपि 'अग्नीलं' विचित्रहिं पद्मकायोपमहेन यो गोजावेत्, एकमपि, किम्पुनः प्रभृतात् ? 'उगो' राजाइन्यो वा यः कविन्पूर्वमति-धर्मिन्मात्माने मन्यमानः, स वराको निशेन नित्यान्धकारत्वान्निशा—नरकभूमिस्तर्वा—याति, कुतस्तस्यासुरेवप्यधर्मदेव ए  
प्राप्तिरिति गायार्थः ॥ ४५ ॥

गोदेवमार्द्देवमार निराङ्गत्वालक्षणवादं भगवदनितरं गच्छत्वं दद्वा एहस्तिराल एनो तुस्ततया—यो आदेकहुमार !  
गोमनं रुतं भगता, यदेते मर्मारमध्यवृत्ता गृहस्या: शब्दादिनिपपरायणा मां पाशिनो राशमकहपा द्वितावयो निराहता:,  
वामप्रगम्मातिमदान्तं शृणु, शृणु चाचाधारय, अस्मित्यद्वात्मविमदान्तयोर्न कोऽपि मेवोऽस्ति, इत्येतदर्थप्रितुमाइ—

दुहओ वि धर्मसंस्मि समुद्दियामो, आर्द्दस सुठिच्चा तह प्रसकालं ।  
आयारसीले तुइप्रद्वृणाणो, ए संपरायमिम विसेसमातिथ ॥ ४६ ॥

व्याख्या—योऽप्यमस्मद्गमे भारीयशार्हतः म उभयरूपोऽपि कथ्यक्षित्सदृशः; यतः युधारं मते जीवास्तित्वे पुण्य-  
पापचक्ष्यमोक्षानामपि मद्भावः, असमाकमपील्यमेचाऽस्ति । असमाकमपील्यमेचाऽस्ति । अहिमायाः, भूतवां च त एव पञ्च महा-  
वतरूपाः, तयेनिद्रियनोद्दिन्द्रियनियमोऽव्याप्योस्तुलय एव, तदेवमुभयस्मिन्नपि धर्मे बहुमाने सम्प्रगुह्यतयानोहियता युर्य-  
वयं च तद्वाद्गमें सुरुद्धि रियताः, पूर्वोद्दिश्मन्नकाले वर्तमाने एष्ये च यथागृहीतप्रतिजातिगोडारो, न पुनरन्ते, यथावतेश्वरायाग-  
विघानेन प्रवर्तयां भूकृतन्तो मुक्ष्यनिति मोक्ष्यनिति चेति, तथाऽऽनामप्रधानं शीलयुक्तं यमनियमलयुणं, न फलयुक्तक-  
कुहकाजीवनरूपं, अथतन्तर ज्ञान च मोक्षाकारतयाऽप्यमिहितं, तज्ज्ञानाने केवलारुप च, यथाम्बमागोदर्शीने प्रसिद्धं, तथा-  
प्राणिनो यत्र स्वरूपमिश्रित्यन्ते म ‘समपरायः’ समारस्त्वमिश्रित्यान्योर्न निशेषोऽस्तीति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

पुनरध्येकदण्डितः श्रीकृष्णः—

अवत्तरुन्वं पुरिसं महंतं, सणाताणं अकर्खयमवयं च ।

सद्वेषु भूतेषु विसवतो सो, चंदो व ताराहि समन्तरुवे ॥ ४७ ॥

व्याख्या—‘पुराणे’ उीर्वं यथा गच्छन्तोऽप्यपगतवन्नसतया नयमपि, कथमभूतं जीवं? अमूर्तत्वाद्वयकर्त्तव्य करचरण-  
गिरोग्रीवाद्यवचरुया न लक्ष्यते, तथा ‘महान्तं’ लोकव्यापिनं तथा ‘मनातनं’ शाश्वतं-द्रव्याधृतया नित्यं, नाना-  
विषयातिसम्बन्धेऽपि चैरत्यलक्षणात्मसारलपस्यामन्युतेरुणा ‘अथुते’ केनचित्प्रदेशानां खण्डशः कर्त्तुमग्रक्षयत्वाचथा ‘इत्यप्यं’ ॥ १२८ ॥

द्वितीये

श्रुतो

पश्चात्यपने  
एकदण्डि-  
मतप्रका-  
शनम् ।

अनन्तेनापि कालेनैकस्यापि प्रदेशस्य वययामाचारु, तथा सर्वेऽचापि भूतेषु कायाकारपरिणतेषु प्रतिशरीरं ‘सर्वतः सामस्त्यान्विरशत्वादमाचात्मा सम्भवति, किमिः[?] क ह]च ? ‘चन्द इन ? शशीन, ताराभिरश्वन्यादिभिर्नक्षत्रैर्यथा ‘समस्तरूपः’ सम्पूर्णः सम्बन्धमुपगात्येवममाचाचात्मा प्रत्येकं शरीरैः सह सम्पूर्णः सम्बन्धपूपयाति । तदेवमेकदण्डभिर्श्वन्तसामयापादनेन सामवाहृष्टवक्त शब्दरुपतारोपणार्थमादंककुमारोऽभिहितो, यज्ञेतानि निरूपचरितानि पूर्वोक्तानि विशेषणानि धर्मसंमारयोर्विद्यन्ते म एन पक्षः मश्रुतिकेन समाश्रयितव्ययो भवति, एतानि चासमदीय एव दक्षने यथोक्तानि सन्ति, चाऽहंहेतु, अतो भवतारयसमादीयमेव दर्शनमम्भुपगन्तव्यमिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

अथाद्रूपककुमारस्तदुत्तरदानायाह—

एवं ण मिज्जंति न संसरांति, न माहणा खातिय वेस पेसा ।  
 कीडा य पक्खी य सरीसिचा य, नरा य सर्वे तह देवलोगा ॥ ४८ ॥

नयारूपा—यदिवा प्राक्तनः श्लोकः ‘अनुचत्तरूप’मित्यादिको वेदान्तवाद्यात्माद्वैतमतेन व्याख्यातव्यस्तथाहि-ते एकमेवान्यकं पुरुषमात्मानं महान्तमाकाशमित्र सर्वेऽचापिनं सनातन[सनातन]मक्षयमव्ययं सर्वेऽचापि भूतेषु ‘सर्वतः सर्वात्मतयाऽसौ स्थित इत्येवमम्भुपगतव्यतो, यथा मर्वास्तपि तारास्त्वेक एन चन्दः सम्बन्धमुपगात्येवमपाचापीति, अस्य चोत्तरदानायाह—‘एव’मित्यादि-यथा भवतां दर्शने एकान्तेन नित्योऽचिकारी चात्माऽभ्युपगम्यते इत्येवं पदाथाः’

सूपगडाह-

सूत्रोऽदीपिका-  
निवित्स् ।

सर्वेऽपि नित्यास्तथा च सति कुगो वन्धुमो श्रवद्धाः ! वन्धुभासाचाच न नारकतिर्यहन्तरामरलश्वणश्वतुग्निकः संमारो  
मोक्षाभासाच निरथकं व्रतप्रहणं भरतां पञ्चान्नोपदिष्टप्रतिपत्तिश्च, एवं च यहुच्यते भवता—यथा ‘आचयोस्तुलयो  
धर्मम्’ इति वद्युक्तमुक्तं, यतो न रुथच्छिदाचयोः साम्यं, फिश्च—सर्वव्यापित्वे सत्यात्मनो विकारित्वे चात्माद्वैते चाम्यु-  
पगम्यमाने नरकतिर्यहन्तरामरभेदेन चालकुमारसुभगदुर्भग्न्यादिमेदेन चा न मीयेत्तु—न परिनिछेत्यन्, नापि सर-  
कम्पमेत्रिता नानागतिपु संमरन्ति, सर्वव्यापित्वादेकत्वादा, तथा न बाल्या न श्रद्धा न प्रेष्या न श्रद्धा नापि  
कीटपश्चिमासुपाश्च भवेत्पुः, तथा न राश्च सोर्वोपि देवलोकाश्चेत्येन नानागतिमेदेन न भिरेत्तु, अतो न सर्वव्याप्तात्मा  
तथा नाप्यात्माद्वैतवादो जयायान्, यतः प्रत्येकं सुखहुःखातुभवः समुपलभ्यते, तथा ऊरीरत्वरूपंनवपात्र एवात्मा, तत्रेन  
रहुणविज्ञानोपलब्धेति स्थितं, तदेवं व्यवस्थिते युष्मद्वागमो यथायामिवायो न भवति, अमर्वद्वपणीतत्वाद्,  
प्रणीतत्वं चैकान्तपक्षसमाश्रयणादिति ॥ ४८ ॥ एवमपवृज्य मागोद्भावते दोषमाविभव्यन्वाह—

लोयं अजाणितिह केवलेणं, कहन्ति जे धर्मसमजाणमाणा ।  
णासंति अटपाण परं च नदा, संसारघोरमिम अणोरपारे ॥ ४९ ॥

व्याख्या—लोकं चतुर्दशरज्जगत्मकं चराचरं चा लोकमज्ञात्वा ‘केवलेन’ दिव्यज्ञानावभासेन ‘इह’ अस्मन्  
जगति ये तीर्थिका ‘अजानाना’ अनिदृशो वस्त्रं दुर्मतिगमनमागर्गलाभृतं ‘कथयन्ति’ ग्रतिपादयन्ति ते सचतो नदा ॥ १२९ ॥

अपरान्पि नाशयन्ति, क ? 'घोरे' भयनके संमारसागरे 'अणोरपारे' अचोर्मागरभागविचाज्ञते अनाद्यनन्ते,  
इत्येवम्भूते संसाराणीवे आत्मानं प्रक्षिप्तन्तीति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

साम्रातं सम्यग्गज्ञानवत्तामुपदेष्टुणां गुणानाविभवियत्वाह—

लोर्यं विजाणन्तिह केवलेण, पुत्रेण नाणेण समाहित्वा ।

धर्मं समतं च कहंति जे उ, तारंति अध्याण परं च तिष्ठणा ॥ ५० ॥

व्याख्या—लोकं चतुर्दशरज्जग्नात्मकं केवलालोकेन केवलिनो विविध—मनेकप्रकारं जागन्ति, इह जमति प्रकर्षेण जानाति प्रज्ञः पुण्यहेतुत्वादा पुण्यं, तेन तथा भूतेन ज्ञानेन समाधिता च युक्तः। समस्तं वर्घम् श्रुतचारित्रलूपं ये हु परहितेषिणः 'कथयन्ति' प्रतिपादयन्ति ते महापुरुषाः स्वतः संसारसागरं तीरणः। परं च तारयन्ति सद्गुपदेशदानत इति, यथादेशकः—सम्यग्गमागर्गज्ञ आत्मानं परं च तदुपदेशवचार्तिं महाकान्तरागद्विवक्षितदेशप्रापेन निस्तारयति, एवं केवलिनोऽप्यात्मानं परं च संसारकान्तरागनिस्तारयन्तीति गाथार्थः ॥ ५० ॥ पुनरप्याद्वक्षमार एवमाह—

जे गरहियं ठाणोमिहावसंति, जे याचि लोपं चरणोववेया ।

उदाहरं ते तु समं मतीषु, अहाउसो विष्परियासमेव ॥ ५१ ॥

व्याख्या—असर्वत्रप्रहृष्टेन सेवम्भूतं भवति, तथा—ये केवित्संसारान्तर्भावित्तेनशुभकर्मणोपेताः—समन्विताः 'गरहितं'

निनिदं बुपुष्टिं निनिवेकिनतानरितं स्थानं कुमारुषानक्षयं 'उङ्क' जगति आ[रमन्ति] मे इन्ति आजीनिकाहेतुमाशयन्ति, मे च सदुपदेशवार्त्तेनोऽस्मिल्लोके 'चरणेन' पिरिपरिणामस्त्रैणोरेताः:-समन्वितास्तेषामुभ्येषामपि यदुरुषानं [शोभना] शोभन-  
रूपमपि हृदमवेत्तः 'सम' तुल्ये 'उडाहृतं' उपम्यस्तं 'स्वाभिप्राणेण भो एकदिङ्डिन् ! तं विपरीतमन्ति [एम] जानीदि, सम्यग्-वस्त्रमध्यग्रथमयोः; कुर्यं सामयं स्यादिति गायार्थः ॥ ५१ ॥ तदेवमेकदिङ्डिनो निराकृत्याद्रुक्तुमारो याचदुमग्यदन्तिक वजति वाग्दन्तितापसाः परिषुत्य तद्युरिदं च शोनुरित्याह—

संवच्छत्तेणान्ति य दग्धमेगं, वाणेण मारेउ महागायं तु ।  
सेसाण जीवाण दयद्वयाए, वासं वर्यं विन्ति पक्षपयामो ॥ ५२ ॥

वयाख्या—हस्तिनं व्यापाश्यात्मनो इति कुर्वयन्तीति हस्तितापमास्तेषां भवेते कथिद्युदत्तम एतदुनाच, तद्यथा—  
मो आद्रुमार ! सश्रुतिकेनालपनहृतमालोचनीयं, तत्र नेऽप्ती तापमाः कन्दपूलकलाशिनस्ते यहुनां सच्चानां स्थावराणां  
तदाश्रितानां चोदयराद्विषु जङ्घमानाप्रयाते वर्तन्ते, नेऽपि च भैङ्गेणात्मानं वर्तेयन्ति तेऽप्यांगंमादोपदृष्टिता हत्येतश्चा-  
टाटयमानाः पिपीलिकादिवत्तृत्वाप्रयाते वर्तन्ते, वर्यं च संसात्मणेण अपिगच्छात् पृष्ठमासेन तैर्स्मिन्दं हस्तिनं महाकायं वाण-  
प्रहारेण व्यापाद्य शेषसच्चानां दयार्थमातग्नो वृत्तिः [ नपीमेकं याचव् ] कवयामः । तदेवं नपमद्यासनोपघातेन प्रभृतर-  
सच्चानां रक्षां कुर्म इति गायार्थः ॥ ५२ ॥ साम्प्रतमेवद्रुक्तुमारो हस्तितापसमं दृश्यितुमाह—

द्वितीये  
श्रुतं ०  
प्राप्ताद्यथने  
हस्ति-  
वापमसर-  
दृष्टिम् ।

संच्छेरणावि य एगमेंग, पाण हणता ओणिअतदोसा ।

से साण जीवण वहेण लगा, सिया य थोंव गिहिणो वि तम्हा ॥ ५३ ॥

नयाख्या—संनत्सरैकैकं प्राणिनं ब्रन्तोऽपि प्राणातिपातादनिरुचदोपास्ते भवन्ति, एताचता धर्ममुद्ध्या शेष-  
जीवरक्षार्थमेकैकं प्राणिन ब्रतामपि प्राणिवधो लगत्येव, आशंसादोपश्च भवतां पञ्चेन्द्रियमहाकायमद्वन्धपरायणाना-  
मतिरुष्टो भवति, साधुनां द्वर्यरविमपकाशितवीथिपु युगमात्रहछ्या गच्छतामीया [ ममिति ] ममितानां द्विचत्तारिंशद्वृप-  
[ रहित ] माहारमन्वेष्यतां लाभालाभममृतोना कुत आशंसादोपः ? पिपीलिकादिसञ्चोपायातो चा ? तथा ( यदि )  
स्तोकसञ्चोपायातेन दोपामानोऽप्युपगम्यते तदा गृहस्था अपि आजीविकार्थमारम्भं कुर्वन्तः स्वशेषे आरम्भं कुर्वन्ति,  
न परत्र कापि, तेऽपि स्तोकजीववधुकारिणोऽपरस्वर्जनन्तुनां क्षेत्रकालयवहितानां रक्षणाद् गुहिणोऽपि निर्देशा एव, स्तोक-  
जीवन्यकारिणः प्रभृतसञ्चरक्षकाः, ततस्तेऽपि भवदभिप्रायेण गृहस्था अपि दोपरहिता एवेति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

संच्छेरणावि य एगमेंग, पाण वहंता समणवेतेसु ।

आयाहिते से युरिसे अणजे, नो तारिसे केवलिणो भर्वन्ति ॥ ५४ ॥

नयाख्या—मो हस्तितापसाः ! भवन्मते शमणवते व्यवस्थिताः सन्तः एकैकं संनत्सरेणापि ये घन्तित ये चोपदिशन्ति

ते अनाद्य, असरकमरुपायित्यात्, तथा आत्मनः परेषां चाहितास्ते पुण्याः केवलिनो न भवन्ति, तथा एकस्य प्राणिनः संवत्सरेणापि घाते येऽन्ये पिशिताश्रितास्तसंस्कारे च क्रियमाणे स्थाचरजङ्गमा विनश्यन्ति ते तैः प्राणिघातोपदेशकैर्न दृष्टा, न च तैर्निरचयोपायो माधुरुयो वृत्या यो भवति स दृष्टः, अतस्ते न केवलकारेवलिनो विशिष्टिवेकरहिताखेति । तदेव हस्तिहस्तिसम्बूद्धितापान्निराकृत्य भगवदनितक गच्छत्तमाद्देहारं महता कलकलेन लोकेनाभिष्टापमानं ते समुलभयाभिनवयैवीतः सर्वलक्षणसम्पूर्णो चनहस्ती ममुत्पन्नतयाभिन्निवेकोडचिन्तयत्, यथा—अपमाद्देहमारोऽमारुताशेषतीर्थो निष्प्रयूः सर्वजपादपवानितकं चन्दनाय वज्रति, तरोऽहमपि यज्ञप्रगताशेषप्रत्यन्धतः इयां तत एत सदापुत्रपाद्देहमारं प्रदृढतस्करप्रश्नं श्रोपेत तथा प्रगेयितानेकनादिगणमनित परमाया गत्येव यावद्दसौ हस्ती छत्रमकुलप्रतावत्वटत्र(ददितिव)टित्वमस्त्रप्रत्यन्धतः सवाद्देहुतारं प्रति प्रदृढतस्तीलसतयोद्दृप्सारितदीर्थकृः प्रधानितः, चदनन्तरं लोकेन कृतहाहारयगम्भुलकलेन पृत्युतं, यथा—धित्य ! हतोऽपमाद्देहारो महर्णिमहापुण्यस्तदेवं प्रलग्नतो लोका हतयेतश्च प्रपलानाः, यमाग्रापि चनहस्ती समागत्यार्देककृपारामपीप भक्तिमम्ब्रमाचनामायता(यमा)गोचमाहो निष्पृतरुप्ता तालस्त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य निहितधरणीतलदृशताप्रमाणः स्पृष्टस्त्रायतचरणपुण्यलः सुप्रणिदितमनाः प्रणिपत्य महर्णि चनामिषुखं यगाचिति । तदेवनमाद्देहमारतोऽनुपमागाद्दन्धनान्युक्तं सपौरजनतपदः श्रेणिकराजस्तमाद्दकुमारं महर्णि तत्प्रपत्य अभिनन्द्य च प्रोताच-मगान् ! आथपर्यमितं यदमो वनहस्ती वाहुर्विवाचत्तुलो न्तुद्याच्छुद्दलाचन्धनाशुभ्रमतपःप्रमाणन्मुक्त इत्येतदतिकुरुकरमित्येवमधिद्वेष्टे आदेहमाराः प्रत्याह-मो अभिक्रमहाराज !

द्वितीये  
अतृ०  
यष्टावयने  
हस्ति-  
तापमम्बु-  
निरसनम् ।

प्राणिनो न भवन्ति, तथा एकस्य प्राणिनः  
विनश्यन्ति ते तैः प्राणिघातोपदेशकैर्न दृष्टा,  
यो भवति स दृष्टः, अतस्ते न केवलकारेवलिनो विशिष्टिवेकरहिताखेति । तदेव हस्तिहस्तिसम्बूद्धितापान्निराकृत्य भगवदनितक गच्छत्तमाद्देहारं महता कलकलेन लोकेनाभिष्टापमानं ते समुलभयाभिनवयैवीतः सर्वलक्षणसम्पूर्णो चनहस्ती ममुत्पन्नतयाभिन्निवेकोडचिन्तयत्, यथा—अपमाद्देहमारोऽमारुताशेषतीर्थो निष्प्रयूः सर्वजपादपवानितकं चन्दनाय वज्रति, तरोऽहमपि यज्ञप्रगताशेषप्रत्यन्धतः इयां तत एत सदापुत्रपाद्देहमारं प्रदृढतस्करप्रश्नं श्रोपेत तथा प्रगेयितानेकनादिगणमनित परमाया गत्येव यावद्दसौ हस्ती छत्रमकुलप्रतावत्वटत्र(ददितिव)टित्वमस्त्रप्रत्यन्धकृः प्रधानितः, चदनन्तरं लोकेन कृतहाहारयगम्भुलकलेन पृत्युतं, यथा—धित्य ! हतोऽपमाद्देहारो महर्णिमहापुण्यस्तदेवं प्रलग्नतो लोका हतयेतश्च प्रपलानाः, यमाग्रापि चनहस्ती समागत्यार्देककृपारामपीप भक्तिमम्ब्रमाचनामायता(यमा)गोचमाहो निष्पृतरुप्ता तालस्त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य निहितधरणीतलदृशताप्रमाणः स्पृष्टस्त्रायतचरणपुण्यलः सुप्रणिदितमनाः प्रणिपत्य महर्णि चनामिषुखं यगाचिति । तदेवनमाद्देहमारतोऽनुपमागाद्दन्धनान्युक्तं सपौरजनतपदः श्रेणिकराजस्तमाद्दकुमारं महर्णि तत्प्रपत्य अभिनन्द्य च प्रोताच-मगान् ! आथपर्यमितं यदमो वनहस्ती वाहुर्विवाचत्तुलो न्तुद्याच्छुद्दलाचन्धनाशुभ्रमतपःप्रमाणन्मुक्त इत्येतदतिकुरुकरमित्येवमधिद्वेष्टे आदेहमाराः प्रत्याह-मो अभिक्रमहाराज !

द्वितीये  
अतृ०  
यष्टावयने  
हस्ति-  
तापमम्बु-  
निरसनम् ।

प्राणिनो न भवन्ति, तथा एकस्य प्राणिनः  
विनश्यन्ति ते तैः प्राणिघातोपदेशकैर्न दृष्टा,  
यो भवति स दृष्टः, अतस्ते न केवलकारेवलिनो विशिष्टिवेकरहिताखेति । तदेव हस्तिहस्तिसम्बूद्धितापान्निराकृत्य भगवदनितक गच्छत्तमाद्देहारं महता कलकलेन लोकेनाभिष्टापमानं ते समुलभयाभिनवयैवीतः सर्वलक्षणसम्पूर्णो चनहस्ती ममुत्पन्नतयाभिन्निवेकोडचिन्तयत्, यथा—अपमाद्देहमारोऽमारुताशेषतीर्थो निष्प्रयूः सर्वजपादपवानितकं चन्दनाय वज्रति, तरोऽहमपि यज्ञप्रगताशेषप्रत्यन्धतः इयां तत एत सदापुत्रपाद्देहमारं प्रदृढतस्करप्रश्नं श्रोपेत तथा प्रगेयितानेकनादिगणमनित परमाया गत्येव यावद्दसौ हस्ती छत्रमकुलप्रतावत्वटत्र(ददितिव)टित्वमस्त्रप्रत्यन्धकृः प्रधानितः, चदनन्तरं लोकेन कृतहाहारयगम्भुलकलेन पृत्युतं, यथा—धित्य ! हतोऽपमाद्देहारो महर्णिमहापुण्यस्तदेवं प्रलग्नतो लोका हतयेतश्च प्रपलानाः, यमाग्रापि चनहस्ती समागत्यार्देककृपारामपीप भक्तिमम्ब्रमाचनामायता(यमा)गोचमाहो निष्पृतरुप्ता तालस्त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य निहितधरणीतलदृशताप्रमाणः स्पृष्टस्त्रायतचरणपुण्यलः सुप्रणिदितमनाः प्रणिपत्य महर्णि चनामिषुखं यगाचिति । तदेवनमाद्देहमारतोऽनुपमागाद्दन्धनान्युक्तं सपौरजनतपदः श्रेणिकराजस्तमाद्दकुमारं महर्णि तत्प्रपत्य अभिनन्द्य च प्रोताच-मगान् ! आथपर्यमितं यदमो वनहस्ती वाहुर्विवाचत्तुलो न्तुद्याच्छुद्दलाचन्धनाशुभ्रमतपःप्रमाणन्मुक्त इत्येतदतिकुरुकरमित्येवमधिद्वेष्टे आदेहमाराः प्रत्याह-मो अभिक्रमहाराज !

‘नैतदुक्तकरं यदसौ बनहस्ती बन्धनान्मुक्त, अपि त्वेतदुक्तकरं यस्तेहपाशमोचनं । एतच्च प्राणिन्युक्तिगाथया दर्शितप्, सा चेयं—  
‘+ न दुक्तकरं वा पारपासमोयणं, गथस्स मत्तस्स वर्णंमि रायं । जहा उ वत्तावलिप्ता तंतुणा, सुदुक्तकरं मे  
पडिहाइ मोयणं ॥ १ ॥’ एव माद्रकुमारो राजानं प्रतिबोध्य मगवदनिकं गत्वाऽभिवन्ध्य च भगवन्वं मक्तिपरनिर्भर  
आसाञ्चके । भगवानपि तानि पञ्चापि शतानि प्रवाज्य तच्छ्रियत्वे तोपनिन्ये इति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

सम्प्रतं समस्ताद्ययतोपसहाराध्यमाह—

बुद्धस्स आणाइ इमं समाहि, आर्दिस्स सुठिच्चा तिविहेण ताई ।  
तरिउं समुदं च महाभवोघ्यं, आयाण चंधं समुद्राहरिज्ञा तिवेमि ॥ ५५ ॥  
अद्वजं छहुं अङ्गयणं समत्तं ।

व्याख्या—‘बुद्’ अवगततर्चः सर्वज्ञो वद्दुमानस्तथामी, तस्यात्मा—तदगमेनेमं समाध्यं सद्वस्मर्चात्मिलशूण मत्ताया-  
स्मिश्च समाधौ सुष्टुस्थित्वा मनोनाकायश्च प्रणिहेतेनिद्र्यः स एवश्वृतः आत्मनः परेषां च ‘त्रायो’ त्राणशीलस्तायी चा

“न दुष्करमेतद्यत्तरपौर्यद्वमत्वारणस्य विमोचनं च त्वं राजत् ! । यत्तु मे प्रतिभाति दुष्करं यच्च तत्वाचलित्वेत लन्तुना  
मम प्रतिमोचनमिति” वृहद्व्युत्ति ।

गमनशीलो मोक्षं प्राप्ति, स एवमधुतस्तरीतुष्टिलहुय सपुद्दिमित दुस्तरं महाभवीं मोक्षार्थमादीयत इत्यादां-सम्यग्दर्शन-  
ज्ञानचारित्रलुपं, तद्विद्यते यस्यासाचादानवान् साधुः; स च सम्यग्दर्शनेन सता परतीर्थिकृतप्रसादुद्दिदर्शनेन मौनीन्द्रदर्शनाल-  
प्रचयवते, सम्यग्ज्ञानेन हु यथाचारित्यत्वस्तुप्रलयणतः समस्तप्राचारुक्तवादनिराकारोनापरेषां यथाचारित्यतमोक्षमार्गमाविमा-  
वयतीति, सम्यक्तचारित्रेण हु समस्तभूतग्रामहितेप्रितया। निरुद्धाश्रवद्वारः संस्तमेविशेषाचानेकमवोपार्जितं कर्म निर्जरयति  
स्वतेऽन्येषां चेवं प्रकारमेव धर्ममुदाहरेद्व्याघृणीयादाविभावयेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥ इति: परिसमाप्त्यर्थं, ब्रचीमीति पूर्ववत् ।

द्वितीये श्रुतं पष्ठ-  
इयने उपसंहार ।

इति श्रीपरमसुनिहितखरतरगच्छविभूषणपाठकप्रवर्तीमहसाधुराङ्गणसन्देशायां श्रीसुन्नकुताङ्गीपिकायां  
समाप्तेदमादेकमाराधयनं पृष्ठमिति ।

अथ सप्तमं नालन्दीयारुयमध्ययनम् ।

—→○—→—

व्याङ्ग्यां पृष्ठमध्ययनं, साम्रांति सप्तमं नालन्दीयारुयं समारम्भते अस्य चायमभिसम्बन्धः—

इह द्वितीयाङ्गे प्राक्तनेषु सर्वेऽवद्यध्ययनेषु स्वसमयपरस्परप्रस्तावार्णे प्रायः साधुतामाचारोऽभिहितोऽनेत् तु श्रावकगतो विधिरुच्यते, यदिवाऽनन्तराध्ययने परक्षादितिराकरणं कृत्वा साध्वाचारस्य य उपदेष्टा स उदाहरणद्वारेण प्रदर्शितः, हह तु श्रावकधर्मस्य य उपदेष्टा स उदाहरणाङ्गारेण प्रदर्शयते, यदिवाऽनन्तराध्ययने परतीर्थिकः सह वाद् इह तु स्वयूधैरित्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमइयनं प्रारम्भते, तथाहि—

ते पां काले पां ते पां सप्तमं रायगिहे नामं नगरे होत्था, रिद्धित्थिमियसमिक्षे वषणाओ जाव पाडिरुब्बे । तस्मां पां रायगिहस्स नगरस्स बाहिया उत्तरपुरचिछमे दिस्मीभाए, एत्थं पां नालंदानामं बाहिरिया होत्था, अणोगभवणसयसंनिविद्वा जाव पाडिरुवा [ सू० ३ ]

व्याख्या—सुगमं, नवर नालन्दा-इति नामना पाटकविशेषः समभृत् ।  
तत्थं पां नालंदापु बाहिरियाए लेवे नामं गाहावई होत्था । अष्टु दिने विने जाव

द्वितीये  
श्रुत ० समा-  
इयते वर्णनम् ।

स्थगडाङ्ग  
सं  
दीपि का  
नितम् ।

१३३ ॥

+ अपरिभूत । से णं लेवै नामं गाहाचर्दृ समणोवासए आवि होतथा । आभिगयजीवाजीवि  
जाव विहरइ । ×[निर्गंथे पावयणे निसंकिए निकंखिए निवितिगच्छे लङ्घटे गहियटे पुच्छियटे  
विणिच्छियटे अभिगहियटे अट्टिमिजापेमाणुरागरते, अयमाउसो ! निर्गंथे पावयणे अयं अट्टो  
अयं परमटे सेसे अणटे, उरिसयफलिहे अपाव(अवंगु)यदुवारे चियतंतेउरपवेसे चाउदसउद्गु-  
द्विद्गुणमासीणीसु पाडिपुणं पोसहं समं अणुपालेमाणे समणे निर्गंथे तहाविहेणं एसणिजेणं  
असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलामेमाणे बहूहि सीलब्ययुणविरमणपचक्खाणपोसहोवासेहि  
अपाणं भावेमाणे एवं च णं विहरइ ॥ सू० २ ]

तस्स णं लेवस्स गाहाचाइस्स तीए नालंदाए वाहिरियाए उतरपुरानिउमे दिसीभाए एवथ णं

+ ' जाव ' इत्यन " विच्छिक्षिपुलभगणसयणमण जाण गाहणाइणे बहुषणबहुजातरुवर ते आओग्रओगसंपत्ते  
विच्छिपउभतपणे बहुदासीदासगोमहिसगवैलगपभूते बहुजणस्स " इति पाठः प्रत्यंतरे ।

× [ ] पत्तिश्छान्तर्गतः पाठो नास्ति संवेदपि शीषिकादर्शाणु ।

सेसदीवियानां उदगसाला होत्था । अणेगर्वंभसयसंनिविट्टा पासादीया जाव पडिरुन्ना, तीसे ण  
सेसदीवियाए उदगसालाए उत्तरपुरचिठ्ठमे दिसीभाए एतथ णं हातियजामे नामं वणसंडे होत्था,  
किणहे वणणओ वणसंडस्त [ सू० ३ ]  
नयाख्या—शोपदव्याभिधाना-गृहोपशुक्करेपदव्येण कृता, एवंविधा ‘उदरुशाला’ पानीयशाला ‘तस्य’ लेपस्य  
गायापतेरासीत् ।

तर्सिस च णं गिहपदेसंसिस भयवं गोयमे विहरति, भगवं च णं अहे आरामंसि । अहे णं  
उदए पेढालपुत्ते[भगवं]पासाचाच्चिजे नियंठे मेतज्जे गोचेण, जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उचागच्छति,  
उचागच्छता भयवं गोयमं एवं वयासी—

नयाख्या—सुगमेवेति । गगचाचृ श्रीगौतमः साषुभिः परिवृतस्तस्मिन् चनपण्डे स्थित आसीत् । स उदको गोतम-  
स्वाभिसमीपं समागत्य मगवन्तमेवमवारीत्—  
आउसंतो गोयमा ! अतिथ खलु मे केह पएसे पुचिछयबे, तं च मे आउसो ! अहासुरं  
अहादरिसियं मे वियागरेज्जाहि सवायं । भयवं गोयमे उदयं पेढालपुत्त एवं वयासी—अवियाइं

ब्रह्मगढ़ास्त्रः

सुन्दरं

दीपिका  
निरतम् ।

॥ २४ ॥

आउसो ! सोचा निसम्म जाणिस्सामो । सचायं उदए पेढालपुते भगवं गोयमं एवं चयासी—

नयाख्या—आयुष्मन् गौतम ! ‘अस्ति’ गिथते मम कश्चित्प्रदेशः—पश्चः पृष्ठः, तत्र सन्देहात्, तं च प्रदेशं मम यथा श्रुतं मनवता यथा च भगवता सन्दर्शितं तेषम् मम—‘व्याघृणीहि’ प्रतिपादय एव पृष्ठः, स चायं भगवान् सचादं वा शीघ्रनभारतीकं चा प्रश्नं पृष्ठस्तमुदकं पेढालपुत्रमेवमवादीतच्यथा—अपि चायुष्मन्तुदक ! ‘श्रुत्वा’, भवतीयं प्रश्नं निशामय—चाचधायं च गुणदोषविचारणतः सम्यग्हं ज्ञास्ये । तदुन्यतं विश्वनं भवता सचादप्यायः । सचादपुद( कः )यः पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीतच्यथा—

आउसो गोयमा ! आहिथ लल्लु कुसारपुतिया नामं समणा निर्माणं पुरुषाणं पञ्चयाणा यसाणा गाहावाति समणोचासां उच्चसंपत्तं एवं पञ्चकखाचिंति—णणणत्य अभिनओषणं, गाहावतीं चोरगगहणविमोक्षणताए तसेहि पाणोहि निहाय दंडं । एवं हें पञ्चकखंताणं दुष्पञ्चकखायं भवत्वा । एवं हें पञ्चकखाचेमाणां दुष्पञ्चकखाचिं भवत्वा । एवं ते परं पञ्चकखाचेमाणा अतिथरंति सर्वं परिपणं, कस्त एं तं हेतुं ? ।

रुपाख्या—भो गौतम ! अस्तोति—विद्यन्ते सन्ति कुमारपुत्रा नाम निर्गुण्यं प्रवचनं प्रवदन्तस्तद्यथा—गृहपति

द्वितीये

श्रुत० सप्तमा-  
हयगते गोतमायो-  
दकेन उत्तः

प्रश्नः ।

॥ २४ ॥

श्रमणोपासकपूर्पमस्पन्नं-नियमायेलिथरमेवं ‘ प्रत्याख्यापयन्ति ’ प्रत्याख्यानं कारयन्ति—स्थूलेषु प्राणिषु ‘ दण्डं ’ विनाशं परिल्बद्य प्राणाति पातनि दृष्टिं कुर्वन्ति, एताचता स्थूलप्राणातिपातनिवृत्तिं कुर्वन्ति, अन्यत्र राजाद्यभियोगेन यः प्राणपू-पश्यो न तत्र निवृत्तिरिति, राजाद्यभियोगं विना स्थूलप्राणिवघनिवृत्तिः परमन्येषां स्थूलव्यतिरिक्तानां प्राणिना वधानुमतिप्रत्ययो दोषः स्यात् । एताचता त्रसप्राणिवघनिवृत्तौ कुरायामन्येषां प्राणिनामसुमतिदोषो लग्नीति भावः, इत्यागः[क्लावानाह]इन् ज्ञात्वा प्राह—

[‘गाहाचां’ इत्यादि, ] अस्य चार्थपूतरत्राविर्भागचित्यामः—अग्रे कथयित्यामः । ‘एवं हू’मित्यादि, एवमेव त्रम-प्राणिविशेषण[त्वेनापरत्रमभूतविशेषणरहितत्वेन प्रत्याख्यानं गृह्णनां श्रावकाणां दुष्टप्रत्याख्यान-भङ्गमङ्गाचाद्, प्रत्याख्यापयितामपि साधूनां दुष्टं प्रत्याख्यानदानं भवति, किमिति ? अत आह—एवं ते साधवः प्रत्याख्यानं कारयन्तः आवकाशं प्रत्याख्यानं गृह्णन्तः स्वां प्रतिज्ञामतिचरन्ति—आतिलङ्घयन्ति, एवं कुर्वतामेवं च कारयतं प्रत्याख्यानं भजयते । ‘कस्स णं तं हेउं’ केन कारणेन प्रतिज्ञामतिचरन्ति—प्रतिज्ञाभङ्गो भवति ? उद(क)य उचाच—

संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा थावरताए पचायांति, तसा वि पाणा थावरताए पचायांति, थावरकायाओ विष्पुच्चमाणा तसकायांसि उचवज्जंति तसकायाओ विष्पुच्चमाणा थावरकायांसि उचवज्जंति । तेस्मि च णं थावरकायांसि उचवज्ज्ञाणं ठाणमेयं घर्तं । [ सू० ८ ]

व्याख्या—सांमारिकाः स्वरुः 'प्रणा' बन्तवः स्थानाश पञ्चापि प्राणिनः सन्तोऽपि तथाविष्वकर्मीदया 'बन्तवः' त्रसत्वेन 'प्रत्यायान्ति' उत्पद्यन्ते, तथा त्रमा अपि स्थानावरतयोत्पद्यन्ते, एवं च परस्परगमने व्यवस्थिते सत्यवक्तुयस्माक्षी अत० सप्तमा-  
प्रतिज्ञाविलोपस्थथाहि-नामारिको मया न हन्तन्य एमभूता प्रतिज्ञा येन गृहीता म यदा बहिरारामादौ व्यवस्थितं नामारिकं द्युष्यन्ते उदको-  
व्यापादयेत् किमेतावता तथ्य न भवेत्प्रतिज्ञालोरः ३ एतमन्त्रापि येन त्रमवध्यनिवृत्तिः हता स यदा तमो त्रसं प्राणिनं स्थान-  
कायस्थितं व्यापादयेत् किं तस्य न भवेत्प्रतिज्ञाभः १ अपि हु भवतेषेवेत्यर्थः १ एतमपि स्थानरक्षामे समुत्पन्नानां व्रसानां क्रमप्रत्या-  
यदि तथाभूतं किञ्चिदमाध्यारणं लिन्दं स्थानावन्दने त्रयाः स्थानरक्षायात्प्रविषुद्यमानानाः-स्थानरक्षायापुणा विप्रमुकास्त(योग्येश्च)अपरैः  
कमपेष्यः गच्छित्पना त्रसकाये समुत्पद्यन्ते, तथा त्रमकायादपि गच्छित्पना विप्रमुक्यमानाः ( तदकर्मपिः ) स्थानरक्षाये समुत्प-  
द्यन्ते, तत्र चोत्पन्नाना तथाभूतनसलिङ्गामात्प्रतिज्ञालोप इतेषेतत्प्रवेण दर्शयति 'तेत्सि च णा' मित्यादि, तेषां-त्रसानां  
स्थानरक्षाये समुत्पन्नानां गृहीतत्रमशागतिप्रतिज्ञारोपदृतत्वमेवैतत्पन्नाः[स्थानाः]हयं स्थानं वात्यं भवति,  
यतः स्थानराघादनिवृत्यात्प्रवत्तमेवैतत्पन्नाः[स्थानाः]हयं स्थानं वात्यं भवति,

एवं परं पच्चक्खंताणं सुप्पच्चक्खावेमाणाणं सुप्पच्चक्खावियं भवद्द, एवं पहं पच्चक्खायं भवद्द, एवं भृतगत्रहन्तया हयानस्य शाराहस्य प्रतिज्ञामहः स्थान् ।

एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा नाइयरांति सर्यं पद्धतं ॥

वृथाख्या—नागरिकहशुन्नेत व्रम्मेव स्थानरत्वेनायां वृथापादपतोऽवश्यं प्रतिज्ञामङ्गः; यतस्तत एव मदुक्तया [वृथ्यमण]नीत्या प्रत्याख्यान कुर्वतां सुप्रत्याख्यानातं भवति । एवमेव च प्रत्याख्यानायां सुप्रत्याख्यानं भवति, एवं च प्रत्याख्यानं कुर्वन्तः कारणन्तश्च नाडितिचरन्ति स्वीयां प्रतिज्ञामित्येतदर्थ्यितुमाह—

नन्नतथ अभिओगेण गाहावईचोरणहणविमोक्खणयाए तसमूतोहं पाणोहिं निहाय दंडं, एवमेव सङ् भासाए परकमे विज्ञमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पञ्चकलाविति अयंपि नो उवएसे मे किं णोयाउए भवति ? अनियाइं आउसो गोयमा ! तु उभंपि एवं रोयति ?! [सू० ५]

वृथाख्या—तत्र गृहपतिः प्रत्याख्यानमेवं गृह्णति, तद्यथा—त्रमभूतेषु चर्चमानकाले त्रमत्वेनोत्पत्तेषु ‘दण्डः’ प्राप्णु-पमद्दस्त्वन्निहाय-परित्यज्य प्रत्याख्यानं करोति, तर्देह भूतत्वविशेषणात्सावरपर्यायापत्त्वात्पर्यायेऽपि न प्रत्याख्यानमङ्गः, गृहपतिचोरविमोक्षणन्यायेन, एवदपि युक्तमेव समयगुरुं, तर्देतदपि त्रसकाये भूतत्वविशेषणमभ्युपगमयतां, एतदस्मृप-गमे हि यथा क्षीरविकृतिप्रत्याख्यायिनो दधिमक्षणेऽपि न प्रतिज्ञाविलोपस्तथा त्रमभूताः सच्चान् न हन्तव्या इत्येवं प्रतिज्ञानतः स्थानरहिसायामपि ‘न प्रत्याख्यानातिचारः, तदेवं विद्यमाने सति ‘मापायाः’ प्रत्याख्यानतचाचः, ‘पराक्रमे’ भूत-विशेषणादोपरिहारमायेण एवं पूर्वोक्तया नीतया नति दोपरिहरणोपाये ये केचन कोघादा ‘परं’ श्रावकादिकं भूतशब्दनिविशेषणमेव प्रत्याख्यापयन्ति तेषामेवं प्रत्याख्यानं ददतां सृषाचादो मवति गृह्णनां चाचरणं मात्री ब्रतलोप इति,

तदेवायमपि 'नः' अस्मदैयोपदेशाभ्युगमो भूतवर्दिशेणविशिष्टः पश्चः किं भवतां नैव 'नेयायिको' न्यायोपपत्ते  
भवति ? इदमुक्तं गगति भूतवर्दिशेणत हि स्थानोत्पत्तान् हिमतोऽपि न प्रतिज्ञातित्वार इति । अपि च आयुष्मन् गौरिमा !  
तुम्हमपि रोचते एवमेतद्यथा यथा व्याख्याता । एषमधिहितो गौरिमः सदाचं मादाचं मादाच चा रम्भकं पेढालपुत्रमेवं वक्ष्य-  
माणमवार्दीतद्यथा—

सत्त्वायं भगवं गोवमे उदयं पेढालपुत्रं एवं व्यासी—आउसंतो ! उदगा ! नो खलु अमहं एवं  
एवं रोयति, जे ते समणा चा माहणा चा एवमाइक्खंति जाव परुञ्जिति, नो खलु ते समणा चा  
निगंथा चा भासं भासंति, अणुतानियं खलु ते भासं भासंति ।

न्यानया—आयुष्मन् उदक ! नो खलु अमध्यमेतदेवं, यथा तर्गोऽयते, तदोनते, उदमुक्तं भवति-यदिद व्रम-  
कायविरती भूतवर्दिशेण क्रियते तज्जिर्थं नक्तयाऽप्यमर्यं न रोकत इति । तदेवं व्यवस्थिते भो उदक ! ये ते अमणा  
चा व्याख्या चा एवं भूतवर्दिशेणत्वेन प्रत्यारुप्यानमानयते, परः पृष्ठास्तथेन गापन्ते प्रत्यारुप्यान स्वतः कुर्वन्त-  
स्तत्कारयन्तश्च गमिति मनिशेण प्रभारुप्यानं भाषते, गापेन मापान्ते न खलु ते अमणा चा निर्ग्रन्था ना  
यथायी भागां भागान्ते, अपि हु अनुतापिकां भागां भागान्ते, अन्यथाप्रह्लणं श्रोतुरत्तापो भगति, तेनादुतापिकेत्युड्यते ।

द्वितीये  
श्रुतं  
श्रीपिका-  
निरप् ।

श्रुतं  
श्रीपिका-  
निरप् ।

॥ १३६ ॥

अबभाइकर्खंति खलु ते समणे समणोवासए वा, जोहि वि अन्नोहि पाणोहि भूतोहि जीवेहि  
सतेहि संजसयंति, ताण वि ते अबभाइकर्खंति, कसस णं तं हेउं ? ।

व्याख्या—तेहि सविकोषेप्रथारुपानवादिनो यथावस्थितप्रत्यारुपान ददतः साधूरु गृहकर्तव्य आवकाच् ‘ अभ्या-  
रुपानित ’ अभूतदोषोद्भानतोऽन्नोह्यारुपान ददति । किञ्चान्यतु-येवप्यन्येषु पाणिषु भूतेषु जीवेषु सञ्चेषु ये ‘ संयमयनित ’  
संयमं कुर्वन्ति, तथ्या—त्रासणो न मया हन्तक्य इत्युक्ते स यदा चणन्ति रे तिर्यक्षु वा व्यवस्थितस्तदा तद्वधे व्रास्ताणवध  
आपव्यते, भूतशब्दानिशेपणात्, एन ते भूतशब्दविशेषणचाहिनोऽन्नाच् ‘ अभ्यारुपानित ’ दूषयनित । ‘ कसस णं तं हेउं,  
कसमाद्वेतोस्तदमद्भूतं दूषण भवति ? यस्मात—

संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति,  
तसकायाओ विष्पमुच्चमाणा थावरकायायंति उवचज्जंति थावरकायाओ विष्पमुच्चमाणा तसकायायंति  
उवचज्जंति, तेसि च णं तसकायायंसि उवचज्जाणं ठाणमेयं अघतं । [ सू० ६ ]

व्याख्या—मांमारिकाः खलु प्राणाः परस्पर जातिमङ्गमणभाजो मननित, यतख्साः प्राणाः स्थावरत्वेन प्रत्यायान्ति  
स्थावराश्च ब्रह्मत्वेनेति, त्रसकायाश्च सर्वात्मना त्रसापुष्टकं परित्यज्य स्थावरकामोपादानादुत्पद्यन्ते तथा-  
स्थावरकायाच्च तदापुष्टकादिना कर्मणा निषुच्यमानास्तसकाये सपुत्रपद्यन्ते, तेषां च स्थावर[ त्रस ] काये सपुत्रपद्यानां स्थान-

मेतहसरुयमयमयार्थं—न पाताहै पापिति, यसागेन शाचकेग नामवृद्धिप वत्याहयानं छतपस्ति, तद्यतीवाडायो—  
त्यादकुर्वाहो कुर्वित्वाचेति, तदागो इत्युक्तागतिताविवृत्यन्तिक्षिण्या च नेतृत्यन्तमयान्यं प्रार्थने, क्षारादेवपिति—  
इति, तदोऽप्यतया नवश्यानं पापगच्छिति । स्याराकामे यमुनवर्त्या यमानाशय वर्षपनितरमापक्षय स्याराकामावेऽपि  
कर्म न कर्त्ति, न प्रदयाक्षयापक्ष्य इति । तदोऽन भाद्रभिश्चांग मित्रिक्षणोदेशेनापि याणातिगतिक्षिणी क्षायापारा-  
पर्याणापक्षं प्राणिनं अपाक्षयो गत्ति, तदय त क्षयन्तेत्यर्थं रागालनं स्पात् इति । एतामस्याक्षयानभ्यु-  
दोपोद्धानं गत्तो यदिनो  
कर्कल आनिकर्त्तों, तवाहि—भृगवर्देऽपापानेऽपि वर्ति, तदाव द्वाकोक्षयं नवारपि त द्वाकोक्षयं  
यगपूर्वान्—यगपूर्वानांगोऽपाणितो याणितो याणातिगतिक्षिणः क्षण शारे, न त रागतिक्षिणि । अथाव नारजो भूषाहरोऽपि  
यथा शीर्तीभूषुद्ध शीर्तिश्चात्मा, एवं रागपूर्वानांगो याणातिगतिक्षिणः नारजो भूषाहरोऽपि  
अवैरपि विक्षेप भूषाहरोऽपादानं कियते विजित्यं समिक्षादः इति । तदेवं विद्वां भूषाहरोऽपि उद्ध षार—

सवायं उद्ध षेडालपुत्रो भयं गोपमं एवं वदासी—कृपरे लुलु ते आउसंतो गोवमा ! तुम्हे  
वयह तसा पाणा तसा अह अतहा ? सवायं भगवं गोयमे उद्यं पेडालपुत्रं एवं यासी—आउ-  
संतो उद्धगा ! जे तुम्हे वयह तसभूता पाणा तसा ते वयं वदामो तसा पाणा, जे वयं वदामो

दिवीते  
शुह०  
सप्तमा-  
दायने  
वमुखदावे-  
पूत शब्दो-  
वादानस्त  
निरपेक्ष-  
दत्तम् ॥

तसा पाणा ते लुब्भेवयह तसभूया पाणा, एते संति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्टा, किसाउसो ! इमे  
मे ( भवता ) सुप्पणीततराए भवति—तसभूता पाणा [ तसा ], इमे मे दुप्पणीततराए भवति—तसा  
पाणा [ तसा ], ततो एगमाउसो ! पडिकोसह एकं अभिनंदह, अर्यंपि भेदे से णो णोयाउए भवति ।

व्याख्या—‘सचाय’मित्यादि, सदाचं सगां वा उदकः-पेहालपुत्रो यगवन्तं गौतमसेवमवादीत्, तद्यथा-हे आयु-  
ष्मन् गौतम ! कतरान् प्राणिनो युं चदथ ? त्रसा एव प्राणः-शाणिनस्त एत् त्रसा: शाणः-उतान्यथेऽयेवं पुष्टो भगवान्  
गौतमस्तमुदकं पेहालपुत्रं एवमवादीत् आयुष्मन्तुदक ! यान् प्राणिनो युं चदथ त्रप्युवाह्य पत्वेनाविर्भूतः प्राणिनो,  
नातीताः नाष्येष्या; किन्तु वत्सानकाल एव त्रसा: प्राणा इति, तनेव वयं वदामहसाः-त्रसत्वं प्रासादत्वकालवर्तते एव  
त्रसा: प्राणा: ‘जे वय’ मित्यादि, यान् वयं वदामहसा एत् प्राणाह्यसा: प्राणास्तान् ययमेवं चदथ—त्रसभूता एत् प्राणः;  
एवं च व्यवस्थिते किमायुष्मन् ? युष्माकमयं पक्षः सुष्टु ‘प्रणीततरो’ युक्तियुक्तः प्रणीतासते ? तथा त्रसा एत् प्राणास्तमाः  
इत्ययं तु पक्षो दुष्प्रणीततरो ‘मवति’ प्रणीतासते भवता ? तद्यथा—त्रसभूता: प्राणाह्यसा:, त्रसा: प्राणास्तमाः, कोऽप्य मेदः ?  
एकार्थिका एते, एकार्थिकत्वेन भवतां कोऽयं व्यामोहो ? येन शब्दमेदपात्रमाश्रित्य एकं पक्षमाकोशय द्वितीयं त्वमिनन्दथ  
इति, तदयमपि तुवयेऽप्यथं सत्येकस्य पक्षस्याकोशनमपरस्याकोशनमित्युपदेशाभ्युपगमो भवतां तो नैयायिको—न न्यायो-  
पपनो भवति, उमयोरपि पक्षयोः समानत्वात्, केवलं सविशेषणपक्षे भूतशब्दोपादानं मोहमवह रीति । पुनर्षुदकं भवता—

त्रमानां वघनिवृत्तौ कारिताणां माघोरमुपतिदोपः स्थायरप्राणिपिण्यो लगाति, भूलगडाहुयनेऽन्तरमेव त्रमं स्थायरपर्यायपत्रम्  
न्यायादयतो व्रतभूल हटतेरदधि न किञ्चित्, तवपरिहर्तुकाम आह—

भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मण्टपसा भवाति, तेस्मि च णं एवं ब्रुतपुरुं भवाति—नो खलु चर्यं  
संचाप्तमो मुंडे भविता अगाराओ अणगारियं पवहतप, चर्यं पदं अणपुवेण गोत्तस्स लिसि-  
स्तामो, ते एवं संबंधं सावेति ते एवं संखं ठवयाति, नवतथ अभिओपणं ।

व्याख्या—भगवान् गौतमस्यामी पुनराह—सन्तेष्वे के केवल लघुत्तमणी मनुष्याः प्रवज्यां कर्तुपपाथ्याः प्रवज्यां  
निग्राघम्बै चिकीर्णाः साक्षीर्थमपादेऽन्तरानोद्यतस्याम्रा । इदमुक्तरूपं गताति, तथाहि—गोः माघो ! न खलु यं शक्तुमो  
मुण्डा मनितु—प्रवर्तयां गृहीतुं अगारादनगारां—साधुगारां प्रतिपत्तं, वयं व्याकुत्तुर्व्यंग—कपशो ‘गोंत्रं’ साधुत्तं, तस्य  
साधुभावस्य ‘परिणेण’ परिणाटयात्यमानगुरुलेपयामः । इदमुक्तं गताति—पूर्वं देवतारनिलम् आगकपर्म अतुगालगा-  
मस्तोऽनुकमेण पश्चान्द्रुपणपर्याप्तिति । तत एता ते ‘संहारा’, वयरप्य आरपन्ति । एव वयवर्ध्यं पत्याख्यानं हर्मनः  
, स्थापयन्ति, प्रकाशयन्ति ताम्यत जग्मित्येन, म न “रायाभिक्षमोगो गणाभिमोगो वलाभिम-  
ओगो शुक्लिगहो” इन्द्रे रायादिनाभियोगेन व्यापादपतोऽपि नसं त वतपदः । एव माधुपदेशेन प्रत्याख्यान कुर्वन्ति ।  
गाहाचारहृषगहणाचिमोक्खणताए ।

द्वितीये  
शुल० सप्तमा-  
ध्ययने त्रमवध  
प्रत्याख्यान  
कारापणे  
साधुत्तं  
स्थापन  
राष्ट्रात्मा-  
रोप निवा-  
रणम् ।

अस्यायमर्थः—रत्नपुरे नगरे रत्नशेखरो नाम राजा, तेन च परिदृष्टेन रत्नमालाऽप्रमाहिपो प्रमुखाऽन्तःपुरस्य कौमुदी-  
 महोत्सवे नगरस्थान्तः स्वेच्छाप्रचारोऽनुज्ञातः । तदवगम्य नागरलोकेनापि राजाऽनुमत्या शक्तीप्रस्थ तथेव  
 कीडुनमनुमतं, राजा च नगरे सहिंहिमशब्दगायोपितं, तदथा—अस्तपत्रोपरि कौमुदीमहोत्सवे प्रवृत्ते यः कश्चित्पुरुषो  
 नगरमध्ये स्थितः प्रचलनमुपलङ्घश्च तदा तस्य शरीरनिग्रहं करिष्यामि न केनाएविमन्त्रं विज्ञाप्तिः कायां नाहं तं मोहयामि,  
 हृत्येवं व्यवस्थिते सत्येकस्य वणिजः पटपुत्राः, ते पां च व्यग्रतया न निर्णयनमभृत् । ततस्ते मयमन्त्रान्ताः नगरमहय एवा-  
 तदनन्तरमेन स्थिगितानि च नगरद्वाराणि, तेषां च व्यग्रतया न निर्णयनमभृत् । राजाऽनुज्ञातः समाहयादिष्टाः, यथा—समयित्वा न यमत्र  
 स्तमानं गोपयित्वा स्थिताः । ततोऽतिक्रान्ते कौमुदीप्रचारे राजाऽनुज्ञातः समयह निरूपयक्तिरूपलभ्य पहचापित्वान्तो राजे-  
 कीमुदीप्रचारे नगरान्तः कश्चित्पुरुषो व्यवस्थित इति । तेरप्यादशक्तेः समयह निरूपयक्तिरूपलभ्य कृतिहृलोऽ-  
 निवेदितः । राजाऽप्यद्वामहकुपितेन तेषां पण्णामपि वधः समादिष्टः । ततस्तिपता पुत्रवधममाकर्णनगुरुयो कृतिहृलोऽ-  
 कालापतितकुलश्योऽन्तलोचनः किंकर्त्तव्यतामुहृत्याऽगणितविधेयविशेषो राजानपुपस्थितोऽचादीच गद्ददया गिरा,  
 यथा—गा कुथा देव ! कुलक्षयमरमार्कं, गृह्यतामिदमस्मदीयं कुलक्रमायातं स्वसुन्नोपार्जितं च प्रभृतं द्रविण जात, मुच्यता-  
 ममी पटपुत्राः, क्रियतामयमस्माकमतुग्रहः हृत्येवमधिहितो राजा तद्वचनमाकर्ण्य विशेषं पुनरपि वधमादिदेश । अमाचपि  
 वणिक् सर्वनधारुही समस्तमोचनानभिप्रायं राजानमवेत्य पञ्चानां मोचनं याचित्वान्, तानप्यसौ राजा न मोक्तुमना-  
 हृत्येवमवगम्य चतुर्मोचनकुत्ते सादर विद्वस्तवान्, तथाऽपि राजा तमनादृत्य कुपितवदन एव स्थितः । ततस्याणा विमोचने

卷之五

•

दीपिका-  
नितम् ।

二  
三〇八

कुतादरस्वहिताऽधूतानप्यमुक्तानं राजां शाहगणितस्यापराधो द्वयोर्द्विगोचनं प्रार्थिताम्, राजाभ्यासाप्रवानं द्वयति-  
यमयमय ततः पौरमहाचरममेतो राजानमोर्ण विभृताम् देव ! अभ्याकृतम् कुरुतेर्वा ! तस्माच्च भवत्त एव  
नानाणायां, अतः किंयतमेस्मिन्नप्राप्तिमोचनेन महामाद हडी भणिता पादयोः सपैरपदचमः पतितः, ततो राजापि महात-  
मातुकमेन मुक्तस्तदेवो उपेषुपत इति । तदेवनामय दृश्यन्तेऽप्य दाटिनिरुपोन्नेम, तपाय—गण्यनाऽप्युपातममग्रहं शन-  
मयमय आवकमस्विनप्राणतिपातनिरतिप्रायायायायितः, परं शारुः पूर्वनायरथलेऽपमर्यतया यदा न मर्याणामि-  
त्यावत्विति प्रतिपद्यते, यथाऽसौ गजा गणितोऽप्य विकलातोऽप्य विकलातोऽपि न पृष्ठपि पूर्वान् पृष्ठायति नाऽपि पञ्चन्तुष्ठिदिसंख्यानिति,  
तत एकनिमोश्येनात्मात्त लक्ष्यिति लक्ष्यितोऽस्तो, एवं यापोरपि आनकल्य यथाजक्ति वतं गुह्यतस्यदुरुह्य-  
मयायतदाचमपिहङ्क, यथा च तस्य गणितो न शोषुरामानुगतिकेऽप्येति एवं साधोरपि न योर प्राणियायामुमति-  
त्यजनितः कर्मचन्दो माति, किं तर्हि ? यदेव वतं यृदीन्वा यांगेव सच्चात् चादरात् सहदेवजप्राणातिपातनिष्ठृत्या इथ्यति-  
त्याजितिः कुशलात्मक्य एव इत्येतत्युद्देशेन दर्शक्यितमहा—

तसेहि पाणोहि निहाय दंडं, तंपि तेसि कुसलमेव भवति । [ सू० ७ ]

व्याख्या—नमेषु द्वीन्द्रियादि ‘निहाय’ दरित्यज्ञय व्रसेषु प्राणातिपातिरिति शुद्धीत्यर्थः; तदपि व्रसप्राणातिपाति-  
प्रेमणां व्रतं ‘तेषां’ देशविरचित्यागिणां कुञ्जन्मेव भवति । यत्र प्रापाभिदिं, तद्यथा ।—तपेष व्रतं इषान्तरायार्थं प्रापां

नागरिकमित्र चहिःस्थं व्यापादयतोऽवश्यं भावी ब्रतमङ्ग इत्येवत्परिहर्तुकाम आह—

तसा वि बुचांति तसा तससंभारकडेण कर्ममुणा नामं च णं अबभुवगतं भवति, तसाउयं च  
णं पलिखीणं भवति, तसकायद्वितीया ते ततो आउयं विष्पजहंति, ते तओ आउयं विष्पजहिता  
थावरत्ताए पचायंति । थावरा वि बुचांति थावरा थावरसंभारकडेण कर्ममुणा णामं च णं अबभुव-  
गतं भवति, थावरआउं च णं पलिखीणं भवति, थावरकायद्वितीया तो आउणं विष्पजहंति, ततो-  
आउणं विष्पजहिता भुज्जो पारलोऽयथत्ताए पचायंति, ते पाणा वि बुचांति ते तसा वि बुचांति, ते  
महाकाया चिराद्वितीया [ सू० ८ ]

व्याख्या—‘त्रसा’ द्वीन्द्रियादयोऽपि त्रमा उच्यन्ते, ते च त्रसाल्लमसम्भारकृतेन कर्मणा भवति, सम्मारो नाम  
अचक्षयतया कर्मणो विषाकातुमवेन वेदनं, एवं व्रसनामकर्मणा त्रमा अभिधीयन्ते, त्रसत्वेन यहप्रतिवद्मायुक्तं तय-  
दोदयप्राप्तं भवति, तदा त्रससम्भारकृतेन कर्मणा त्रमा हस्ति व्यपदिशन्ते । यदा [ च ] त्रमायुः परिक्षीणं भवति, त्रमकाय-  
स्थितिकं च कर्म यदा परिक्षीणं भवति, तत्त्वं जघन्यतोऽन्तमुहूर्चेषुत्कृष्टतः सातिरेकमागरोपममहसदयपरिमाणं, तदा,  
तत्त्वमकायस्थितेरभावाचदायुक्तं ते परित्यजन्ति, अपराणपि तत्प्रहचरिगति कर्मणीषि परित्यजन्ति व्यावरत्वेन प्रत्या-

यान्ति, स्थावरादि नाम च तवाऽप्युपातं भनति, अपराण्यपि तत्सहचरितानि मर्चात्मना त्रसत्वं परित्यज्य स्थावरत्वेनोन्नदेयं  
यान्ति इति, एवं व्यवस्थिते कथं स्थावरकायं व्यापादयतो गृहीतव्यमकायप्राणातिपातनिहृतेः श्रावकस्य व्रतमनः ? इति ।  
किञ्चान्यत् 'थावराउयं च ण 'मित्यादि, यदा तदपि स्थावरग्रुङ्कं परिक्षीण भनति [ तथा ] स्थावरकायस्थितिश्च, सा  
जघन्यतोऽन्तर्मुहुर्तमुत्कृष्टोऽनन्तकालमस्तुव्येष्यपुद्लपरावर्चा इति, ततस्तत्कायस्थितेरगावाचदायुक्तं परित्यज्य भूयः  
पारलौकिकत्वेन स्थावरकायस्थितेरभावात्रासत्वेन प्रत्यापान्ति । 'ते पाणा वि बुच्चन्ति' ते त्रपस्मारकृतेन कर्मणा  
समुत्पन्नाः सन्तुः सामान्यसंज्ञया प्राणा अध्युच्यन्ते, ब्रसा अध्युच्यन्ते, ते महाकाया योजनलक्षप्रमाणवृत्तिंकुर्वन्नाव, तथा  
चिरस्थितिका अध्युच्यन्ते, भवस्थित्यपेक्षया त्रयमित्यसागरोपमायुक्तमङ्गाचारु । ततस्त्रप्यर्यन्वयस्थितानामेव प्रत्याख्यानं  
तेन गृहीतं, न हु स्थावरकायव्यवस्थितानामपीति, यस्तु नागरिकहृष्टान्तो भवतोपन्यस्तोऽसावपि द्वादान्तदाईन्तिकयो-  
रसाम्यात्मेवलं भवतोऽनुपासितगुरुकृलवासित्वमाविकरोति, तथाहि-नगरधर्मेष्युक्तो नागरिकः, स च मया न हन्तुयः;  
इति प्रतिज्ञां गृहीत्वा यदा तमेव व्यापादयति चहिःस्थितं पर्यायापन्नं तदा तस्य किल व्रतमङ्ग इति भवतः पक्षः;, स च न  
घटते, यतो-यो हि नगरधर्मेष्युपेतः स चहिःस्थितोऽपि नागरिक एव, अतः पर्यायापन्नं इत्येतदिक्षेषणं नोपपद्यते । अथ  
सामस्तयेन परित्यज्य नगरधर्मान्तसौ वर्तते ? ततस्त मेवेत्येतदिक्षेषणं नोपपद्यते, तदेवमत्र व्रसः सर्वात्मना ऋसत्वं  
परित्यज्य यदा स्थावरः समुत्पद्यते तदा एवंपर्यायपरित्यागादपरपर्यायापञ्चत्वात्रास एवासौ न भवति, त[घ]या-नागरिकः  
पल्यां प्राविष्टदम्पैतत्वात्पूर्वपर्मपरित्यागान्नागरिक एवासौ न भवति । पुनरप्यन्यथोदकः पूर्वपक्षमारविष्टुमाह—

द्वितीये  
श्रुतं  
सप्तम-  
धयने  
पर्याया-  
पञ्चविंश-  
षणस्यात्-  
पपन्नत्वम् ।

सच्चायं उदए पेढालयुते भयवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो गोयमा ! नहिथ णं से केहि परियाए जद्दं समणोवासगस्त एगपाणातिवायाविरए वि दुडे निखिने, कस्सणं तं हेउं ?

व्याख्या—सद्दा[चं सच्चा]इमुदकः येहालपुन्नो भगवन्तं गौतमसेवमवाहीत्, वद्यथा—आयुष्मन् गौतम ! नास्त्यसौ कश्चित्पयायी येन एकप्राणातिवातविरतिविषये दण्डस्त्यको भवति श्रमणोपासकस्य, एतवता श्रावक एकां प्रागातिपात्र-प्रियां विरति ग्रहीतुं न शक्नोतीति माचः । करणं दर्शयति—

संसारिया खलुपाणा, थावरा वि पाणा तस्त्वाए पच्चायांति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायांति ।

व्याख्या—संभरणशीलाः परस्परं प्राणिनः, ततः स्थावराः सामान्येन त्रयतया प्रत्यापान्ति, त्रया अपि स्थावरतया प्रत्यापान्ति, तदेवं संमारिणां परस्परगमनं प्रदक्षयाधुता यत्प्रेण विवक्षित तदा।[विकुर्वन्ना]—

थावरकायाओ विष्टपुच्चमाणा सबे तसकायांसि उत्तवज्जांति, तसकायाओ विष्टपुच्चमाणा सबे थावरकायांसि उत्तवज्जांति, तेसि च णं थावरकायांसि उत्तवज्ञाणं ठाणमेयं घर्तं ।

व्याख्या—स्थावरकायाद्विप्रमुच्यमानाः स्थावरेभ्यो निर्गत्य भवेऽपि प्राणिनस्त्वेषु समुत्पद्यन्ते, स्थावरशूत्यं जगजातं तथा त्रेसेभ्यो विप्रमुच्यमानाः समेऽपि प्राणिनः स्थावरेषु समुत्पद्यन्ते, न कोऽपि त्रमो जगति लभ्यते, तेषां च त्रसानों सर्वेषां स्थावरकाये समुत्पद्यनां स्थानमेतद् धार्यं भवति, यतः श्वावरेण स्थावरवधानवृत्तिः कृता नास्ति, एताचता

स्थावरविनाशे स्थावरगड्ये उत्पचानां ब्रसानामपि विनाशो जायते, एवं कुरुत्रसन्धप्रत्याल्यानस्य श्रावकस्य ब्रवेभावः  
स्थावृ । एवमुक्त्वा रिथते उठके गौतमस्त्वामयाह—

सत्त्वायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुतं एवं वयासी—नौ खलु आउसो ! अस्माकं + वत्तव(एणं)-  
याए तु तु बं चेव अपुष्पवादेण आदिथु णं से परियाए जेणं समणोवासगस्स सब्बपाणोहिं सब्बमूपएहि  
सब्बजीवेहि सब्बसत्तेहि दंडे निलिते [भवह], कस्तु णं तं हेउं ? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा  
थावरत्ताए पञ्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पञ्चायंति, ते तसकायाओ विष्पमुञ्चमाणा सब्बे थावर-  
कायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विष्पमुञ्चमाणा सब्बे तसकायांसि उववज्जंति, तेति चणं तसकायांसि  
उववक्त्राणं ठाणमेयं अघतं, ते पाणा वि तु चंति, ते तसा वि तु चंति, ते महाकाया [ते] चिरटुतीया,  
ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपञ्चकलायं भवति, ते अप्पतरगा पाणा जेहिं समणो-  
वासगस्स अपञ्चकलायं भवति, से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवाटुयस्स पाडिविरयस्स,  
जातं तु तु भेव वा अलो वा एवं वदह—ननिथ णं सो[केह]परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणा-

द्वितीये

श्रुतं

सम्मा-

द्वयस्त्वं

गौतम-

स्वामि

स्वामिकृत

प्रत्युचरम्

+ “ अस्माकमितेत्तमगप्तेऽस्मी आगोपादाङ्गनाप्रसिद्धं सर्वतस्मैवाप्यते, वर्दिद्विति तयैवोद्दिवमिति ” वृत्तिकारमिता : ।

(इवा)ए वि दंडे निकिखते, अयंपि मेदे से नो नो आउए भवति । [सू० ९]

व्याख्या—गौतम उदकं पेहालपुरं प्रत्यक्षादीत्-नो खलु आयुष्मन् उदक । अहमकं सम्बन्धिता वक्तव्येन एतदस्तु, यद्यमवेऽपि त्रिसाः स्थानवेन प्रत्ययान्ति स्थानवाराः सर्वेऽपि व्रमत्वेन प्रत्ययान्ति, तथाहि—नेतद्गृहं न च भवति न कदाचिद्गविधयति, यदुत मर्वेऽपि स्थाना निलेपतया त्रमत्वं प्रतिपद्यन्ते, स्थानाणामानन्त्याज्ञानां चासंख्येयत्वेन तदाधारात्वातुपयत्तिः ॥ तथा त्रिसा अपि मर्वेऽपि न स्थानवत्वं प्रतिपक्षा न प्रतिपद्यन्ते, इदमुक्तं भवति—यद्यपि विगच्छिकालवच्चिनखिसाः कालपरीण स्थानरकायत्वेन यास्यन्ति तथाएपरापरत्वमेत्यर्थः ॥ त्रसजात्यनुच्छेदान्न कदाचिद्पि व्रमकायशूलः संमारो भवतीति सर्वथा निरुक्तिकं भवद्वचः ॥ भवद्वीर्य पक्षं भवदभिप्रायेणवनिराकियते—तदेव पराभिप्रायेण परिहरति—अस्त्यपौ पर्यायः; स चायं—मवदभिप्रायेण यदा गर्वेऽपि स्थानवारात्मसत्वं प्रतिपद्यन्ते यस्मिन् पर्याये—इवस्थाविशेषे अपणोपामकस्य कृतवस्त्राणातिपातनिवृत्तेः सतत्स्तुत्वेन [च] भवदभूपगमेन सर्वप्राणिनामुत्पत्तेस्तेश सर्वप्राणिभित्वत्वेन भूते-रूपन्नैः करणभूतेस्तेषु [च] विषयभूतेषु दण्डो ‘निक्षिपः’ परित्यक्तः ॥ इदमुक्तं भवति—यदा मर्वेऽपि स्थाना भवदभिप्रायेण व्रमत्वेनोत्पद्यन्ते तदा सर्वप्राणविषय प्रत्याख्यानां श्रमणोपामकस्य भवतीति ॥ एतदेव प्रश्नहृतं दर्गयितुमाह—‘कस्स णं तं हेउं ?’ इत्यादि सुगमं, यावत्क्रमकाये समुत्पन्नानां स्थानमेत-

× अनन्ताः स्थानवा अचलयाताना वसानां मध्ये क समान्ति ॥

दधात्य—यथाताहैं, तत्र विरतिमद्द्रवाचात् । ते च ब्रह्मा नारकविर्येन्द्रनरगतिभाजः सामाद्यसंज्ञया ग्राणिनोऽप्यभिधीयन्ते विशेषसंज्ञया ब्रह्मा[अपि] ग्राभिधीयन्ते[तथा] मद्वाताया; वैकियश्चरोरस्य योजनलक्ष्यप्राणत्वादिति । तथा चिरास्थितिरात्मय-सिंशत्सामारोपमपरिमाणत्वाद्वन्द्विथते; तथा[च] ने ग्राणिनो वहुतपा: यैः अमणोपासकस्य सुप्रत्याहृयान् भवति, व्रमादुद्विद्य तेन प्रत्याहृयान्तप्रहणात् । भगवन्मते मर्मस्यान्वराणा ब्रह्मवेतोत्पत्तेऽतस्तेऽलवतरकः ग्राणिनो, यैः श्रावकस्य अप्रत्याहृयानं भवति । इदमुक्तं भवति—अशशक्तदस्यागारनाचिह्नाच रात्नेन्येन ते वेष्टप्रत्याहृयानमिति । इतेन्यैः पूर्वोक्तया नीत्या ‘से’ तस्य अमणोपासकस्य महत्वात्सकृयादुपगान्तस्योरात्म्य प्रतिविरतस्य भवति । तदेन्यैः व्यपवस्थिते, पा’ भिति वाक्यालक्ष्मारे, यशूर्यं एदथ अन्यो ना कृश्चित्, यथा—नास्ति कोऽपि पर्याप्तो यन श्रावकस्य प्राणातिपात्रप्रत्याहृगानं भवति, अयमपि भवत्पक्षो नो नैयायिको—न युक्त इत्यर्थः । अथ श्रीगोत्तमस्त्रमातां स्यामरपर्याप्तक्षानां व्यापादनेऽपि न व्रतमनो भवतीत्यस्याद्यस्य ग्रस्ति देवे ददान्त्रियमाद—

भगवन्यैः च एं उद्दाहु नियंठा खल्लु गुच्छयव्या—आउसंतो नियंठा ! इह खल्लु संतेगतिया मणुस्सा भवन्ति, तोस्ति च एं एवं तुत्पुर्वं भवति—जे इमे मुंडे भाविता अगारा ओ अणगारियं पवहृया, एषासि च एं आमरणंताए दंडे निखिते, जे इमे अगारमावसंति एतेसि एं आमरणंताए दंडे नो निखिते, केहूं च एं (कैचित्) समणा जाच वासाइं चउपंचमाइं छहसमाणि अपपयरो वा भुजयरो वा देसं त्रयम् ॥ १४२ ॥

दितीये  
श्रुते०  
सप्तमा-  
ष्ययने-  
गौतम-  
स्वामुक्ते  
द्वाष्टात्-  
त्रयम् ।

॥ १४२ ॥

वा दृढ़जिता अगारमाचसेज्जा ? हंता वसेज्जा, तस्स पां तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे  
भग्गे भवति ? नो इणमटु समटु, एवामेव समणोवासगस्स वि तसेहि पाणोहि दंडे निखिते थाव-  
रेहि पाणोहि दंडे नो निखिते, तस्स पां तं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे नो भग्गे भवति ।  
से एवमायाणह ? नियंठा !, एवमायाणियं ।

एको वष्टान्तः, भगवान् गौतमस्त्रामी अपरानपि [तत्] स्थविरान् साक्षिणः कर्त्तुमिदमाह—  
मो उदक ! निर्गन्धा: [ युष्मतस्थविराः ] खलु प्रष्ठयास्त्रवयथा-मो निर्गन्धा ! युष्माकमण्येतदक्ष्यमाणमिमतं  
माहोस्त्रिल ? युष्माकमण्येतद्भिमेत्य यदहं चिम, तथाहि—सन्तयेकं मतुङ्ग्याः ये मुण्डा भूत्वाऽगाराप—गृहान्निर्गत्यानगारात्म  
प्रतिपन्नाः, ग्रवजिता इत्यर्थः, तेषामुपरि यावज्जीवमामरणान्तं मया दण्डो ‘निश्चिसः’, परित्यक्तो भवति, कोइश्च ?  
कश्चित्तथाविद्यो मतुङ्ग्यो यतीतुद्विद्य वर्तं गृह्णति, तथया—न मया यावज्जीवं यतयो हन्तन्वयः, एतावता यावज्जीवं यतीन  
हनिष्यामि, गृहस्थानुद्विद्य नियमो नास्ति, एवं च सति केचन मतुङ्ग्याः प्रवर्ड्यां गृहीत्वा श्रमणा जाताः कियन्तमपि  
कालं प्रवर्जयापयर्यं प्रतिपाद्य यावद्वर्षीणि चत्वारि पञ्च वा पृद् दश वा अल्पतरं वा कालं तथा देशं च  
'दृढ़जित्त'चि विहृत्य कर्मदियात्थाविष्वपरिणतेरगार—गृहस्था भवेयुरित्येवमधृतः पर्यायः किं  
सम्मानयते ? उत नेति, हत्येवं पृष्ठा निर्गन्ध्याः प्रत्युचुः—हन्त गृहवासं ब्रजेयुः, 'तस्य च' श्रावकस्य यतिव्यगृहीतवत्स्य

सुयगड़ाङ्ग-

सूतं

दीपि का-

निवरम् ।

‘तं’ युहं व्यापादयतः किं वरभद्रो गवेदुत नेति ? ततस्ते निर्भया आहूर्ते वतपत् इति । एतो न अपगो यावक्षयापि न सेपु दण्डो निश्चिपो न इथारेणिति, अतसं इयापापामापां व्यापादयनश्चतपत्याक्षयानभद्रो न भावीति । मामर्तं द्वितीयं दण्ठान्तं दर्शयितुकाम आह—

॥ १४३ ॥

भगवं च पां उदाहु—नियंठा खलु पुच्छियत्वा—आउसंतो नियंठा ! [ इह ] खलु गाहाचर्द्द वा गाहाचर्दपुत्रो वा तहपपगारेहि कुलेहि आगस्म धस्मस्तनणवत्तिं उवसंकसेज्ञा ? हंता उवसंकसेज्ञा, तेस्म एवं च पां तहपपगाराणं धस्मे आहिक्षिलयेवे ? हंता आहिक्षिलयेवे, किं ते तहपपगारं धस्मं सोचा निस्सम एवं वदेज्ञा—इणनेव निगंथं पाचयणं सचं अणुतरं केवलियं पाडिपुणं संसुद्धं नेयातुर्यं सल्लक्षणं सिद्धिमग्नं मुनित्समग्नं निजाणमग्नं अवितहमसंहिद्धं सतहुक्षयपर्हीणमग्नं, इत्थं टिया जीवा सिद्धाति बुद्धांति मुचांति परिनिवायंति सवदुक्षलाणमांतं केऽति, तमणाए तदा गच्छामो तदा चिद्गामो तदा निसियामो तदा चुयद्वामो तदा भासामो तदा अवभु- द्वेमो तदा उद्गाए उद्गेमो ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं संजमेण सत्ताणं संजमामो ति वदेज्ञा ? हंता वप्जा, किं ते तहपपगारा कपंति पवाचित्तए ? हंता कपंति, किं ते तहपपगारा कपंते मुंडावित्तए ?

द्वितीये  
शुर्वं  
लापामा-  
हायने-  
शाद्-  
वगमक्षे  
द्वितीयं  
द्वषान्तं  
सामर्तं

हुंता कर्पंति, किं ते तहपगारा कर्पंति सिक्खावित् ? हुंता कर्पंति, किं ते तहपगारा कर्पंति उवद्दावित् ? हुंता कर्पंति, तेस्मि च णं तहपगाराणं सबपाणोहि जाव सबस्तोहि दंडे निखिते ? हुंता निखिते, से णं एयाहूवेण विहारेण विहरमाणा जाव वासाहुं चउपचमाहुं छद्दसमाणी वा अपतरो वा भुजतरो वा देसं टूङ्गजिता अगाहुं बहुजा ! हुंता बएजा, लक्षणं सबपाणोहि जाव सबस्तोहि दंडे निखिते ? णो तिणहुं समहुं, से जे से जीवे जस्त परेणं सबपाणोहि जाव सबस्तोहि दंडे निखिते, से जे से जीवे जस्त आरेणं सबपाणोहि जाव सबस्तोहि दंडे निखिते, से जे से जीवे जस्त इदाणि सबपाणोहि जाव सबस्तोहि दंडे नो निखिते भवहुं, परेणं असंजए, आरेणं लंजए, इदाणि असंजए, असंजयस्त णं सबपाणोहि जाव सबस्तोहि दंडे नो निखिते भवति, से एवमायाणह ?, नियंठा !, से एवमायाणियवं ।

भवति, से एवमायाणह—गृहस्था गौतमसतिरके [समाहाय] धर्मश्रूत्या मध्यरुं प्रतिपथ तदुत्तरकालं व्याहूया—भगवानेव गौतमसत्त्वमयह—गृहस्था गौतमसत्त्वमयह—गृहस्था: सर्वाऽरम्भप्रवृत्तास्तदारतः सज्जात्वैराग्याः प्रवज्यां गृहीत्वा पुनस्तथाविष्फलमोदयात्प्रवज्यां व्यजनित, ते च पूर्वं गृहस्थाः सज्जात्वैराग्याः प्रवज्यां गृहीत्वा पुनस्तथाविष्फलमोदयात्प्रवज्यां व्याहूयात्प्रवज्याः, तदेवं प्रत्याहूयात्प्रवज्याः प्रवज्यात्वामि मति तो परित्यक्तदण्डाः, पुनः प्रवज्यापरित्यक्तदण्डाः

भूयगडाङ्ग-  
सुनं  
दीपिका-  
न्निरचम् ।

॥ २४८ ॥

स्थानेऽप्यन्यथात्वं भवत्येवं ब्रह्मस्थानरोरपि द्रष्टव्यम् । एतच्च ‘अगचं च णं उदाहु’ इत्यादिग्रन्थस्य ‘से एव-  
मायाणियचं’ इत्येतत्पर्यक्षमानस्य तात्पर्यम्, अक्षरघटना तु सुगमेति स्वयुद्धया कार्या । तदेव द्वितीयं वृष्टान्तं  
प्रदद्यन्धुना दृतीयं वृष्टान्तं परतीर्थिकोद्देशेन दर्शयितुमाह—

अगचं च णं उदाहु नियंठा रवलु पुच्छयवा—आउसंतो नियंठा ! केहु रवलु परिवायगा [वा]  
परिवाहयाओ वा अन्नयरेहिं तो तित्थाययणोहिं तो आगस्तम धस्मसवणवात्तियं उचसंकमेज्जा ? हंता  
उचसंकमेज्जा ।

व्याख्या—भगवान् गौतमस्वामी कथयति निर्गन्धा : पृष्ठया: निर्गन्धात्रिदिव्य पृच्छति—भो आयुषमतो निर्गन्धा !  
इह जगति कश्चित् परिवाजकः परिवाजिता वा अन्यतीर्थीयरनादागत्य साधुसमीपे धर्मं शोत्रुमुपसङ्क्रमते ? निर्गन्धा वदन्ति  
उपसङ्क्रमते, वादयस्य परिवाजकस्य कथयते धर्मसः ? हंतत कथयते, तमुपस्थापयितुं करवते ? हंतत करवते ।

किं तोसे तहपगाराणं धर्ममे आइविलयवे ? हंता आइविलयवे, तं चेव जाव उवद्वावित्तए,  
[कर्पंति ? हंता कर्पंति] किं ते तहपगारा कर्पंति संभुजित्तए ? हंता कर्पंति, तेणं एयारुवेण  
विहारेण विहरमाणा तं चेव जाव अगारं चप्जा ? हंता चप्जा, तेणं तहपगारा कर्पंति संभुजित्तए ?

तीये  
श्रुतं  
समाप्तं  
द्वयते  
आद्व-  
वता भेजे  
दृती यं  
द्वप्यान्तम् ।

॥ १४८ ॥

त्तए ? जो तिणमट्टे समट्टे, से जे से जीवे जे परेणं नो कटपइ संभुजित्तए, से जे से जीवे आरेणं कटपइ संभुजित्तए, से जे से जीवे जे इदाणीं णो कटपति संभुजित्तए, परेणं अस्समणे आरेणं ससणे, इदाणीं अस्समणे, अस्समणे नो कटपति समणाणं निगंथाणं संभुजित्तए, से एवमायाणह नियंठा ! से एवमायाणियबं [ सू० १० ]

व्याख्या—ते परिव्राजकाः साधुत्य ग्रासाः सनतः उपविशन्ति ? हन्त उपाचेशन्ति, को दोषः ? पुनस्तथाविशकम्—  
दयासाधुमाणं त्यक्षत्वा गृहवामङ्गीकुचेन्ति ? हन्त कुचेन्ति, ततः मण्डलयामुपवेशयितुं कलपते ? निर्मन्था ऊरुः—  
' नो तिणट्टे समट्टे' इत्यादि सर्वे सुगमम् । तत्पर्यर्थस्तत्वं पूर्वं परिव्राजकादयः मन्तोऽस्मभेदयाः साधुनां गृहीत-आमण्डाश्च साधुनां सम्भेदयाः संधुत्ताः, पुनः प्रवद्यत्यामादमस्मोरया हत्येवं पर्यायात्यथात्वं त्रसस्थाचरणामध्यायोजनीयमिति । यदा त्रसः स्थावरेषु त्पत्त्वस्तु दा स्थावर एव, न त्रसः, यदा पूर्वं त्रसोऽभृतदा तस्य वधः प्रत्याह्वयातोऽभृत्वा आवकेण, यदा स एव त्रसः स्थावरतयोत्पत्त्वस्तु दा न प्रत्याह्वयात्वं स्थावरधाते, यदा पुनः स्थावर कायानिगंत्य सोऽजन्ति तदा पुनः प्रत्याह्वयानमिति, तदेवं निर्दोषां देशविवरति प्रसाइय पुनरपि तद्वत्मेव विचार कर्तुकाम आह—  
भुगावं च णां उदाहु संतेगतिया समणावासगा भवन्ति, तेस्म च णं एवं तुत्पुर्वं भवन्ति नो खलु वंचं

संचाएमो मुंडा भविता अगाराओ अणगारियं पबइत्तए, वयं पां चाउहसदुमुहिदुपुणमासिणीसु-  
पाडिपुणं पोसहं सरमं अणुपालेमाणा विहिरिस्तामो, थूलगं पाणा हवायं पचकखाइस्तामो, एवं  
थूलगं मुसाचायं थूलगं अदिन्नादणं थूलगं मेहुणं थूलगं परिगाहं पचकखाइस्तामो, इच्छापरि-  
माणं करिस्तामो, दुविहं तिर्तिविहेणं, मा खलु मम अट्टाए किंचिंचिकरेह वा करावेह वा, तथं वि-  
पचकखाइस्तामो, ते पां—अभोचा अपिठचा असंदीपेहियाओ पचबोरहिता, ते तहा  
कालगता किं वत्तवं सिया ? सरमं कालगतति वत्तवं सिया, ते पाणा वि बुचंति ते तसा वि  
बुचंति ते महाकाया ते चिराद्वितीया ते वहुतरगा पाणा जोहि समणोचासगस्स सुप्पचकखायं  
भवति, ते अपतरगा पाणा जोहि समणोचासगस्स अपचकखायं भवति, इति से महयाओ  
जपणं लुठमे वदह तं चेच, जाव अयंपि भेदे से पो ऐयाउए भवति ।

व्याहया—पुनरपि गौतमसाम्युदकं प्रतीदमाह, तथाहि—यहुभिः प्रकारेत्तमपद्वाचः समग्राव्यते, ततश्चाशून्यस्ते:  
संसारः, तदशून्यत्वे च [न]निर्विषयं श्रावकस्य न्रसवधनिवृत्तिरूपं प्रत्यालयानं, तदधुना चहुपकारत्वसम्पूर्याऽशून्यता  
संसारस्य दर्शयति, भगवानाह—सन्ति एके केचन श्रमणोपासका भवति—सम्भावयते श्रावकाणा-  
शून्यत्वं दर्शयति ॥

द्वितीये श्रुतं सप्तमा-  
ध्ययने गौतम-  
स्त्रामी उदकं प्रकि-  
संसारे ऋषीजी-  
नाम-  
शून्यत्वं दर्शयति ॥

सेवकभूतस्य वचसः सम्भव इति, तद्यथा—न खलु वर्यं शक्तुमः प्रवद्यां गृहीतुं, किन्तु वर्यं चतुर्दशयष्ट मीपूर्णमासीषु सम्पूर्णे  
 पौपध + सम्यग्दुपालयन्तो विहरिष्यामस्तथा स्थूलप्राणातिपातमृषावादादत्मेशुनपरिग्रहं प्रत्याहयास्यामो ‘दिविष्व’—  
 मिति कृतकारितप्रकारद्वयेन, अतुमते: आचकस्याप्रतिपिद्धत्वात्था ॥ विविषेन’ मनसा वाचा कायेन च तथा ‘मा’  
 इति निषेधे, खलु निश्चिं पौपद्यस्थस्य पचनपाचनादिकं मम मा काएँ, तथा परेण मा कारयत तत्राऽनुगताच्चपि सर्वशा-  
 यदसम्भवित्वप्रत्याहयास्यामः, ते एवं कृतप्रतिज्ञाः सन्तः शाचकः अपीत्वा असनाहत्वा च पौपद्योपेतत्वादासवदी-  
 पीठिकातः प्रत्याहुस्याऽवतीर्यं सम्यक् पौपद्यं गृहीत्वा कालं कृतवन्तस्ते तथा प्रकारेण कृतकालाः सन्तः सम्यक्कृतकाला-  
 उच्यन्ते ? किंना अमयक् ? कथं च वक्तव्यं स्यात् ? इत्येन वृश्टिनिर्गृह्णेत्वप्रसं वक्तव्यं स्यात्—सम्यक्कालगता इति एवं च  
 कालगतानामवर्यं भावी देवलोकेषुत्पादस्तद्वृत्पन्नाश्च ते त्रसा एवं, ततश्च कथं निर्विषयता प्रत्याहयानस्योपासकसमेति ? ।  
 एवं च वहनो जीवाः येषा आचकस्य प्रत्याहयानं स्यात्, ते स्तोका येषु विषये न प्रत्याहयानं, एवं शाचकस्य गहवल्लस-  
 कायादिशतिरस्ति, त्रसस्थृणो महान् यत्नः शाचकस्य विराघनायाश्च विरतिः । एवंविषयस्य शाचकस्य भवद्विद्वन्यते—नास्ति  
 स कोऽपि पर्यायो यत्र शाचकस्य प्राणातिपातप्रत्याहयानं स्यात्, एतद्वद्वचो न न्यायोपचारिति । पुनरन्यथा  
 शाचकोद्देशेन प्रत्याहयानस्य विषयं प्रदर्शयितुमाह—

+ “ आहारशरीरसंतकारब्रह्मचर्यान्वयापारखल्पम् ” इति वृत्तिकाराः ।

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया समणोचासगा भवन्ति, तोसं च णं एवं बुत्पुर्वं भवइ नो  
खलु वयं संचाएमो मुँडा भविता अगाराओ जाव पबहेतए, नो खलु वयं संचाएमो चाउहेतडु—  
मुहिद्दुपुणमसिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरितए, वयं णं अपचिछमसारणंतियसंलेहणा-  
झूसणाझूसिया भत्तपाणपडियाइकिखया जाव काळं अणवकंखमाणा विहरिस्तामो, सर्वं पाणाइ-  
वायं पठचकखवाइस्तामो जाव सर्वं पारिगाहं पञ्चकखवाइस्तामो तिविहेण मा खलु सम अट्टाए  
किंचित्वि जाव आसंदीए पेहियाओ पञ्चोरुहता ते तहा कालगता किं वत्तवं सिया ? समं काल-  
गता इति वत्तवं सिया, ते पाणा वि बुचांति जाव अयंपि भेदे से णो नेयाउए भवइ ।

द्वितीये श्रुत० सम्मानयने श्रावकस्य व्रसन्ध निवृत्तस्य विषयतां प्रतिपाद-  
यति ।

व्याख्या—गौतमस्तगामगाह, तथा ‘सन्ति’ विद्यते ‘एके’ केचन श्रमणोपासकाः, तेऽपि चेतदुक्तपूर्वं भवति, तथाहि-  
खलु न यक्तुमो वयं प्रवज्ञां गृहीते नापि चतुर्दशयादिषु समयहूं पौष्यं पालयिते, वयं चापश्चिमया संलेखनाक्षणया  
क्षमितरायाः सन्तो भक्तपानं प्रत्यारन्याय ‘काळं’ दीर्घकालमनवकाङ्गमाणा विहरिष्यामः । इदपुक्तपूर्वं भवति, तथाथा-  
न खलु वयं दीर्घकालं पौष्यादिकं व्रतं पालयितुं समयः; किन्तु वयं सर्वमपि ग्राणातिपातादिकं प्रत्याख्याय संलेखनासंलि-  
खितकायाश्रुतिविषाहारपरित्यगेन जीवितं परित्यक्तुमलमिति, एतत्प्रत्येष्ठेन दर्शयति—‘ सर्वं पाणाइवाय ’मित्यादि ॥ १४६ ॥

सुगमम् । यावते तथाकालगता: किं चक्कव्यमेतत्स्थातु-सम्यक् ते कालगता: ? इति, एवं पृष्ठा निर्गन्धा एतद्द्वर्यथा ते सन्मनसः:-शोभनमनसस्ते कालगता इति, ते च सम्यक् संलेखनया यदा कालं कुर्वन्ति तदाऽचक्षयमन्यतमेषु देवलोकेषु व्याप्त्यन्ते, तत्र चोपक्षा यद्यपि व्यापादधितुं न शक्यन्ते तथापि त्रस्तव्याचे श्रावकस्य[त्रस]व्यधनिवृत्तस्य विषयतां प्रतिपद्यन्ते ।

पुनरप्यन्यथा प्रत्यारब्धः। नस्य विषयमुपदर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया मणुस्त्वा भवन्ति तं जहा—महेन्द्रला महारंभा महापरिग्रहा अहमित्या जाव दुष्पलियाणंदा जाव सद्बाओ परिग्रहाओ अपलिविरता, जावजीवाए, जैहं समणो-वासगस्त आयाणसो आमरणंताए देहे निखिते, ते ततो आउगं विष्पजहांते, ते तओ भुजो-सगमादाए दोगतिगमिणो भवन्ति, ते पाणा वि वुच्चन्ति । ते महाकाया [ते] चिरटितीया, ते बहुतरगा पाणा, जाव जं णं तुवमे बद्ध ह तं चेव, अयंपि भेदे से णो नेयाउए भवति।

व्यालया—मगवानाह—‘एके’ केचन मतुर्या एवमभूता भवन्ति, तेया—महेन्द्रला महारम्भा महापरिग्रहा इत्यादि उगमं, येयेषु चा श्रमणोपासकस्य ‘आदान’, प्रथमवत्प्रहणं, तत आरभ्याऽपरणान्तं दण्डो ‘निक्षिप्तः’, परित्यक्तो भवति, ते च तादिग्निघास्तस्माद्वात्कालात्यये स्वामुं त्यजन्ति, त्यक्त्वा त्रसजीवितं ते भूयः ‘स्वकर्म’ स्वकृतं किलिप-

स्वपगडाङ्गा-  
सुनं  
दीपि का-  
निवतम् ।

॥ १४७ ॥

मादाय—गृहीत्वा दुर्मितिगमिनो भवन्ति । एतद्दुक्तं भवति—महारम्भपरिग्रहत्वाचे मुराः पुनरन्यतरपुश्यिन्यां नारकत्र सत्वे नो-  
त्पयन्ते, ते च सामान्यसंज्ञया प्राणिनो विशेषसंज्ञया त्रसाः महाकायाश्चरस्थितिका हृत्यादि पूर्ववत्, यान्त्र ‘नो गोआ-  
उएचि’ । पुनरप्यन्तेन प्रकारेण प्रत्याहृत्यानस्य विषयं दर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया मणुस्सा भवन्ति [तं जहा] अणारंभा अपारिग्रहा धारिमया  
धर्ममणुया जाव सब्बाओ परिग्रहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जोहिं समणोवासगस्स आया-  
णसो आमरणंताए दंडे निलिखते, ते तओ आउयं विषपजहांति, ते तओ भुजोसगमादाए सोगति-  
गमिणो भवन्ति, ते पाणा विं बुच्चांति जाव णो गोयाउए भवति ।

व्याख्या—भगवानाह—सत्त्वेके मनुष्याः महारम्भपरिग्रहादिभ्यो विषयस्तः सुखीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः साधव  
हृत्यादि सुगमं, यान्त्र ‘नो णोयाउए भवन्ति’ एते च सामान्यश्रावकास्तेऽपि त्रैतेष्वृत्पयन्ते अतोऽपि च  
निर्विषयं प्रत्याहृत्यानमिति । किञ्चान्यत्—

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया मणुस्सा भवन्ति, तं जहा—अपिच्छुदा अपारंभा अपारिग्रहा  
धर्ममणुया धर्ममणुया जाव एगढ़चाओ परिग्रहाओ अपडिविरया, जोहिं समणोवासगस्स आया-

द्वितीये  
शुद्धं  
दीपि का-  
निवतम् ।

शुद्धं  
समान-  
द्वयन्ते  
प्रत्या-  
त्वयानस्य  
विषय-  
दशनम् ।

॥ १४७ ॥

णसो आमरणंताए दुंडे निखिते । ते तओ आउ[ग] विष्पजहंति, आउयं विष्पजहिता भुजोसग-  
मादाए सुगगइगामिणो भवंति, ते पाणा वि तु चंति जाव नो गेयाउए भवंति ।

व्याख्या—पतेऽपि अलपलोभा अलपरिष्या अलपारम्भा चार्मिकः प्राणतिपातादेकदिमन् पते विरता एकते  
अविरता अतो विरताविरता उद्यन्ते, अपणोपासकृश्य येषामामरणान्तवाहणो निषिद्धिर्दित, ते विरताविरता: स्वमायुस्तय-  
वत्वा सहतिगामिनो जायन्ते—देवेषुत्पवन्ते । ते तत्रस्थाः प्राणास्तथा त्रया महा कायाश्चिरस्थितिकाशोऽप्यन्ते ते तानपि  
न धनन्ति । अतो यद्ग्रन्थोच्यन्ते नास्ति स कोऽपि पर्यायो यत्र शावकस्य प्राणतिपातविरतिः स्याचन्मृपा । ‘अयं ऐक्ये  
से नो गेयाउए’ इत्यादि सर्वत्र योजयम् ।

भगवं च पां उदाहु संतेगतिया सणुस्ता भवंति, आरणिण्या आवसहिया गामणियंतिया  
कण्ठुई रहस्या, जोहुं समणोचासगस्त आयाणो सो आमरणंताए दंडे निखिते, ते नो बहु-  
संजया नो बहुपादिविरता पाणभूयजीवससेहि अविरया, ते अटपणा सत्त्वामोसाइं एवं विष्पडिं-  
वेदेंति— अहं न हंत्वा अत्रे हंत्वा, जाव कालमासे कालं किछ्चा अज्ञयराइं आसुरियाइं किवि-  
सियाइं जाव उवचतारो हवंति, तओ विष्पमुच्चमाणा भुजो एलमूयत्वाए तमोरुवत्ताए पुच्चा-

मूर्यगडाङ्गा  
सुनूँ

दीपिका-  
चित्रम् ।

॥ २४८ ॥

यंति, ते पाणा वि बुच्चांति जाव नो ठोयाउए भवति ।

बुयाल्या—गीतमस्नामयेव प्रत्यारुपानस्य विषयं दर्शयितुगाह—‘एके’ केचन मरुड्या: एवमभूता भान्ति, तथा—  
आरण्यकास्तीर्थिं कविशेषास्तथा आवामयिकास्तीर्थिं कविशेषा एव तथा ग्रामनिमित्तकास्तथा ‘कहनुई रहस्तिस्य’ ति-  
कचित्कार्ये रहस्यकाः पते सर्वेऽपि तीर्थिं कविशेषास्ते च नो बहुमंयताः हस्तपादादिक्रियासु, तथा लालानरणीया ब्रह्मत्वात्  
बहुविरताः सर्वप्राणभूतजो च सत्त्वेऽप्यस्तत्सर्वगपरिहानाचद्धधादविरता हृत्यर्थः । ते तीर्थिं कविशेषा बहुसंप्रताः स्वतोऽविरतः  
आत्मना सत्यास्तुपाणिं वाक्यान्वेनमिति वक्ष्य माणीत्या ‘ग्रीषुआन्ति’ प्रपुज्ञन्ति ‘एवं विष्पद्विवेदंति’ + एवं विविध-  
प्रकारेण परेषां ग्राम्य[ति]वेदयन्ति—ज्ञापयन्ति, तानि पुनरेवमभूतानि वाक्यानि दर्शयति, तथा—अहं न हन्तव्योऽन्ये पुनर्हन्त-  
वयासत्याऽहं नाहापरितन्योऽन्ये पुनराशापयितव्या डव्यादोन्युपर्देशगच्छयानि ददति, ते चैनमेवोपदेशादायिनः क्षीकामेषु  
मूर्च्छिताः गृद्धा यानद्वपणि चतुःपञ्चमानि पद्मदशगानि राऽतोऽप्यवलपतरं चा प्रभूततरं चा कालं भूतता उत्कट[ १ भोगा ]  
मोगमोग[स्ताँ]स्ते तथाभूताः किञ्चिद्दज्जानतयःकारिणः कालमासे कालं भूत्याऽन्यतरेषु आसुरीमेषु स्थानेषु किलिनिषि-  
केऽप्यमुरदेवाधमेषु पूरपत्तारो भग्नानि, यदिग्मा प्राणपूरपत्तारो देशदायिनो भोगमिलापुकाः ‘अप्यर्थंपु’ नित्यान्त्यकारेषु किलिनिष-  
प्रधानेषु नरकस्थानेषु ते सम्पत्यन्ते, ते च देवा नारका ना व्रस्तर्वं न व्यभिचरन्ति, तेषु च यद्यपि द्रव्यप्राणतिपातो न

+ “कचित्पाठोऽस्यायर्थः” इतिष्टृतो ।

द्वितीये

श्रुतोऽ-  
ससमा-  
इयनेऽ-  
प्रत्या-  
रुप्यान-  
विषय-  
दर्शनम् ।

॥ १४८ ॥

समवति तथापि ते भावतो यः प्राणातिवातस्तद्विरतेऽप्यतां प्रतिपद्यन्ते, वरोऽपि च देवलोकाहुता नरकादा निर्गताः  
हिष्पत्येन्द्रियतिर्थु तथाविषमगुणेषु च एडमृकृतया एडमृकृतया न मुत्पद्यन्ते, तथा ‘तमोरुचत्ताए’ ति अन्धवधिरतया प्रत्या  
गमित, ते वोगयोरप्यवस्थयोऽस्मत्वं न वयमिवरन्ति, अतो न निर्विपर्यं प्रत्याहयानं एतेषु च द्रव्यतोऽपि प्राणातिपातः  
समवतीति । सामग्रं प्रत्यक्षसिद्धमेव विरतेऽप्यत दर्शयितुमाह—

भगवन् च एं उदाहु संतेगतिया पाणा दीहात्या जोहिं समणोवासगस्स आयाणसो  
[ आमरणंताए ] जाव [ दंडे ] निकिखते [ भक्तह ] ते पुवामेव कालं करिति, करिता पारलोह्य-  
त्ताए पञ्चायंति, ते पाणा वि तुच्चायंति ते तसा वि [ तुच्चायंति ] ते महाकाया ते चिरटुटिया ते  
दीहात्या ते चहुतरणा जोहिं समणोवासगस्स [ सुपच्चक्खायं भवह ] जाव णो णेयाउए भवाति ।  
वयाहया—यो हि प्रत्याहयानं गुह्याति तसमाहीघायुक्तः ‘प्राणः’ प्राणिनस्ते च नारकमतुष्पदेवा द्वितिचतु-  
ष्पेन्द्रियतिर्थश्च सम्पन्निति, ततः कथ निर्विपर्यं प्रत्याहयानमिति ? शेषं सुगमं यावत् ‘णो णेयाउए भवह ’ति ।  
भगवन् च एं उदाहु संतेगतिया पाणा भवायंति समाउया जोहिं समणोवासगस्स आयाणसो  
[ आमरणंताए ] जाव दंडे निकिखते भवह, ते (पाणा) सममेव कालं करिति करिता पारलोह्यत्ताए

पच्चायांति, ते पाणा वि [वि तुच्चांति] ते तसा [वि तुच्चांति] ते महाकाया ते समाउया [ते बहुतरणा,  
जेहि समणोचासगस्त सुपच्चक्खायं भवति,] जाव नो ऐआउए भवति ।

व्याख्या—यः शावकसपधप्रत्याख्यानं गृह्णत्वस्थित ते न समायुक्ता एके प्राणिनः सन्ति ते समग्रेन कालं कुर्वन्ति  
समग्रेव परलोकमतयो भवन्ति, ते समायुक्ता अपि ऋसा एव, तेषां शावकस्य प्रत्याख्यानं दुष्प्रत्याख्यानं भवति, यद्गृह्णते  
त्वया—नास्ति स कोऽपि पर्यायो यज्ञ शावकस्य प्रत्याख्यानं स्यादपि मुखेति अयंपि मेदे से नो यो आउए ।

भगवं च एं उदाहु संतेगतिया पाणा अपपाउणा, जेहि समणोचासगस्त आयाणा सो आसरणं-  
ताए दंडे [निकिलते भवइ], ते पुढचामेन कालं करिति, करित्वा पारलोह्यत्वाए पच्चायांति, ते पाणा०  
ते तसा० ते महाकाया ते अपपाउया ते बहुतरणा पाणा, जेहि समणोचासगस्त सुपच्चक्खायं हवहङ्ग  
ते अपपतरणा जेहि समणोचासगस्त दुष्पच्चक्खायं हवहङ्ग इति से महया। जाव तो योयाउए भवइ ।

व्याख्या—एके प्राणिनः अपायुपः सन्ति तेऽपि ऋसा उच्यन्ते, कृतप्रत्याख्यानालक्ष्मणोपामकात्पूर्वं मिगन्ते, तद्विषय  
प्रत्याख्यानं स्यात्, एवागता यहुतरप्राणविषयं प्रत्याख्यानं अवपतरप्राणविषये अप्रत्याख्यान, अथ या यस्मात् शावका-  
दहपायुपः प्राणिनः सन्ति ते यावन्न मिगन्ते तावत्रसविषयं प्रत्याख्यानं स्यात्, ते तु मृत्वा पुनर्ज्वरेष्वेत्पश्यन्ते तदाऽप्रतोऽपि

प्रत्याखयानं स्यात्, अतः श्रावकस्य निर्विपर्यं प्रत्याखयानं कथं कल्यते ? निमुग्ग भवद्वचोऽप्युक्तमेवैति तत्त्वम् ।

भगवं च णं उद्दाहुं संतेगतिया समणोचासगा भवन्ति, तेस्मि च णं एवं तुत्तपुर्वं भवत्त—नो खलु वर्यं संचाएमो मुंडे भवित्ता जाव पवहत्तए, नो खलु वर्यं संचाएमो चाउहसद्गुहिद्गुप्तण-मासिणीसु पाडिपुणं पोसहं अणुपालित्तए, नो खलु वर्यं संचाएमो अपाचिछमं जाव विहरित्तए, वर्यं णं सामाइयं देसावगासियं पुरत्थापाइणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा एतावता जाव सबपाणेहि जाव सबसत्तोहि दंडे निखिते, सबपाणभयजीवसत्तोहि खेमं करे अहमंसि ।

यावत् ‘वर्यं णं सामाइयं देसावगासियं’ ति देशानकागिरं पूर्वगुहीतस्य दिग्ब्रत्स्य योजनशतादिकस्य त[य]प्रतिदिनं संक्षिसतरं योजनगवृतपचनगृहमयीदादिकं परिमाणं विषते तदेशावकाशिगु-मित्युच्यते, तदेव दर्शयति ‘पुरत्थापाइण’ मित्यादि, प्रातरेत्वं ग्रत्याखयानावसरे दिग्गाश्रितमेवभूतं प्रत्याखयानं करोति, तथा ‘प्रतीचीनं’ प्रतीचीनं अपरस्यां दिशि, तथा ‘प्रतीचीनं’ प्रतीचीनं गन्तव्यं, तथा ‘प्रतीचीनं’ प्रतीचीनं गन्तव्यमयाऽय गन्तव्यं, तथा ‘प्रतीचीनं’ प्रतीचीनं गन्तव्यमयाऽय गन्तव्यमित्येवभूतं स प्रतिदिनं प्रत्याखयानं विधते, दक्षिणाभिमुखं दक्षिणस्यां, तथोदीन्यपुत्रस्यां वा दिक्षेतावन्मयाऽय गन्तव्यमित्येवस्याऽय तेन च गृहीतदेशावकाशिकेन श्रावकेण सर्वप्राणिभ्यो गृहीतपरिमाणात्परेण दण्डो ‘निक्षिप्तः’ परित्यक्तो भवति, वरशा-सी श्रावकः सर्वप्राणभूतजीवसत्तेपु देशमङ्गरोऽहमस्मीत्येवमध्यवसायी भवति ।

॥ ३५० ॥

तथ आरेण जे तसा पाणा जोहि समणोचासगस्स आयाणसो अमरणंताए दंडे निखिते, ते ततो  
आउ विप्पजहंति विप्पजहिता तथ आरेण चेव जे तसा पाणा जोहि समणोचासगस्स, आयाणसो  
( दंडे निखिते ) जाच तेसु पहचायंति, तोहि समणोचासगस्स सुपचचक्खायं भवाति । ते पाणा चि-  
बुच्चायंति ते तसा० महाकाया ते चिराट्टीया जाच अयंपि भेदे से नो णोयाउए ॥ १ ॥ [ सू० ११ ]

व्याख्या—‘तव’ गृहीतपरिमाणे देशे ये आरेण त्रसा॒ः प्राणा येहु श्रमणोपासकस्य आदान इत्यादेरामरणान्तो  
दण्डो ‘निक्षिस॒ः’ परित्यक्तो भगति, ते च त्रमा॑ः प्राणा॒ः स्वायुक्तं परित्यज्य त्रै॒न-गृहीतपरिमाणे देश एव योजनादिदेशा-  
भ्यन्तर एव त्रसा॑ः प्राणास्ते॒षु प्रत्ययान्ति, इदमुक्तं गमति-गृहीतपरिमाणे देशे त्रसायुक्तं परित्यज्य त्रसेवेनोत्पच्छान्ते, ततश्च  
तेहु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्ययालयानं भगति, उपयथापि व्रसत्वमद्वागाव॑, यों छुगम, यान्तृ ‘नो णो आज्ञाए भवति’ त्ति  
एवमन्यान्यप्यद्यौ क्षुखाणि हटुडयानि, तत्र प्रथमे स्वेतदेन यदृ ठ्याह्याच॑, तच्चवम्भूतं, तथ्यथा-गृहीतपरिमाणे देशे ये त्रसास्ते  
गृहीतपरिमाणदेशा[देशश्चा]स्तेष्वेन त्रसेषुपत्पच्छान्ते । अथग्रेतनानि तत्थ आरेण जे तमा पाणा जेहि समणोचासगस्स आया-  
णसो अमरणंताए दण्डे निखिते, ते ततो आउ विप्पजहंति ते ततो आउ विऽचा॑ तथ आरेण चेव जे यारा॑ पाणा जेहि  
समणोचासगस्स अहाए दण्डे अणिक्खिते अणडाए दंडे निखिते तेहु पचायति, तेहि समणोचासगस्स अहाए दंडे अणिक्खिते  
अणडाए दण्डे णिखिते, ते पाणा चि बुच्चायंति ते तमा निं० ते चिराट्टीया जान अयंपि भेदे से० ॥ २ ॥ अयं द्वितीयो भग्नकः ॥

द्वितीये  
श्रुतं  
सप्तमा-  
ध्ययने  
प्रत्यक्ष-  
सिद्धं  
विरतेविषयं  
दर्शयति ।

॥ १५० ॥

तत्थ जे ओरेणं तसा पाणा जोहिं समणोचासगस्स आयाणसो आमरणंताए॑ जाव आउं  
 विष्पजहंति [ विष्पजाहिता ] तत्थ परेणं जे तसा—थावरा पाणा जोहिं समणोचासगस्स आयाणसो  
 आमरणंताए॑ दंडे निखिते, तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोचासगस्स सुपच्चकखायं भवइ॑ । ते पाणा  
 वि जाव, अयं पि भेदे से णो नेयाउए॑ ॥ ३ ॥ तत्थ जे ओरेणं थावरा पाणा जोहिं समणोचा-  
 सगस्स आयाणसो अट्टाए॑ दंडे अणिकिखते अणट्टाए॑ निखिते, ते तओ॑ आउं विष्पजहंति  
 विष्पजाहिता तत्थ ओरेणं चेव जे तसा पाणा जोहिं समणोचासगस्स आयाणसो आमरणंताए॑  
 तेसु पच्चायंति, जोहिं [ तेसु ] समणोचासगस्स सुपच्चकखायं भवति, ते पाणा वि तुच्चंति जाव  
 अयं पि भेदे नो नेयाउए॑ ॥ ४ ॥ तत्थ जे ते ओरेणं थावरा पाणा जोहिं समणोचासगस्स अट्टाए॑  
 दंडे अणिकिखते अणट्टाए॑ णिखिते ते तओ॑ आउं विष्पजहंति विष्पजाहिता तत्थ ओरेणं चेव  
 जे थावरा पाणा, जोहिं समणोचासगस्स अट्टाए॑ दंडे निखिते तेसु पच्चायंति, तोहिं समणोचा-  
 सगस्स सुपच्चकखायं भवति ते पाणा वि॑ जाव अयंपि भेदे से नो॑ ॥ ५ ॥ तत्थ णं जे ते

× एवक्षिन्द्रन्तर्गतपाठस्थाने “ अट्टाए॑ अणट्टाए॑ ” इत्येवं रूपः प्रलच्छते॑ ।

पेरेणं थावरा पाणा, जोहि समणोवासगस्स अट्टाए दंडे अणिकिखते, अणट्टाए णिकिखते, ते तओ  
आउं विप्पजहंति विप्पजाहिता ते तथ आरेण चेव जे तसथावरा पाणा जोहि समणोवासगस्स  
आयाणसो आमरणंताए ० तेसु पच्चायंति, तोहि समणोवासगस्स सुपच्चकखायं हवहइ, ते पाणा वि०  
जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवति ॥ ६ ॥ ततथ जे ते पेरेणं तसथावरा पाणा जोहि समणो-  
वासगस्स आयाणसो आमरणंताए अट्टाए अणट्टाए दंडे निकिखते हवहइ, ते तओ आउं विप्पज-  
हंति विप्पजाहिता ततथ आरेण जे तसा पाणा जोहि समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए  
दंडे निकिते तेसु पच्चायंति, तोहि समणोवासगस्स सुपच्चकखायं हवहइ, ते पाणा वि० जाव  
अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवति ॥ ७ ॥ ततथ जे ते पेरेणं तसथावरा पाणा जोहि समणोवा-  
सगस्स आयाणसो आमरणंताए अट्टाए अणट्टाए दंडे निकिखते, ते तओ आउं विप्पजहंति विप्प-  
जाहिता ततथ आरेण जे थावरा पाणा जोहि समणोवासगस्स अट्टाए दंडे अणिलिते अणट्टाए  
दंडे निकिते तेसु पच्चायंति तोहि समणोवासगस्स सुपच्चकखायं भवहइ, ते पाणा वि० जाव अयंपि

द्वितीये  
शुद्ध  
सप्तमा-  
इयने  
श्रमणो-  
पापकस्य  
त्रस—  
स्थावर-  
जीवानाम्  
सुप्रत्या-  
रुपानं  
दर्शयति ॥

॥ १६२ ॥

मेदे से णो णेयाउए भवति । ॥८॥ तथ जे ते परेणं तसथावरा पाणा, जोहि समणोवासगस्त  
आयाणसो आमरणंताए अट्टाए दंडे निकिखने, ते तरो आउं विष्पजहंति विष्पजहिता  
निकिखने ते सु पठचायंति जे(ते) हि समणोवासगस्त सुपठचखायं भवहि, ते पाणा चिं जाव  
आयंपि भेदे से नो णेयाउए भवति ॥९॥

व्याख्या — गृहीतपरिमाणे देशे ये त्रसास्ते [गृहीतपरिमाणदेशस्थाशा] हतेपूत्पयन्ते इति प्रथमो भङ्गकः ॥ १ ॥  
 द्वितीय सूक्तं त्वारादेशवर्णिनत्वमा आरादेशवर्णिन्तु स्थाचरेषुत्पयन्ते (इति) हि तीयः ॥ २ ॥ उतीये त्वारादेशवर्णिनत्वमा  
 गृहीतपरिमाणादेशद्विद्यें त्रसाः स्थाचराश्च तेषुत्पयन्ते अयं तृतीयः ॥ ३ ॥ चतुर्थं त्वारादेशवर्णिनो ये स्थाचरास्ते तदेश-  
 वर्णिन्तवेन त्रसेषुत्पयन्ते अयं (चतुर्थः) तृतीयः ॥ ४ ॥ पञ्चमसूक्तं तु आरादेशवर्णिनो ये स्थाचरास्ते गृहीतपरिमाणस्थेषु तदेशवर्णिन्तु  
 अयं पञ्चमा विरपूत्पयन्ते अयं पञ्चमः ॥ ५ ॥ पषुष्ठं तु परदेशवर्णिनो ये स्थाचरास्ते गृहीतपरिमाणस्थेषु त्रसस्थाचरेषुत्पयन्ते अयं  
 सप्तमसूक्तं तिवर्तं— परदेशवर्णिनो ये त्रसाः स्थाचरास्ते आरादेशवर्णिन्तु त्रसेषुत्पयन्ते अयं सप्तमः ॥ ७ ॥ अष्टम-  
 पष्ठः ॥ ६ ॥ सप्तमसूक्तं तिवर्तं तु परदेशवर्णिनो ये त्रसाः स्थाचरास्ते आरादेशवर्णिन्तु स्थाचरेषुत्पयन्ते अष्टमः ॥ ८ ॥ नवमसूक्तं परदेशवर्णिनो ये त्रसाः  
 सूक्तं तु परदेशवर्णिनो ये त्रसाः स्थाचरास्ते आरादेशवर्णिन्तु स्थाचरेषुत्पयन्ते अष्टमः ॥ ९ ॥ (पन्नमनया प्रक्रियया नवापि खत्ताणि सणतीयानि )

मृगहास्त-

स्त्रं

दीपिका-  
निवचम् ।

॥ १५२ ॥

तत्र यत्र [यत्र] त्रमास्तवादादनशः आदेशरभ्य अमणोपामकेनामरणान्ते दण्डस्तयक्त इत्येवं योजनीयं, यत्र हु स्थावरात्मनाथर्थ्य दण्डो न निक्षिप्तो—न परिक्षिप्तो—न परित्यक्तः, अनर्थीय च दण्डः परित्यक्त इति । शेषाक्षरघटता हु स्वतुल्जा विषेषेति । भगवं च णं उदाहुण एयभूयं ण एयं भवं ण एयं भविस्त्वंति जपणं तसा पाणा वोचिञ्जिहिंहि तथावरा पाणा भविस्त्वंति, थावरा पाणा [वि] वोचिञ्जिहिंहि तसा पाणा भविस्त्वंति, अबोचिल्लिहिंहि तस—थावरोहि पाणोहि जपणं तु क्लेवा अद्वा वा एवं वदह-परिथं णं से केह परियाए जाव नो णोआउए भवति । [सु० १२]

द्वितीये श्रुतं सप्तमा-इयनेगीतपं-स्नाम्युदकं त्रसाः प्राणाः स्थावराश्च प्राणाः कदापि विच्छेदं न यास्य-नतीति दर्शयति ॥ १५२ ॥

द्वितीये श्रुतं सप्तमा-इयनेगीतपं-स्नाम्युदकं त्रसाः प्राणाः स्थावराश्च प्राणाः कदापि विच्छेदं न यास्य-नतीति दर्शयति ॥ १५२ ॥

तथा यत्र [यत्र] त्रमास्तवादादनशः आदेशरभ्य अमणोपामकेनामरणान्ते दण्डस्तयक्त इत्येवं योजनीयं, यत्र हु स्थावरात्मनाथर्थ्य दण्डो न निक्षिप्तो—न परिक्षिप्तो—न परित्यक्तः, अनर्थीय च दण्डः परित्यक्त इति । शेषाक्षरघटता हु स्वतुल्जा विषेषेति । भगवं च णं उदाहुण एयभूयं ण एयं भवं ण एयं भविस्त्वंति जपणं तसा पाणा वोचिञ्जिहिंहि तथावरा पाणा भविस्त्वंति, थावरा पाणा [वि] वोचिञ्जिहिंहि तसा पाणा भविस्त्वंति, अबोचिल्लिहिंहि तस—थावरोहि पाणोहि जपणं तु क्लेवा अद्वा वा एवं वदह-परिथं णं से केह परियाए जाव नो णोआउए भवति । [सु० १२]

नयाख्या—मगवान् गौतमस्तवाम्युदकं प्रत्येतदाह तथ्यथा—भो उद्भु ! नैतत्कृतमनादिके काले प्रागतिकान्ते नायगामिनि काले चैतद्विषयति नायेतदर्तमाने काले भवति यज्ञमः सर्वमः निलेपतया स्वजायुक्तेऽनो छेतस्यनित—विच्छेदं यास्यनित, सर्वेऽपि त्रसा भविष्यन्ति । सर्वे स्थावरा एव भविष्यन्ति, स्थावराश्च ग्राणिनः कालवेऽपि न भविष्यन्ति—विच्छेदं यास्यनित, सर्वेऽपि त्रसा भविष्यन्ति । सर्वे स्थावरा भवन्ति स्थावराश्च सर्वेऽपि यद्यपि तेषां परस्परसङ्करेण गमनमस्ति तथापि न सर्वप्रकारेण निलेपतया त्रसाः सर्वे स्थावरा भवन्ति स्थावराश्च भवन्ति तिरश्च निलेपतया त्रसा जायन्ते, नैतत्कृताति कदाचिदपि, यदुत—प्रत्याख्यानिनमेकं विहाय परेषां नारकाणां द्वीन्द्रियादीनां जीवत एव मनुष्यदेवानां च सर्वथाऽप्यभावः, एवं च त्रसविषयं प्रत्याख्यानं निर्विषयं भवति यदि तस्य प्रत्यारन्वानिनो जीवत एव सर्वे नारकादयत्वान्तः समुच्छित्यन्ते, नायं भावः सम्भवति, स्थावरास्तवचन्ता न त्रसेषु सम्मानित त्रसास्त्वचम्बल्यातात्मते

त्वनन्ता: अनन्ताः कथमसङ्ख्ययातेषु सम्मानित? सुप्रतीतिमिदं, तदेव मन्यवचक्तिलैत्वैः स्थानरैश्च प्राणिभिर्ददत् यूपमन्त्यो  
वा कश्चिद्ददति यन्नास्त्यसौ कश्चित्पर्यायो यन्छानकस्येकत्रसविषयोऽपि दण्डः परित्यक्तो भवति, तदेतत्सर्वमप्युक्तमिच  
प्रतिभासते । साम्प्रतं उपसंजिष्ठुशुराह—

भगवं च णं उदाहु आउसंतो उद्गा ! जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासे इमित्तं  
मह्वंति + आगमित्ता नाणं आगमित्ता दंसणं आगमित्ता चरितं पावाणं कस्माणं अकरणयाए  
से खलु परलोय-पलिमंथत्ताए चिटुति, जे खलु समणं वा माहणं वा नो परिभासइ मित्तं  
मह्वमाणे × आगमेत्ता नाणं आगमेत्ता दंसणं आगमेत्ता चारितं पावाणं कस्माणं अकरणत्ताए  
से खलु परलोयविसुद्धीए चिटुति ।

व्याख्या—श्री गौतमस्वाम्युदकं प्रत्युचाच । आयुष्मन्तुदकं ! खलु श्रमणं वा माहनं वा सद्गुहाचयोपेतं ‘परिभापते’  
निन्दति मैत्री मन्यमानोऽपि तथा समयगृह्णानमागमय तथा दर्शनं चारित्रं च पापानं कस्मणामकरणाय समुत्थितः [म]खलु  
लघुप्रकृतिः पण्डितंमन्यः परलोकस्य सुगतिलक्षणस्य स[त]कारणस्य वा सत्संयमस्य वा ‘पलिमन्थाय’ विघाताय तिष्ठति,  
यस्तु पुनर्महासच्चो रत्नाकरणहमीरो न श्रमणादीन् परिभापते तेषु च परमां मैत्रीं मन्यते समयग्रदशेनज्ञानचारित्राण्यनुगमयते

+ “मन्माणे” इत्यर्थसङ्कल्या युक्तमाभासति । × “मन्ति” इति बहुषाददर्शेषु ।

तथा पापानां कर्मणां अकरणाय समुत्थितः स खलु परलोकविशुद्धै अवतिष्ठते, स परलोकसाधनाय तिष्ठतीति भावः । एताचता  
यो वहशुतान् गीताथर्थन् पूर्वचार्यान्निन्दति स परलोकस्य संयमस्य विराघकः यस्तु तद्वशान्महागीताथर्थन् पूर्वचार्यान्न  
निन्दति स परलोकस्य संयमस्य चाराघक इति तत्त्वम् । भो उद्दक ! इति ज्ञात्वा तत्त्वाऽपि संयमसाधनाय यत्नो विधेयः ।  
भगवं च एं उदाहु—तते एं से उदए पेढालपुत्रे भगवं गोतमं अणाडायमाणे जामेव दिसं  
पाउढमूर्ते तामेव दिसं संपहरेत्थ गमणाए ।

व्याख्या—तदेवं यश्चविस्थितमर्थं गोतमस्वामिनाऽवगमितोऽयुद्धः पेढालपुत्रो यदा भगवन्तं—गोतमस्वामियमाणो  
यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं गमनाय सम्प्रव्याहितगान् । तं च गच्छन्तं दध्वा भगवान् गोतमस्वाम्याह—  
आउसंतो उदगा ! जे खलु तहा [भूतस्त]रुचस्त समणस्त वा माहणस्त वा अंतिष्ठ एग-  
मवि आरियं भ्रिमयं सुवयणं सोच्चा निसम्म अपणो चेन सुहुमाते पडिलेहाए अणुतरं जोग-  
खेमपर्य लंभिष्ठ समाणे सोचि ताव ते आढाति परिजाणाति चंद्राति नमंसति सक्षोरेति सम्माणेति  
( जाव ) कल्ळाणं मङ्गलं देवयं चेहयं पञ्जुत्रासति ।

व्याख्या—आयुषमन्तुदक ! यः स्तु तथाभूतस्य श्रमणस्य बाह्यग्रस्य वाऽन्तिर्के—समीपे एकमपि योगशेषाय आये

धार्मिकं तथा श्रीभगवत्वं श्रुत्वा निश्चयाऽस्तन एव रद्दुतरं योगेष्यपदमिते वन्नवगाम्य ‘खृष्णया’—कृष्णाश्रीयया बुद्ध्या  
‘प्रत्युपेक्ष्य’—पर्यालोच्य तद्यथा—अहमनेतैरभूतमर्थपदं ‘लभितः’ प्राप्तिः सत्त्वांचपि तावल्लौकिकस्तपुदेशदातार-  
मादियते पूजयोऽयमित्येवं जानाति तथा कल्पयाणं मङ्गलं देवतामिन् स्तैति पर्युपास्ते च यद्यप्यसौ पूजनीयः किमपि नेच्छति  
तथापि तेन [तस्य] परमार्थोपकारिणो यथागतिक्तिविद्येयमिति । तदेवं गौतमस्वामिनाऽभिहित उदक हृदमाह—  
तए एं से उदए पेढालपुत्रे भयचं गोयमं एवं वयासी—एतेसि एं भंते ! पदाणं पुर्विं अक्राण-  
याए असच्चणयाए अवोहिए अणाभिगमेण अदिद्वाणं असुरयाणं अमुण्ड्याणं अनिक्षायाणं अनि-  
गृदाणं अवोगडाणं अवोचिछक्षाणं अणिसिट्टाणं अणिवृद्धाणं अणिवारियाणं एयमटुं तो सद्दीहियं  
नो पात्तियं नो रोइयं एतेसि एं भंते ! पदाणं इहिं जाणयाए सचणयाए बोहिए जाव उत्तराणयाए  
एयमटुं सद्दहामि पतियामि गोप्यमिएव जहेयं तुढमेव वदह । तए एं भगवं गोतमे उदयं  
पेढालपुत्रं एवं वयासि—सद्दहाहि एं अज्ञे ! रोप्यहि एं अज्ञे ! एवमेयं जहा एं  
अपहै वदामो । तए एं से उदए पेढालपुत्रे भयवं गोयमं एवं वयासी—इच्छामि एं भंते ! तुवभ  
अंतिए चाऊजामा ओ धर्ममाओं पंचमहवृह्यं सप्तिकमणं घमं उत्तरांपजित्ताणं विहरित्तए । तए एं

मथगलाङ्ग-  
सुन्दरी-  
पिका-  
नितम् ।

से भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्रं गहय जेणोऽ र समणे भगवं महावीरे तेणोऽ र उचागच्छइ उवा-  
गठित्वा तते णं से उदए पेढालपुत्रे समणं भगवं महावीरे तिखुतो आयाहिणं पयाहिणं करेह  
करेहत्वा चंदइ नमंसइ, वंदिता नमंसित्वा एवं वयासी—इच्छामि णं भेते ! लु[हं]भमा[तुम्हा]णं  
अंतिष्ठ चाउजामाओ धर्माओ पंचमहवद्यं सपडिकमणं धर्मं उचसंपजित्वा णं विहरित्वा ।  
[ तप णं समणे भगवं महावीरे उदयं (पेढालपुत्रं) एवं वयासी— ] अहापुहं देवाणुपिया सा पाउवंधं  
करेहि । तते णं से उदए पेढालपुत्रे समणस्त भगवओ महावीरस्त अंतिष्ठ चाउजामाओ धर्माओ  
पंचमहवद्यं सपडिकमणं धर्मं उचसंपजित्वा णं विहरति त्वि बोमि । नालिनिदज्जङ्घयणं समतम् ।  
वयास्ता—इह वयास्ता न सूर्गमं, विशेषतस्तु वृद्धिवृत्तितोऽक्षेषणमिति ।

समाप्ता चेयं द्वितीयाङ्गस्य दीपिका ।

जयति जिनशासनमिदं, परतीर्थिकतिमिरजालवशतरणिम् । भवजलधियानपात्रं, पात्रं सज्जानरत्नानाम् ॥ १ ॥  
यस्य जिनेन्द्रोः शासन-पानीपथाश्रवत्तमारुह्य । कुशलेन के न चापु-भैवजलपुछंद्य शिवनगरम् ॥ २ ॥  
स जयति वीरजिनेन्द्र-स्त्रियुवनचूडामणिः कुतोयोरुः । कुमुदोलासं कुर्वन् मदनखस्त्रियुभिर्वित्तैः ॥ ३ ॥

द्वितीये  
श्रुतं  
समाह-  
द्ययने  
उपसंहारः ।

॥ १५४ ॥

चर्द्मानजितो जीया-जगदानन्ददायकः । द्वादशाहीविवातारो, जयन्तु च गणाधिपाः  
 जयन्तु गुरतः पूज्या ये सदा मयि वसलाः । परोपकारप्रवणाः, जयन्तु सज्जना अपि  
 भी जिनदेवसूरीणा-मादेशोन विरायुपाम् । उपजीव्य वृहद्वृत्तिं, कृत्वा नामान्तरं पुनः  
 श्री साधुमङ्गोपाद्यायै-हिंतीयाङ्गस्थ दीपिका । संखेपलचिजीवानां, हिताय सुखबोधिती  
 लिलिखे वरलूप्रामे, निधिनन्दशरैकके (१५९९) वत्सरे कान्तिके सासि चतुर्मासिकपञ्चिणि [त्रिभिः सम्बन्धः] ॥ ८ ॥  
 ज्ञानर्दशनचारित्र-रत्नवित्तवदीपिका । मिथ्यात्वव्यवान्तविज्ञानदीपिकेयं समार्थेता  
 मनोमहसरमुत्सुद्या-कृद्वयसो जन्मयपुत्तमम् । व्यापायार्वा चाचनीया च, विधायात्रुग्रहं मयि  
 लिखता लिखितं किञ्चिद्यदि-न्यूनाधिरुं भवेत् । विधाय सम्यक् तत्सर्वं, चाचनीयं विवेकिभिः  
 स्तोकाः कपूरतरवः, स्तोकाश मणिभूमयः । परोपकारप्रवणाः, स्तोकाः प्रायेण सज्जनाः ॥ ९ ॥  
 न मे कोऽप्यभिमानोऽस्ति, न मे पण्डितमानिता । न कला न च चातुर्य, मन्दमेघाऽस्मि सर्वथा  
 दीपिकायाः स्वभावेन, प्रशस्तिनिर्मिता मया । क्षूणं तदत्र नो चिन्तयं, नाचमान्यो हय जनः  
 न चात्मीया मतिः कापि, अप्युक्ताऽस्तयत्र केवलम् । संक्षेप्य वृत्तेरेवाऽयं स्त्राथौ लिखितोऽस्त्यहो  
 अन्यथाऽहं जडप्रायो, वृत्ति कर्तुं कृतः क्षमः ? । किनाम पकुरारोहुं, शक्तः स्पानमेसमूर्द्धनि  
 व्याख्यानं वृत्तिमध्यश्यं, नियुक्तेरपदार्य च । मूलस्मृतेण संयुक्ता, पुस्तके च निवेशिता

मया सदाचारपरायणेन, जिनाङ्गया संयमपालनेन ।

यदजिं पुण्यं सुकृतानुभविष, तेनास्तु लोको जिनशर्मरकः  
घमोपदेशदानेन, दीपिकालेखनेन च । सुखो गवतु लोकोऽयं, तेन पुण्येन भूयमा  
यदजिं भया पुण्यं, विमलाचलयात्रया । उजापन्ते च श्रीनेमोः, पदपङ्कजसेवया  
तेन पुण्येन मे भूया-द्वोधिलाभो मध्ये भवे । यतः समग्रसामप्राप्ति-विना पुण्येन लभते  
श्रीमत्खरतरगच्छे, श्रीमज्जिनदेवद्विसाम्राज्ञे । श्रीभूगनमोमदगुह-शिल्पैः श्रीयाधुरक्षालंगैः  
लक्ष्मीपाइयायपदः, कुशलेनारोपिता ग्रामणपदम् । आत्मन्त्राऽकं नन्दतु, गीतार्थवाचियमानेष्यम्  
विनीतविनयेतेयं, धर्मसुन्दरमाधुना । लिखिता प्रथमादर्जे, नाननाय सापुस्तके  
दर्ति प्रशस्तिः । श्रेयोऽस्तु सपरिचारस्य ।

याहशं पुस्तकं दर्शनं, ताहशं लिखितं मया । यदि शुद्धगुहादं चा, मया दोषो न हीयते ॥ १ ॥

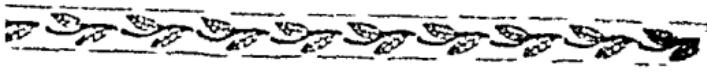
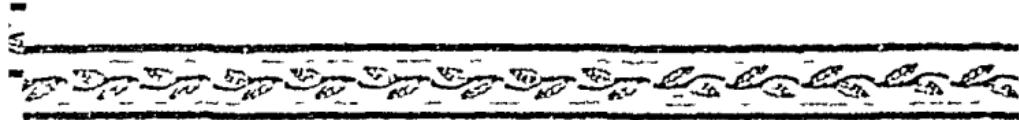
द्वितीये	श्रुतः
सप्तमा-	सप्तमा-
इच्छयने-	दीपिका-
	कारकता-
	प्रशस्तिः ॥

॥ २८ ॥	॥ २९ ॥
॥ ३० ॥	॥ २० ॥
॥ ३१ ॥	॥ २१ ॥
॥ ३२ ॥	॥ २२ ॥
॥ ३३ ॥ (सुगम)	॥ २४ ॥

इति श्री परमसुनिहित-सरस्तराचल्लिपूणा-पाठकप्रचन्द्र-श्रीमात्सात्रुहगणिचर-गुडिकियां श्री सूत्रकुत्ताङ्ग-  
दीपिकायां समाप्तमिदं नालिन्दीयाखण्डं सप्तममध्ययनं तत्समाप्तो च समाप्तमिदं

सूत्रकुत्ताखण्डं द्वितीयमङ्गसूत्रं दीपिकान्वितम् ॥

॥ श्रीकल्याणं भूयात् ॥



॥ अ० अहम् ॥

## सुन्नकृताङ्गं-सूत्र-दीपिका ।

हष्कुलगाणि—रचिता—

यणस्य श्रीजिनं वीरं, गोतमा दिगुरुंस्तथा । स्वान्योपकृतये कुवैं, द्वितीयाङ्गस्य दीपिकाम् ॥ १ ॥  
 इह हि प्रवचने चत्वारोऽतुयोगः । तथाहि-चरण करणातुयोगः २, धर्मकथातुयोगः ३, गणितातु-  
 योगश्च ४, तत्र प्रथमं श्रीमदाचाराङ्गं चरणकरणातुयोगप्राधान्येन व्याख्यातम् । अथेन श्रीसूत्रकृताल्य द्वितीयाङ्ग-  
 योगप्राधान्येन व्याख्यायते । सूत्रकृताङ्गमिति च कः यदार्थः । उच्यते—‘ सूत्रं, स्वपरसमयसूचनं कृत येन तत्सूत्रकृतं  
 तदेवाङ्गमिति । तत्र श्रुतस्कन्धद्वयं, प्रथम श्रुतस्कन्धे षोडशाद्ययनानि द्वितीये सप्त । तत्र प्रथमश्रुतस्कन्धस्य ग्रथमाड्यमने-  
 चत्वार उद्देशकाः, तत्रापि पूर्वं प्रथमोदेशकः तस्याऽय]पादिलोकः ।

बुद्धिज्ञानं × × × × ( सूत्रम् ) ॥ २ ॥

व्याख्या—‘ बुद्धेत ’ जानीयात्, कि तत् ? ‘ चन्द्रम् ’ बध्यते जीवोऽनेन चन्द्रं बद्धेत्वे

शुचकृताङ्-  
सूत्र-  
दीपिका ।

मिथ्यात्वादयो वा परिगहारसादयो वा चन्धनं जानीयादित्युक्तं, न च ज्ञानमन्विण सिद्धिरित्याह । ‘तिउड्डिजा-परि-  
जापिआ’ परिज्ञाय बोटयेत्-अपनयेत्, आत्मनः पृथक्कुर्यादित्यर्थः । अथ जन्मवृत्त्वामी शिष्यः उपर्यस्वामिनमाह,  
किमाहेति, श्रीचीरः किं चन्धनं ‘आह’ उक्तान् ? किंगा जानन् चन्धनं त्रोटयति ? उत्तरमाह ॥ २ ॥

चित्तमंतः० × × × ( सू० ) ॥ २ ॥

व्याख्या—‘चित्तात्’ मनिं द्विषदचतुर्दशाद्विं, अचिं रुतकरजतादि द्रष्टव्यपि ‘परिगृहा’ परिगृहं छत्रा ‘कुशमपि’  
स्तोरुमपि स्त्राय अन्यान् वा ग्राहयित्वा शृङ्गतो गान्धाननुजाय एं दुःखान् मुच्यते, परिगृह एव परमार्थोऽनर्थमूलमि-  
त्युक्तम् ॥ २ ॥ परिगृहतश्चाराहयमामी आराध्यस्त्वित्यश्च प्राणितिपात इति दर्शयति ।—

संयौ० × × × ( सू० ) ॥ ३ ॥

व्याख्या—अथचा प्रकाशनतरेण चन्धनमेवाह-स परिग्रहान् ‘रुचं’, आत्मना प्राणान् अतिपातयेत्-जीगान् हिंस्यात्  
अथना ‘अन्यैः’ परंपर्य घातयति, भूतश्चात्पाननुजानीते, तरेण ऋत सरितातुगतिभिः प्राणिवां छुर्नन् आत्मनो वेर चर्दूपति,  
ततश्च चन्धनान् मुच्यत इति भावः ॥ ३ ॥ पुनर्वचनमेवात्रित्याह ।—

जंसि कुलें० × × × ( सू० ) ॥ ४ ॥

व्याख्या—यस्मिन् कुले जातो वैर्गी मित्रैर्मर्यादिभिर्सह संवेत्सरः, तेषु मित्रपितृमातृमायादित्वु ‘ममायी’ति ममत्व-

॥ ४ ॥

वाम् लुप्यते, ममत्वजनितेन कर्मणा चाहयते ‘बालो’ मूर्खः; विवेकरहितत्वादनयेषु च ‘मूर्खिंतो’ ममत्वचहुल इत्यर्थः ॥ ४ ॥  
किं जानन् वन्धनं त्रोटयतीत्यस्योचरमाह—

वित्तं सोयरिआ० × × × × ( सू० ) ॥ ५ ॥

वियाख्या—‘वित्तं’ द्रव्यं, तच सचिच्चत्तमचित्तं चा, सौदर्या आटमग्नियादयः, सर्वमेतद् वित्तादिकं संसारे पीडयमानस्य  
जन्मतोन्म ब्राणाय न रक्षणाय भवतीति, एतत् ‘सङ्घव्याय’ ज्ञात्वा तथा जीवितं स्वल्पयमिति ‘सङ्घव्याय’ ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा  
प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्याय कर्मणः सकाशात् ‘त्रुख्यति’ अपगच्छत्यस्मौ, तुतिश्ये, त्रुट्येदेव, यदि चा ‘कर्मणा’  
क्रियया संयमानुष्टुपानरूपया वन्धनात् त्रुख्यते—कर्मणः पृथग् भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥  
स्वसमयं प्रतिपाद्य परसमयं प्रतिपादयितुकाम आह—

एष गंथे० × × × ( सू० ) ॥ ६ ॥

वियाख्या—‘एतात्’ पूर्वोक्तात् ‘यन्यात्’ द्वारायनि ‘व्युत्कर्ष्य’ परित्यज्य ‘एके’ केचित् श्रमणत्वाद्वागाः;  
श्रमणाः शाक्यादयो ब्राह्मणाश्च ‘अपाणांता’ परमार्थप्राप्तानाऽन्ति विउस्तिस अ ‘तिं विविष्युत्प्रावलयेन ‘सिता’ चद्राः;  
स्वसमयेषु प्रतिवद्वाः सन्तः कामेषु च सक्ता वर्तन्त इति ॥ ६ ॥ साम्रां नास्तिकमतमाश्रित्याह—

संति पञ्च० × × × ( सू० ) ॥ ७ ॥

व्याख्या—सन्ति पञ्चमहाभूतानि इदास्मिलोके ‘एकेषां’ भूतगादिनि—तत्त्वार्थकृतानि, तैर्गु भूतगादि-  
भिन्नास्तिरैराख्यातानि स्वयमस्त्रीहनानि परेषां च प्रतिपादितानि, चामूनि ‘पुढ़वी’ त्वादि पुढ़वी १ अपो-जलं २ तेजो-  
अरिनः ३ वायुः ४ आकाशं ५ पञ्चमं येषां तानि । ननु साहृष्ट्यादिभिरपि भूतानि मन्यन्त एन तत्कथं चार्चार्कमतापेक्षयेव  
भूतोपन्यास हृति चेद्गुच्छयते—माहृष्ट्यादिभिर्गुह्यं प्रधानाहकारागादिक तथा कालदिगात्मादिरूपं चरस्तुजातमहीक्रियते,  
चार्चार्किस्तु भूतव्यतिरिक्तं नात्मादि किञ्चिन्मन्यते इति तन्मताश्रयेणेवाप्य क्षेत्रोपन्यास इति ॥७॥ चार्चार्कमताङ्गी कारसेनाह—

एते पञ्च० × × × × ( सू० ) ॥ ८ ॥

व्याख्या—एतानि पञ्च महाभूतानि ‘तेष्यो’ भूतेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्य एकः कश्चिच्छिद्रूपो भूताऽव्यतिरिक्त  
आत्मा भवति, न तु कश्चिदपरः परलोकयामी जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्येकमाख्यातनन्तस्ते । ननु यदि भूतेभ्येऽन्यः कश्चि-  
दात्मा नास्ति कर्त्त्वं तर्हि भूत इति व्यपदेश इत्याशक्तायामाह—‘अह तेस्मि’ति, अथ तेषां भूतानां विनाशोऽपगमे देहिनो  
देवदत्तादेविनाशो भवति, ततश्च भूत इत्पुच्छते, न पुनर्जीवापगम इति । अत्रैतमतनिलोठनपुक्षयो घृतितोऽसेयाः ॥८॥

अथ एकारमाहृतवादसुद्दिद्रयाह—

जहा य० × × × × ( सू० ) ॥ ९ ॥

व्याख्या—यथा, च शब्दोऽपि शब्दार्थेष्य, स च भिन्नः, पृथिव्याः स्त्रूपः पृथिव्येन ना स्त्रूपः पृथिव्योमस्त्राताख्यो—

वयची, स च एकोऽपि यथा नानारूपः सरित्समुद्रपञ्चतगरग्रामाद्याधारतया विचित्रो हृषयते, निम्नोन्नतमुद्गुकठिनरक्त-  
पीतादिमेदेन वा हृषयते, न च ताचता पृथिवीत्वस्यैकस्य मेदो भवति, एवं भो ! इति परामन्त्रणं, कृत्स्नोऽपि चेतना-  
चेतनरूपो लोक एको विद्वान् एक एवात्मा 'विद्वान्' ज्ञानपिण्डः पृथिव्यादिभूताकारतया नाना हृषयते, न च ताचता  
तस्यैकस्यात्मतत्त्वस्य मेदो भवति ॥ ९ ॥ अस्योत्तरमाह—

एवमेगेति० × × × × ( सू० ) ॥ १० ॥

व्याख्या—एवमात्माद्वाद्वाद्वाश्रिता एके जलपन्ति 'मन्दा' जडा:, मन्ददत्तं चैतेषां शुक्लिविकलजीवाद्वैतपश्चा-  
श्रयणात् । तथाहि-यद्येक एवात्मा स्थाचदा एके कृपीबलादय आरम्भे जीवहिमात्मके 'निश्रिता' आमक्ता: स्वयं पापं  
कृत्वा तीव्रं नारकादि दुःखं 'निगच्छ्लह' चित्त आपेक्षाद्वाद्वहुत्वचनार्थं एकवचनं, निश्चयेन गच्छन्ति, त एवारम्भमक्ता, नान्यं  
इत्येतत्र स्थात् यद्येक एवात्मा स्थाचदा केनाप्यशुभे कर्मणि कृते सर्वेषां दुःख स्थानं चैवं हृषयते, तस्मादेक एवात्मेति  
त युक्तम् ॥ १० ॥ साम्प्रत तज्जीव-तच्छरी-वादिमतं पूर्वपक्षयन्नाह—

पत्तेअं कसिणो० × × × ( सू० ) ॥ ११ ॥

व्याख्या—'प्रत्येकं' प्रतिशरीरमात्मानः 'कृत्स्नाः' सर्वेऽपि ये 'बाला', अज्ञा ये च पण्डितास्ते सर्वेऽपि पृथग्-  
नयनस्थिताः, नहि एक एवात्मा सर्वेभ्यापि स्त्रीकार्यः, बालपण्डितादिविभागाऽभावप्रमङ्गात् । नन्देवेत्सामवहुत्वं जैनतरपि

खूब  
खूब

दीपिका ।

॥ ३ ॥

स्त्रीक्रियत एव, तरिकामिति परमतमांश्चित्य सूरमिद्धुच्यते ? हत्याशहायामाह—‘ संति ’चि—‘ सनित ’ विवर्तते जीवाः प्रथमशुरु-  
शरीरं यावत्, शरीराभावे हु न सनित, एतदेवाह—‘ पिचा न ते संति ’ प्रेतय, परलोके ते जीवा न सनित, तेपां मते स्फुन्धस्य प्रथमा-  
शरीराद्विक्रनः परलोकयायी न कथिदात्माख्यः पदार्थोऽस्तीति जैनेभ्यो मेदः । किमिलेवं ते मन्यन्त इत्याह—‘ णतिथ सत्तोवचाडआ’, औपपातिका—भवाद्दमगत्तरगमितः सच्चाः प्राणिनो ‘ नतिथ ’ति न संति । ननु भूतवादितोऽस्य व्ययने-  
प्रथमो-  
देशकः ।  
च तज्जीव-तत्त्वरीरगादिनः को मेद ? इत्यत्रोऽन्यते—भूतवादितो भूतान्येन कायाकारपरिणतानि घारानचलनादिक्रियां  
कुर्वन्ति, अस्य हु कायाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चेतनाख्य आत्मोलाख्यते अभिन्यन्तयते गा तेष्यशाऽभिन्न इत्यनयोर्विशेषः ॥ ११ ॥ तन्मतमेवाह—

नतिथ युष्ठणे च० × × × ( सू० ) || १२ ||

व्याख्या—नास्ति पृथ्यं पापं च नास्ति, अतो [ नास्ति ] ग्रसमाल्लोकात् पोटन्यो लोकः परलोको, यत्र पृथ्यपापात्मा इति । अप्र हेतुमाह—शरीरस्य विनाशो देहिन, आत्मनोऽपि विनाशोऽगावो भवति तथा च दर्शने तन्मतलेशो, यथा-  
स्मानादेव जगद्वैचित्रं, यदुक्तम्—“ कण्ठकदय च तीक्ष्णत्वं, मधुरदय विचित्रना । वणीश्च ताम्रकूडानां, सव खाचेन भवन्ति हि ॥ १ ॥ ” इति ॥ १२ ॥ अपाक्रियागादिपाद—

कुठन्वं च० × × × ( सू० ) || १३ ||

॥ ३ ॥

व्याख्या—कुर्वन् कारणंश्च आत्मा न स्वति, आत्मनो व्यापकत्वाद्भूतेत्वाच्च कर्तृत्वात्मुपापत्तिः । तत एव कारणित्वं  
मध्यात्मनो न युक्त, एकश्च 'एवं' शब्दोऽतीतानागतकर्तुनिषेधको द्वितीयः । कर्तृत्व-कारणित्व-निषेधादन्यापि  
क्रिया तस्य नास्तीत्याह—‘सदन्वं’ ति सद्वर्गं परिस्पन्दादिकां देशादेशान्तराप्राप्तिस्थापां क्रियां कुर्वन् आत्मा न विद्यते,  
सर्वव्यापित्वेनामूर्तत्वेन चाकाशस्येवात्मनो निषिक्यत्वं साहृदयमते, एवं ‘ते उ’ति एव मुक्तप्रकारेण ते साहृदया:  
प्रगल्भताः प्रगल्भयन्त्वे धार्यन्त्वे विद्यन्ते ॥ १३ ॥

साम्रांत तज्जीर्न-तच्छरीराकारकवादिनोर्मतं निश्चकुर्वन्नाह—

जे ते उ चाइणो० × × × × ( सू० ) ॥ १४ ॥

व्याख्या—ये तावच्छरीरा व्यतिरिक्तात्माचादितः ‘एवं’ एवक्त्युर्वा भूताव्यतिरिक्तमात्मनमध्युपगतवन्तस्ते निरा-  
क्रियन्ते, तेषां लोकश्चतुर्गतिभग्नहृष्टः कुरुप्रकृतिभग्नहृष्टः जगद्वैचित्रयरूपः कुरुः स्यात् ?, आत्मा-  
नहीकारे पुण्यपापाभावे कथं विश्वैचित्रप्रकृतिभग्नहृष्टः । ते च नास्तिकामतमपोऽज्ञानलग्नात् तमो यान्ति, ज्ञानाचरणाह्वतः  
पूनज्ञानाचरणहृष्टं तमः प्रनियान्ति अथवा सद्विवेकात्रव्यसित्वाचमो-दुःखं, तस्मात्तमो-महादुःखं यान्ति, यतस्ते मन्दा जडा:  
परलोकनिरपेक्षत्वाचारमनिश्रिताः । अयमेव श्लोकोऽकारकवादिमतमाश्रित्य किञ्चिद्विविषते—ये वादिनोऽकारकाः—  
साद्वृद्याः सन्ति, तेषां लोको जरामणेणशोकदृष्टिरूपो नारकविषयगादिरूपो निकिर्ते मत्यात्मनि ‘कुरुः ? कर्मसाद्वेतोः  
स्यात् ? न स्यादित्यर्थः ? ततश्च द्वेष्टुपचाषाधात्ममपोऽज्ञानाचे ‘तमो’, वेदनास्यानं यान्ति । यतो मन्दा आरम्भनिश्र-

मूल्यकाण्डः

सूत्र-

दीपिका ।

तो श्रेति साहृहयमतं निरस्तम् ॥ १४ ॥ अथात्पुण्डिमतमाह—

संति पंच० × × × × ( सू० ) ॥ १५ ॥

व्याख्या—सन्ति पञ्च महाभूतानि इडास्मिन् संमारे । एकेषां' आत्मपुण्डिनां साहृहयानां वेशेषिकाणां च एत-  
हाहयातं, भूतान्याहयातानि चा । ते पुनर्गदिन एतमाहुः—यद्भूतानि आत्मपुण्डि—आत्मा पष्ठे येषां तात्मयात्मपुण्डि,  
केषाञ्चिद्वादिनामनित्यनि भूतान्यात्मा च न तथा एषामित्याह—आत्मा लोकश्च पृथिव्यादिरूपः शाश्वतो—नित्यः ॥ १५ ॥

दुहतो ते ण० × × × ( सू० ) ॥ १६ ॥

व्याख्या—‘ते’ भूतपदार्थी आत्मपुण्डि ‘उभयतो’ निहेतुरुक्षिनाशाख्यां न विनश्यन्ति, औदानां मते  
घटादिवस्तु हेतुं विनाऽपि क्षणे क्षणे विनश्यति, वेशेषिकाणां तु लक्ष्मादियोगेन घटादीनां विनाशः, तेन द्विविधेनापि विनाशेन  
लोकात्मनोर्व विनाश इति तात्त्वयर्थः । यदिवा द्विरूपाचेतताचेतनस्त्रिमाचान्त्र विनश्यति,  
पृथिव्याद्या लोकार्थाचेतनस्त्रिमाचान्त्र विनश्यतीति, न चोत्पत्तेऽप्यत—अविद्यमान, सर्वेऽपि मात्राः सर्वेण  
नित्यस्त्रिमानाः—प्राप्ताः ॥ १६ ॥ अथ औद्दमतमाह—

पंचरखंध० × × × ( सू० ) ॥ १७ ॥

प्रथम श्रुत-  
स्फूर्त्यस्य  
प्रथमा-  
द्ययते  
प्रथमो-  
देशकः ।

॥ ८ ॥

व्याख्या—एके बौद्धः पञ्च स्फुन्थान् चदन्ति । रूपस्फुन्थः १, वेदनास्फुन्थः २, विज्ञानस्फुन्थः ३, सङ्क्षास्फुन्थः ४, संस्कारस्फुन्थः ५ । तत्र रूपस्फुन्थः पृथिवीत्वादयो रूपादयश्च १, वेदनास्फुन्थः सुखदुःखा अदुःखसुखा च वेदना २, विज्ञानस्फुन्थो रूपविज्ञानमित्यादि ३, मङ्गज्ञास्फुन्थः ‘सङ्क्षान् निमित्तोऽप्रहणात्मकः प्रत्ययः, सचिकलपक्षज्ञानमित्यर्थः ४, सरकारस्फुन्थः पुण्यापुण्यादि धर्मममुदायः ५, न चैतेभ्योऽन्यः कक्षिशात्मारूपो पदार्थोऽस्तीति ‘बाला’ मूखस्ते, ते स्फुन्थाः किंभूताः ? क्षणयोगिनः, क्षणां थणे विनश्वरा इत्यर्थः । पूर्वगादिभ्यो वौद्वयतिरेकमाह । ‘अपणो’ चियथा साङ्घर्ष्यादयो भूतेभ्योऽन्यमित्यमात्मानमित्यवन्तस्तथा वौद्वानैवाहुनौक्तवन्तः तथा हेतुभ्यो जातो हेतुकः—काया कारपरिणतभूतनिष्ठादितः, तथाइतुको नित्य, इत्येवं तमात्मानं वौद्वानाहुन्तीति ॥ १७ ॥ तथाइन्ये चतुद्वातुकं जगद्वौद्वा चदन्तीत्याह—

पुढ़वी आऊ०      ✕      ✕      ✕ ( सू० ) ॥ १८ ॥

व्याख्या—पृथिवी धातुः ‘आपो’ जलं धातुः, तथा तेजोवायुषेति धात्रः एते चत्वारोऽपि धात्रौ यदा ‘एका उ’ चिएकाकारपरिणतास्तदाकारतया जोवारूपां लम्नते, एवमाहु ‘जीनका’ पृणुतंमन्या वौद्वाः ‘एवमाहेचु आवरे’ हति कक्षितपाठः तत्र ‘आवरे’ चिं अपरे वौद्वा इत्यर्थः ॥ १८ ॥  
 अथ पूर्वोक्तं सर्वं दुर्मतीनामफलत्वं स्वदर्शनाहीकारं च दर्शयन्नाह—

॥ ५ ॥

अगारमावसंता चिं० × × × ( सू० ) ॥ ३९ ॥  
 न्याख्या—‘अगारं’ गुहमात्रमन्तस्तिषुन्तो गृहस्था, आरण्या वा तापमारुपः, प्रवजिताश्च शाक्यादयः; अपि सम्भावने,  
 हृदं ते सम्भावयन्ति, यथा—इदमस्मदीयं ‘दशर्णं’ मतमापन्ना—आश्रिता: सरेदुःखेभ्यो जीवा विमुच्यन्त इति ते चदन्ति ॥१९॥  
 अथ तेषां निष्फलत्वमाह—

तेणावि संधिं० × × × ( सू० ) ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥  
 न्याख्या—ते पञ्च पञ्चभूतनाशाद्याः सर्विद्या ज्ञानात्मावरणादि कर्मविचरणपं नापि तेव ज्ञात्मा, अज्ञात्मा इत्यर्थः । पं वाक्या-  
 लङ्घारे यथा जीवकर्मणोः सनिधिभिन्नतं भवति तथाऽज्ञात्मा मोक्षार्थं प्रवृत्ता इत्यर्थः । सनिधिद्विधः द्रव्यमन्तिपः कुङ्क्वादै-  
 भावसन्धिः कर्मविचरणरूपस्तं उत्तरोत्तरपञ्चार्थपरिज्ञानं या सनिधिस्तं अज्ञात्मा प्रवृत्ताः । ते किं भूता? इत्याह—‘न ते’ चित्ता-  
 ते जना—लोका न सम्यग् धर्मविदः, ये तु ते एवंविद्यवादितस्ते ‘ओचो’ भग्नोः, संपादस्तत्त्वण्योळा न आख्याता  
 जित्तेः । अग्रेतनाः पञ्च श्लोकाः एवमेव उपाख्येयाः । पर संपाद १, गर्भ ३, जन्म ३, दुःख ४, मार ५, पारगा त  
 भवनतीति द्वेयपृ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥  
 ते यत् प्राप्तुयन्ति तदाह—

नाणाविहाद० × × × ( सू० ) ॥ २६ ॥

॥ ५ ॥

व्याख्या—‘नानाविधानि’ अनेकप्रकाराणि दुःखानि अनुभवन्ति पुनः पुनः संसारचक्रगाले मृत्युपरापरिजनरामिराकुले-व्यासे ॥ २६ ॥ तेषां दुःखफलपुण्डहारं चाह—

उच्चावयाणी० × × × × ( सू० ) ॥ २७ ॥

व्याख्या—‘उच्चावच्चानी’ ति अधमोचमानि स्थानानि ‘गच्छन्तो’ अमन्तो गमाद्दमेद्यनिति—यास्थन्तपतन्तशः ‘नायपुत्रे’ ति ‘ज्ञातः’ सिद्धार्थश्वत्रियस्तस्य पुत्रः श्रीमहावीरो जिन एवमुक्तवान् हति । ब्रजीमीति सुघर्षास्वामी जग्मृत्यामिन प्रत्याहेति ॥ २७ ॥

इति श्रीसुत्रकृते द्वितीयाहे प्रथमोदेशकल्याहया सम्पूर्ण ॥ १ ॥

उक्तः प्रथमोदेशः, अथ द्वितीयोदेशकः कल्पते । तस्यायमर्थसम्बन्धः आश्रोदेशके भूतवादाद्यादिमतं प्रददर्श निराकृतं, इहायवच्चिटं तदेवोपदकृतं निराक्रियत इत्यनेन सम्बन्धेनापातस्यास्योदेशकस्य चक्रं यथा—

आधायं पुणा० × × × ( सू० ) ॥ १ ॥

व्याख्या—पुनः ‘एकेषां’ नियतिवादिनामेतदाखणाते, आख्यातमित्यत्र भावे क्त प्रत्ययः, तद्योगे च “ चा कलीच ” इति कर्त्तरि पृष्ठे । ततश्च नियतिवादिभिरिदमाख्यातविमित्यर्थः । किं तदित्याह—‘उबवणा’ चित ‘उपपत्रा’ युक्तया घटमानाः ‘पृथक्’ अनेके जीवाः जीवसत्त्वे पञ्चभूततत्त्वरिचादिमतं निराकृतं पृथगित्यतेन आत्माऽद्वैतवादिनिरामश ।

तेऽनेकं जीवाः सुख दुःखं देवनारकादिगच्छेषु ‘वेदयनि’ अनुभवन्नित, अनेनाकर्त्तव्यादो निरस्तः । ‘अदुवे’ ति अथवा ‘लुप्यन्ते’ स्थानात् स्थानान्तरं भग्नामपन्ते, एतेनोपपाति कृत्वप्रपुक्तम् ॥ २ ॥ नियतिगादिमतमेवाहुं श्लोकद्वयेन—

न तं सर्वं कल्डं०    ×    ×    ×    ( सू० ) ॥ २ ॥  
न सर्वं कल्डं०    ×    ×    ×    ( सू० ) ॥ ३ ॥

व्याख्याया—यत्त्वैः प्राणिभिरुभृयते सुखं दुःखं स्थानविलोपनं च, न ते तत्समयं—आत्मना पुरुषाकारेण कृत दुःखं, दुःखस्य चोपलक्षणात्पुखमपि ग्राह्यं, सुखदुःखात्माः पुरुषकारक्तो न स्यादित्यर्थः । अनेन कालेश्वरस्वभानुभादिना च कृतः कृतं । प्रमित्यलङ्घारे । कालादिभिरपि न कृतमित्यर्थः किन्तु नियतेन नियथते सर्वभिति । ततो सुखं संदिक्षिणं सिद्धं—मोक्षं भवं संदिक्षिणं, यदि ‘वा’ दुःख असंदिक्षिणं—सामारिकं, अथवा संदिक्षिणसंदिक्षिणं च सुख, यथा सर्वं चतुर्दशानामुपभोगक्रिया, सिद्धौ भवं संदिक्षिण, आनन्दे सुखपानःदहनप्रसंदिक्षिणं तथा संदिक्षिणसंदिक्षिणं च दुःख, यथा कशाताडनाकृतादिक्रियासिद्धौ भवं संदिक्षिण—जगरधिरोत्तिश्वलादिलपमङ्गोत्थप्रसंदिक्षिणं दुःख । एतदुभयमपि सुखं दुःखं च न पुरुषाकारक्तं न चान्यैः कालादिभिः कृतं वेदयन्तपुखवन्नित पृथग जीवाः, कथं ताहि प्राणिनो सुखं दुखं च स्यादित्याद—संग्रहम् ति सम्यग् इच्छपरिणामेन गतिर्यस्य यदा यत्र यत्पुखदुःखात्मानं सा सद्गतिर्नियतिस्तस्या भवं साङ्गतिकं, नियतिकृतमित्यर्थः ॥ ३ ॥ इहास्मिन् दुखदुःखात्मादेव एकेषां नियतिगादिनामिदमाख्यातं यदुक्तं ते:—

“ प्राप्तव्यो नियतिवलाश्रयेण गोर्धः, सोऽवश्यं भवति दृणं शुभोऽशुभो च ।  
मृतानां महति कृतेऽपि हि प्रथने, नाभाड्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ ५ ॥ ” इति ॥ ३ ॥

अस्योचरमाह—

एवमेयाणिं० × × × × ( सू० ) ॥ ४ ॥

उद्याख्या—एवमेतानि पूर्वोक्तानि वचनानि जलपन्तो नियतिवादिनो ‘बाला’ मूर्खः, पण्डितमानिनः, शव्यमपण्डिता अपि आत्मानं पण्डितं मन्यमानाः । पुनः किम् मतः ? नियता नियतमजानन्तः, किञ्चिन्नियतिकृतमवश्यम्भाविति नियतं, आत्म-पुरुषाकारेश्वरादिरुतं किञ्चिदनियत, एवं द्विविधं वस्तु अजानन्तो नियतिकृतमेवंकान्तेनाश्रयन्तः । अत एवाऽबुद्धिकाःः—बुद्धिरहिता भवन्ति, पुरुषाकारादयोऽपि वस्त्रपादकाः, यतः । ‘ न दैवमिति सञ्जिनत्य, लज्जेदुद्यममात्मनः । अतु यमेन कल्पतैलं, तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ? ॥ ६ ॥ ” इति । इत्याद्यजानन्तोऽत एव निर्दुद्धिकाः ॥ ४ ॥ एतद्वादिनामपायमाह—

एगमेगे उ० × × × × ( सू० ) ॥ ५ ॥

उद्याख्या—एवमेकं नियतिवादिनः पाश्वस्था युक्तिस्मृहाद्दिस्तपुन्तीति पाश्वस्थाः परलोककियापाश्वस्था चा, अयत्वा ‘ पाशः ’ कर्मचन्दनं तत्र स्थिताः, ‘ ते मुज्जो ’न्ति ते भूयो विविधं ‘ प्रगलिमताः ’ घाष्योपेताः, नियतिवादमङ्गी-कृतयापि एवं पुनरपि स्वकार्यं परलोककियामुच्च च प्रवत्तमाना अरु एव घाष्योपेताः न ते दुःखविमोचकाः आत्मानं

सुनकुलानं

सुत्र-

शीपिका ।

दुःखाच मोचयन्ति ॥ ५ ॥ नियमिगादिनो गता, अथाऽगानिपतमाह—

जाविणो मिगां० × × × × ( सू० ) ॥ ६ ॥

व्याख्या—‘निनो’ नेगार्दः सर्वो युगा: ‘परिगाणेत’ यशोन ‘लाईः’ रहिताः, अयगा ‘परितां’ प्रापा-  
गापादिग्रन्थं, तेन ‘निनो’ भगवानितः यशोऽजडित्वानि व्याजानि गहने, भगवानाः सन्तो निर्मात्रयणि  
स्यानानि नभगतया समयते शान्तिनि च वायुपादोनि व्याजानाः ‘गमयेयना’, द्रव्यतावद्योग गमयन्तः ॥ ६ ॥

परिवाणियाणिं० × × × × ( सू० ) ॥ ७ ॥

व्याख्या—परितां गतां रेषु तानि परिगाणितानि—जगत्प्रभुनानि स्यानानि यूक्त्यान् यहुमानाः—मगवाति मन्य-  
मानाः ‘परिगानि’ प्राज्ञुकानानि अशङ्कानादेषु ग्रहाभ्युग्माः आ गतेन भौत च ‘संचित्ता’ ति पश्यत् व्यासाइता च  
तरा नागुरादिकं वन्ननं गमयेयन्ते, भगवानोत्परिमात्मात् अयन्ते गन्धन्तीति ॥ ७ ॥ इमे ददान्तपात्रित्याह—  
अहं पवेज्जां० × × × × ( सू० ) ॥ ८ ॥

व्याख्या—‘अयानन्तरपमी मुगमत्तरपमी वज्रं’ तिं ‘वज्रं’ चन्द्रनकारणं रजुरागुरादिवन्यं च यदि ‘लवेत्’ उपति-  
गच्छेत् ‘गा’ अयत्वा वधेष्य प्रयो वज्रेत् तदा ‘पदपात्र’ वागुरादिवन्मनसुन्यते, एं सन्तमपि वामनर्षपरिहरणो-  
पायं ‘मन्दो’ जडो न ‘देहती’ ति न पश्यति ॥ ८ ॥ पायमपश्यतो याऽन्तर्या स्याचामाह—

प्रयमशुत-

स्फुरयस्य

प्रापा-  
हयन्ते  
दितीयो-  
देशकः ।

॥ १ ॥

आहे अपाठाही० × × × ( सू० ) || ९ ||

३४२  
उपर्युक्त विषय के अन्तर्गत इस प्रश्न का उल्लेख है—  
‘विषमान्तेन’ कृदपाशादियुक्तेन  
अवस्था-  
प्रदेशेनोपागतः, अथवा ‘विषमान्ते’, कृदपाशे आत्मानमनुपातयेत्, तत्र चासौ बहुः पदपाशादीनन्तर्थमहुलान् अवस्था-  
विशेषान् प्राप्तस्त्रं वर्त्यने, वासं विनाशं, निगच्छति? प्राप्तनोति ॥ ९ ॥ उष्टुन्तर्योजनामाह—

एवं तु समणा० × × ( स० ) .॥ १० ॥

वयारुया—‘एवं’ पूर्वोक्तमृगदायान्तेन, तुरवचारणे, एके अमणः पारवाणाश्रिता प्रिच्छयाहृष्टोऽनायाः अप्रदत्तुष्टाना अशाहीहृतानि धर्मरुष्टानानि शङ्खमानास्तथा। शक्कितानि-एकान्तरपक्षाश्रयणानि अशक्किनोः मृगा इच्छानथ्यमाजः स्युः ॥ १० ॥

oInklnabHtE

नवाख्या—‘धर्मप्रज्ञापना’ शान्तियादि दशविधधर्मप्रस्तुपणा या सा प्रसिद्धा तां शङ्कन्ते, अपद्धर्मप्रस्तुपणे यमिति मन्यन्ते, आरम्भांश्च-पापोदानभृतान् न शङ्कन्ते, यतो ‘अचयकरा’ मुग्धाः सद्गमद्विवेकविकला । ‘अर्थोचिदाः’, अप्पिडिताः सच्छास्त्रावबोधविष्वुराः ॥.२२॥ तेषां सत्कलाभावमाह—

सवप्पगं० × × × ( सू० ) ॥ १२ ॥

व्याख्या—‘सर्वतिसको’ लोपसं ‘व्युत्कर्ता’ मानसं गर्नुँ ‘ति मायां रेया ‘अधिक्षियं’ ति कोषसं च  
विध्या ‘अनुभावः’ न वियते कर्मांगो यस्य मोडकर्मांगः द्याव् ! अनुभावितो न जानाक्षराति नाजानादित्याह—‘एय-  
महं’ ति एतमये कर्मांगानरुपं सुगा हा सुगो अजाती ‘चुह’ ति रपेत् ॥ १२ ॥ भूयोद्यगानानादित्यां दोपमाद—  
जे एतं जापिम० × × × ( सू० ) ॥ १३ ॥

व्याख्या—य एतं कर्मांशुपणोपायं न जानन्ति भिक्षयाइयोऽनागरिण्ये मृगा हा पायनदा ‘यां’ विनाशमेष्यन्ति—  
यास्यन्ति अन्वेष्यन्ति वा, तद्योग्यकियाकरणात् ‘अनंतको’ निरन्तरम् ॥ १३ ॥ अजानानादिनामेरा दृष्णस्तरमाह—  
माहणा० × × × ( सू० ) ॥ १४ ॥

व्याख्या—एके ब्राक्षणास्तथा ‘भगवाः’ परिचाजकाः मर्मे शक्कगामीयं प्रान्तं वदन्ति, न य तानि यर्मां ब्रानानि,  
अन्योन्यविरोधेन प्राप्तवत्तरात्, तस्माद्वानसेय थेष इत्याह ‘सद्वयलोयंसि’ ति मर्मद्विष्टिहोत्रे ये ‘प्राणाः’ प्राणिनस्ते  
, किञ्चन ‘समयं न जानन्ति ॥ १४ ॥ एय दृष्णन्तुमाह—

भिलबख्य० × × × ( सू० ) ॥ १५ ॥

व्याख्या—यथा ‘स्केन्द्रोऽनार्थः’ ‘अन्तेन्द्रुद्ययार्थस्य’ यद्युक्तं मार्गित, तदडुमाषते, परमार्थशूलं तद्वापीत-  
मेकाउमाते, न च हेतुं विजानाति ॥ १५ ॥ दार्दिनिरुक्ते योजगति—

एत्वमन्नाणिआ० × × × × ( सू० ) || १६ ||

ङ्यासुह्या—एत्व‘मज्जानिका’ सम्यग्ज्ञानरहिताः ‘स्वकं आत्मीयं ज्ञानं प्रमाणत्वेन चदन्तोऽपि निश्चार्थं न जानन्ति ।  
‘इत्व’ यथा मलेन्द्रो निश्चार्थमज्जानन् परोक्षमतुचदत्येवं तेऽपि ‘अघोधिका’ बोधरहिताः, ततोऽज्ञानमेव श्रेप इति  
॥ १६ ॥ इदानीमेतदद्वयणायाह—

अपणाणिआण० × × × × ( सू० ) || १७ ||

ङ्यासुह्या—‘अज्ञानिकानां’ अज्ञानमेव श्रेय इति चादिनां यो ‘विमर्शौ’ विचारः स अज्ञानेऽज्ञाननिषये ‘न निष-  
च्छति’ न युज्यते, यतो ज्ञानं सत्यमसत्यं वेति विमर्शः अज्ञानेन कृतेऽपराधे स्वल्पो दोषः, ज्ञानेन कृते महान् दोष इत्येवं-  
भूतो विश्वारोऽपि तेषां न युज्यते, एवंविश्वविचारस्य ज्ञानरूपत्वादिति, अज्ञानवादे विचारो न युज्यते । तथा आत्मनोऽपि  
परं प्रश्वानमज्जानवादं ‘शासितु’मुपदेष्टुं ‘नालं’ न समर्थः, स्वयमज्ज्ञत्वात्, कृतो अन्येषां शिष्याणामुपदेष्टुं समर्था  
मवेषुः ॥ १७ ॥ यथा ते आत्मनः परेषां च शिक्षणेऽसमर्थस्तथा दृष्टान्तेनाह—

वणो मुढो० × × × × ( सू० ) || १८ ||

ङ्यासुह्या—क्वनेऽरण्ये यथा कश्चिन्मूढो जन्मुमूढमेव ‘नेतारं’ प्रापकमतुगच्छति आश्रयति, तदा तौ द्वाचापि ‘अको-  
विदौ’ मागणिषुणो सन्तो तीव्रं श्रोतो गहनं श्रोक वा ‘नियन्त्वात्’ प्रापत्वः ॥ १८ ॥ दृष्टविन्दत्वान्तरमाह—

मुक्तहतात्

सूत्र-  
दीपिका ।

अंधो अंधे० × × × × ( सू० ) ॥ २९ ॥

इयरुप्या—यथाइत्वः सायमन्तराम्बं पश्यान्तं नगरं ‘दृग्मलानं’ चाक्षित्तापागदिन्यं दौरं माणं गच्छति । तथा ‘उत्तरेण’ उच्चमार्गमापद्यते ‘जन्मतुः’ प्राणी अन्तः । अयमा परं पश्यन्तप्राचुर्लक्ष्माम् ॥ २९ ॥ दायनित्रकमर्यपाह—

एवमेग० × × × × ( सू० ) ॥ २० ॥

इयरुप्या—‘एने’ पूर्वीक्षेत्रं एकं गात्रपूरा ‘नियागो’ गोथः गदमो गा, तदर्थं तस्मै किञ्च तर्यं घण्डाराम का इति जानन्तो अपर्वं पापमेव ‘आपोरत्’ प्राचुर्यति । तथा तेऽपदनुष्ठाना आकौटिनादयो गोपालकृष्णतात्परिगोडग्रन्थाद् प्रमुखाः । मर्मया ऋक्षुः ‘सर्वं’; संयमः सुरमी गा, त न तरोद्गुर्वं गच्छति । त यद्गुर्वं गीत्येः । अपवा ‘सर्वं’ सर्वं अतातन्था त चरेयुः ॥ २० ॥ दृग्मलान्तरपाह—

एवमेग० × × × × ( सू० ) ॥ २१ ॥

इयरुप्या—‘एने’ पूर्वीक्षेत्रं एकं गात्रपूरा चिन्तित्वादित्वो ‘प्राचीगो’ शीतांगाभिः परमन्यं जैनादिकं न पृष्ठपामते न सैवत्वे, चापत्तमेव शेष इनि ग्रन्थमा तेऽप्तं ते चत्वे, नानां ग्रन्थादित्वादित्वं, तथा ‘अपापो’ चित्त आत्मीयीर्वत्वं, मरिचारिरयमस्पदयोगो यागो ‘गच्छु’, निदित्तिरात् अपकः शष्टः गच्छु ग्रुगोडकृष्टिकः दिग्दमाचे दुमतप्यस्तात् एतापाह— ॥ २१ ॥ पुत्रस्तेयामेव दोपापाह—

प्रथमशुरु-  
स्कस्वस्य  
प्रथमा-  
द्वयपते-  
द्वितीयो-  
द्वेषकः ।

॥ १ ॥

एवं तक्काइ० × × × × ( सू० ) ॥ २२ ॥

व्याख्या—एवं पूर्वोक्तन्यायेन ‘तर्क्या’ स्वकलानया ‘माध्यदत्तो’ वदन्ते धर्मावधीयोऽकोविदाः दुर्बलं ते नाति-  
त्रोटयन्ति न अतिशयेनापनयन्ति, यथा शकुनिः पञ्चां-पश्ची पञ्चरसयो यथा पञ्चर ओटायिं वन्धनादाहमातं योचयितुं त  
समर्थ, एवममानपि संमारपञ्चराहात्मानं मोचयितुं नालप् ॥ २३ ॥ अथ एकान्तवादिमते दृष्टयन्नाह—

सयं सय० × × × ( सू० ) ॥ २३ ॥

व्याख्या—इचकं स्वकुमानमोयमात्मीयं मतं प्रशंसन्तः । परकीया वाचं ‘गर्हन्तो निनदन्तः, यथा साहृदया नित्य-  
वादिनो वैद्यु शणिकवादिनं निनदन्ति, तेऽपि साहृदयान्, एव मन्येऽपि हैयाः, एवं एकान्तवादिनो ये ‘तु’ रक्षारणे, तत्त-  
वेदेन स्वमतेषु ‘विद्वस्यन्ते’ विद्वांम इवाचरन्ति । ते संपारं व्युचिक्षणः, निविषमते कप्रकारमुत्प्राचलयेन श्रिताः संमारे  
समद्भा उपिताः स्युः ॥ २३ ॥ अथ क्रियावादिमतमाह—

अहाचरं० × × × ( सू० ) ॥ २४ ॥

व्याख्या—अथाऽपरं ‘पूर्वमारुद्यात’ पूर्वमूचितं क्रियावादिदर्शनं, किम्भूताः क्रियावादिन ? इत्याद—‘कर्ममर्चित’सि-  
कर्मणि ज्ञानावरणादि के चिन्ता कर्मचिन्ता, गतः ‘प्रणाटा’ अपगता, यतस्ते चतुर्विंश्च कर्मचिन्ता नेत्रछन्ति, रवः कर्मचिन्ता-  
प्रणाटास्तेपामिदं मतं संमारस्य प्रवद्धनं स्यात् ॥ २४ ॥ कर्मचिन्तानष्टव्यमेवाह—

प्रथमश्रुति-  
स्कन्धस्य  
प्रथमा-  
इयमने  
दितीयो-  
हेशकः ।

जाणं काएणाऽर्द्धी० × × × ( सू० ) ॥ २५ ॥

व्याख्या—जानन् यः प्राणिनो हिनस्ति ‘कायेन’ शरीरेण चाँडनाकुँ‘ अहिमकः, कोऽर्थः ? कोपादेत्तिमित्तान्-  
मनोब्यापारेण जीवान् हन्ति, न कायेन, तस्यानवर्यं, कर्मापचयो न स्यादित्यर्थः । तथाऽनुबोद्वानम् कायेन हिनस्ति  
तस्यापि मनोब्यापारामाचान् कर्मवर्यः ‘पुटो’ति तेन कर्मणाऽसौ केवलमनोब्यापारकृतेन केवलकायकियोत्थेन वा  
स्पष्ट एव वेदयति, स्पर्शमात्रेण व तत्कर्मानुभवति, न तस्याधिको विषयकः, स्पर्शानन्तरमेव परिशृष्टतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

एवं तत्साक्षं कर्म अव्यक्तमेन, न स्पष्टं, कथं ताहि कर्मोपचयः स्यादित्याह—

संतिमे तउ० × × × ( सू० ) ॥ २६ ॥

व्याख्या—सन्तयमूनि श्रीणि ‘आदानानि’ कर्मोपादानि, यैः पापकर्म कियते, तात्पाद—‘अभिकर्म’, मनस्वं  
गत्वा स्वयं हन्ति १, पर प्रेष्य यत्कारयति २, कुर्वन्तं वा मनमाऽनुजानीते ३, एतत्कर्मोपादानप्रयम् । अपमानः—केवल  
मनमा शरीरेण वा न कर्मवर्यः, किन्तु यत्र स्यायं लृतकारिताऽनुगतयः विलक्षणमायश तदैर कर्मप्रयः ॥ २६ ॥

एतदेव दर्शयति—

एए उ तउ० × × × ( सू० ) ॥ २७ ॥

व्याख्या—तुरवधारणे, एतान्येन श्रीणि व्यस्तानि समस्तानि कर्मादानानि, यैः पापं कर्म कियते । एवं सति यत्र  
॥ १० ॥

कृतकारितानुमतयः प्राणिहिंसायां न सन्ति, तत्र भावविशुद्ध्या—रागदेपरहितशुद्ध्या। प्रवर्चमानस्य सत्यपि प्राणातिपाते केवलेन मनसा मनोभयापाररहितेन कायेन उभयेन वा विशुद्धशुद्धेन कर्मचन्वस्तदभावान्विकाणमभिगच्छति—प्राचनोति ॥२७॥ भावशुद्ध्या प्रवर्चमानस्य हिंसायामपि कर्मचन्दो न ह्यादित्यन्नार्थं दृष्टान्तमाह—

पुत्रं पिया० × × × × ( सू० ) ॥ २८ ॥

व्याख्याया—पिता पुत्रं ‘समारम्य’ व्यापाद्य आहारार्थं कस्याच्चित्थाविधायामापोहि रागदेपरहितो ‘असंयतो’ शुहस्थस्तनमांसं भुंजानोऽपि, च शब्दोऽप्यर्थं, मेवाची संयोगोऽपि शुल्जानः कर्मणा नोपलिष्यते, यथा पितुः पुत्रं व्यापादयतोऽपि शुद्धमनसः कर्मचन्दो न स्यारक्तद्विष्टस्य प्राणिच्छेन न कर्मचन्दः ॥ २८ ॥ एतद्दृपयन्नाह—

मणसा जे० × × × × ( सू० ) ॥ २९ ॥

व्याख्याया—ऐ कुतोऽपि हेतोर्मनसा ‘प्रदुःङ्घनित’ प्रदेशं यान्ति तेषां वधपरिणतानां शुद्धं चित्तं न विद्यते । एवं च यच्चैरुक्तं केवलमनः प्रदेषेऽपि ‘अनवच्यं’ पापाभाव इति तेषामतथं-मिथ्या, यतस्ते न संकुचचारिणः, मनसोऽशुद्धत्वात् । तथाहि-कर्मचन्दे मुख्यो हेतुमन एव, यथा इर्यापथेऽनुपयुक्तो गच्छत् कर्मचन्धकः, उपयुक्तस्तु सहसाहिमकोऽपि न कर्मचन्धक इति ततः पुत्रं पितेति दृष्टान्तो न समीचीन इति ॥ २९ ॥ अथ तेषामनर्थमाह—

इच्छेयाहि० × × × ( सू० ) ॥ ३० ॥

“सुकृताङ्

सूत्र-

दीपिका ।

वयारुया—इत्येततमिः पूर्वकामिद्विभिर्मैस्ते वादिनः सावगोरपनिशितः इदमसमन्पतं शरणमिति मन्यमाताना नराः  
प्रथमश्चुरु-  
स्कन्धयस्य  
प्रथमा-  
ध्ययने  
तुतीयो-  
देशकः ॥  
॥ ११ ॥

जहा अस्साविणिं० × × × ( सू० ) ॥ ३१ ॥

वयारुया—‘आश्रिष्ठिः’ मञ्जिलहर्णं नार्वं यथा जातपन्थः समाहग पार-तद्वागन्तुमित्युति, स तरो नारो जलं  
वयासत्तात् ‘अन्तरा’ पद्ये एव विधीदति-जले निपत्तिः ॥ ३२ ॥ दार्ढनित कुर्यमाद—  
एवं तु समणा० × × × ( सू० ) ॥ ३२ ॥ तिवेमि ॥

वयारुया—एवं तोद्वान्तेन एकं श्रमणः शास्यादयो मित्यादयोऽनायः समतातुपारिण संसारपारकाद्यक्षणोऽपि  
संसारमेवाऽनुपर्यटन्ति, संसार एगानन्तकालं भ्रमन्ति ॥ ३२ ॥ इति न रीभीति पूर्वगत् ॥

इति श्री सुचकृनन्दे प्रथमाद्वयने द्वितीयोदयेशकः सामासः ॥  
द्वितीयोदयेशके सान्निध्यमाग्रहणा छता, तुतीयेऽपि सेनोऽपते इति-तस्येदमादिद्युतम्—  
लंकिंचि चिं० × × × ( सू० ) ॥ १ ॥

वयारुया—यति क्षिदाहारजां समलं वनं या पूतिहत-गायाकमादि मित्येतापि युक्तं ‘सहृदि’ शब्दान्वा  
भक्तिमतान्येनाऽपरागन्तुकान् उद्दिष्य ‘ईहितं’ छते, तत्याहसान्तरितमपि यो बुद्धीन, [महि] पदं गृहस्यपक्षं पवजितपश्च ॥ १२ ॥

च सेवते, अयमर्थः आधाकर्मादिलवेनाऽपि संसृष्टं परकं चमलगाहारं यो भक्तयेत्, मोऽपि द्विषशासेवी स्यात्, कि पुनः स्वयमाहार निष्पाद्य ये शाकयादयो भुजने ते सुतां द्विषशासेविनः स्युरित्यर्थः । अयता द्विषशमीर्यर्पयं मामपरायिक वा बद्धनिकाचितमेवं वा कर्म, तसेविनः परतीर्थिकाः स्वयूच्या वा स्फुरिति ॥ १ ॥ अय तद्वेजिनां विषाकं हृष्टान्तेनाह—

तमेव अविआणांताऽ गुणां ( सू० ) ॥ २ ॥ उदयस्त गुणां ( सू० ) ॥ ३ ॥

व्याख्या—तमाभाकमर्थिष्यपमोगदोषमविजानन्तो ‘विषमे’ कर्मचन्द्रे संसारे वाऽकोविदाः—कर्थं कर्मयन्तः स्यात्कर्थं चन व्याख्या—र्तमाभाकमर्थिष्यपमोगदोषमविजानन्तो ‘विषमे’ कर्मचन्द्रे संसारे वाऽकोविदाः—कर्थं कर्मयन्तः स्यात्कर्थं चन स्यात् कथं संसाराण्णवस्तीयत इत्यत्रानिष्यन्तः दुःखिनः स्युः । हृष्टान्तमाह—मत्स्या । यया ‘वेसालिङ्ग’ चिं विशालः समुद्रसत्र यत्रा विशालाख्यजातिमत्रा वा विशाला एव वा वैशालिका—हृष्टान्तमाह—मत्स्या उदकस्य जलस्यामयमे समुद्रवेलायां सत्यां उदकस्य प्रभावेन नदीसुखमागताः, पुनर्वैलाप्यमे जले गुह्यदेवेनाऽपाने सति ठड्कः कड्केश पक्षिविकेषेवन्यशामिपाश्चिमिविठ्ठ्यमानास्ते दुःखिनो मत्स्या ‘घात’ विनाशं यान्ति—प्रारुचन्तीति ल्लोकदयार्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ दार्ढनितक्यो जनामाह—

एवं तु समणाऽ गुणां ( सू० ) ॥ ४ ॥

व्याख्या—एवमेके अमणाः शाकयादयः स्वयूच्या वा वर्तमानमेव सुखं हृष्टलोकसुखमाघाकर्माशुपमोगनमेपितुं शीर्ळं चेषां ते वर्तमानसुखैवेषिणो वैशालिका मत्स्या इति ‘घातं’ विनाशमेष्यन्त्यन्तशो यास्यन्ति वहन्वारं संसारे अमिष्यन्ति दुःखमतुभवन्तः ॥ ४ ॥ अथापराह्नानिमत्स्यमाह—

स्वरुपताङ्ग-  
संस्कृत-  
दीपिका ।

॥ १२ ॥

प्रथमश्रुत-  
स्फुटवस्य  
प्रथमा-  
इयते  
हेशकः ।  
तुतीयो-  
हेशकः ।

वृणमन्तं तु ख ख ख ख ( सू० ) ॥ ५ ॥

न्यारुद्या—इदं वृष्णमाणमन्यत् अज्ञानं, इहास्मिल्लोके एकेषामाल्यात् । कि पुनस्तैराख्यातमित्याह—‘देवउत्त’ जि  
देवेन ‘उसः’, कुतं देवोऽप्तु चाऽय लोकः ब्रह्मणा उपो-ब्रह्मणा कुतो वायं लोक इत्यपरे वदन्ति ॥ ५ ॥ तथा—  
ईसरेण० ख ख ख ( सू० ) ॥ ६ ॥

न्यारुद्या—ईश्वरेण कुतो लोकः अपरे नदन्ति प्रवानादिकुतो लोकः, सर्वजनस्तरमोगुणानां साम्पाचस्था प्रकृतिः, सैव  
प्रवानशुद्धचाच्या । आदिगच्छान्नियतिकुतो लोक इत्यन्ये, लोको जीवाजीवसमापुकः सुखदःखमन्वितश्च ॥ ६ ॥ तथा—  
सर्वयंभुणा० ख ख ख ( सू० ) ॥ ७ ॥

न्यारुद्या—स्वयम्भुविण्युत्तयो च, मैल्लकाकी इति न लगते, तरोऽन्या शुक्रिः समृप्तमा । तदनन्तरं जगत्सुषिरभृत्  
इति महर्षिणा उक्तं । ततः स्वयम्भुवा लोकं निष्पाद्याऽतिसमारमयामारुद्यो मारो व्यष्टायि, तेन मारेण  
'संस्तुता' कुर्वा माया, तया मायया च लोकोऽप्नियते, न च तत्त्वतो जीविष्य मृत्युरिष्टि, अरो मायेषा, तेन लोकोऽशाश्वत्  
इति गमयते ॥ ७ ॥ तथा—

माहण० ख ख ख ( सू० ) ॥ ८ ॥

न्यारुद्या—‘ब्राह्मणा’ हिज्जातयः, अमणास्तिदण्डप्रमुखा, एके अण्डेन कुतमऽहतं अण्डाकाातं अगत् ‘आहुः’  
॥ १२ ॥

वदन्ति, व्रस्तणाऽण्डं कुर्ते, ततो विश्वं जातं । पञ्चभूते जगति अमौ ब्रह्मा 'तच्चं' पदार्थसमृहमकारीत्-कृतवान्, ते च  
त्रास्तणाद्याः परमार्थानभिज्ञा एवं सूपा वदन्ति ॥ ८ ॥ अथ तेषामुत्तरमाह—

सतोहि० × × × × ( सू० ) ॥ ९ ॥

नयाख्या—स्वकै-निजैः पर्याये-रभिप्रायेलोकं कृतमधुवन् कथितवन्तस्ते 'तच्चं' परमार्थं नाभिज्ञानन्ति, न च विजाकी  
लोकः कदाचिन्निर्मूलतः, पर्यायरूपेण विनाशयपि द्रव्यार्थतया नित्यत्वात् । लोकस्य ईश्वरादिकृतत्वनिषेधयुक्तपृष्ठीकातो  
द्वेयाः ॥ ९ ॥ अथ तेषां सूपाचादिनां फलमाह—

अमणुज्ञ० × × × × ( सू० ) ॥ १० ॥

नयाख्या—‘अमनोङ्गं’ अमद्गुप्तानं, तस्मादुत्पादः-प्रादुर्भावो यस्य तत् अमनोऽस्मसृतगां-दुःखं विजानीयात् प्राज्ञः,  
अयमर्थः-स्वकृतादऽनुष्टुपादेव दुःखसृतपद्यते, नेश्वरादेरिति, ते चैवं दुःखस्य समृतपादमज्ञानन्तः कथं दुःखस्य संचर प्रति  
घातहेतुं ज्ञास्यन्ति ? कारणोच्छेदादेव कार्योच्छेदः स्यात्, कारणं चाऽज्ञानन्तः कथं दुःखोच्छेदाय यतिष्यन्ते ? यतनवन्तोऽपि  
दुःखोच्छेदं नाप्नुवन्तीति ॥ १० ॥ कृतवादिमतमेवाह—

सुद्धे अपाचए० × × × ( सू० ) ॥ ११ ॥

नयाख्या—अयमात्मा शुद्धो, मनुष्यस्व एव शुद्धाचारो भूत्वा मोक्षेऽपापकः स्यात्, हृदमेकेषा गोशालमतात्मारिणा-

॥ १३ ॥

मारुपति, पुत्रप्रमात्राऽकर्मको भूता कीड़ा प्रदेशेण वा तत्र मीषकथ एवापाचयति—सज्जा क्लियते, तस्य हि सनातासन-  
पूजामन्यदक्षितपराभवपुलभ्य ‘क्रीडा’ प्रमोदः स्यात्, सज्जासनतपराभवदशेनाच देपः, ततोऽसौ क्रीडा—देपाभ्यां कर्मणा-  
वद्यते, ततो भूयः संसारेऽनतरति ॥ १२ ॥ किञ्च—

इह संबुद्धेऽ० × × × × (सू०) ॥ १२ ॥

व्याख्या—इह संसारे प्राप्तः सत्र प्रवद्यन्यामङ्गीरुत्य संभूतात्मा जातः सत्र पश्चादपापः स्यात् । यथा ‘विकटाम्बु’  
उण्णोदकं ‘नीरजस्कं’ निर्मलं सत्र वादोदधूरेण्युक्तं ‘मरजस्कं’ मलिनं भूयः स्यात् । तथाऽप्यमात्रमा त्रैरामिकाणां  
मते राशित्रयावस्थः स्यात् । यथा—पूर्वं संसारावस्थायां स नम्नकः, ततो मोक्षेऽकर्मकः पुनः आसनपराभवदवृत्तनाद् द्वेषो-  
दयात्मकम् स्यादिति ॥ १२ ॥ एतन्मतं दृग्यति—

एआणुचिंतिऽ० × × × × (सू०) ॥ १३ ॥

व्याख्या—‘एतान्’ पूर्वोक्तान् वादिनोऽनुचिन्त्य ‘मेघाची’ प्रज्ञाचानेतदवधारेयथा—न ते वादिनो ‘ब्रह्मचर्ये’  
संयमात्रुष्टाने वसेयुः । यद्यपि ते संयमे स्थितास्तथापि न सम्यगत्रुष्टातार इत्यवधारयेत्, पुथक् २ सर्वेष्येते ‘प्राचाहुता’;  
परमतिनः स्वकं स्वकं—आत्मोयं दर्शनमालयातारः, शोभनत्वेन कथयितारः, स्वदयेन शुभं बदन्ति ते, न च तत्रास्था  
विषेयेति ॥ १३ ॥ कुठत्वादिमतमेव प्रकारान्तरेणाह—

स ए० स ए० × × × × × ( स० ) ॥ ३४ ॥

व्याख्या—ते कुत्रिदिनः स्वके उपस्थाने 'उपस्थाने' संयमायातुष्टुने 'सिद्धि' मोक्षमिहितवन्ती, नान्यथा, तथा सिद्धि-  
प्राप्तेभ्यः प्रागपि 'वशवच्चौ' वशेन्द्रियः स्थात्, असम्मताश्रितः सांसारिकैः स्वभावेनामिभूयते सर्वे 'कामा' अभिलाषा  
'समर्पिताः' समर्पना यस्य स सर्वकामसमर्पितः, इहलोके इदशः स्थात् । परलोके च मोक्षं यायात् इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ एतदेवाह—

सिद्धा य ते० × × × ( स० ) ॥ ३५ ॥

व्याख्या—ते असम्मताश्रिताः सिद्धाक्षारोगाश्च स्युः । अरोगग्रहणात् शारीरमानसानेकदुःखरहिताश्रेति व्रेयं । इहास्मिन्—  
लोके एकेषां जैवगादीनामिदमालयातं ते हि 'सिद्धि' पुक्तिसेव पुरस्कृत्याक्षीकृत्य 'स्वाशये', स्वप्रतातुरागे । प्रथिताः,  
सम्बद्धा नराः प्राकृतपुरुषाः पिण्डतंत्रया इवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ एतदृढपृणायाह—

असंबुद्धा० × × × ( स० ) ॥ ३६ ॥ तिवेमि

व्याख्या—ते पात्राणिदनस्तत्त्वतोऽसंबुद्धा अनादिकं संसारं पुनः पुनर्भ्रमित्यनिति, यदि कथाञ्चित्पैर्पा स्वगीचासिस्तथाऽपि  
'कल्पकालं' वहुकालं उत्पधन्ते सम्मवन्त्यासुराः, असुरस्थानोत्पन्ना अपि न प्रधानाः, किं तर्हि ? 'किलिच्चिका' अथमा  
एवेति ॥ ३६ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

इति श्री सूत्रकृताङ्गदीपिकायां प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशकः समाप्तः ॥ छः ॥

दृतीयोदेशकेऽन्तर्गतीर्थि कानां कुविसततमुक्तमिहापि वदेचोऽप्यत् हृष्ट्यर्थमग्रहस्याऽस्योदेशकास्येदमादिबत्तम्—

स्फूर्त्यस्य प्रथमा-  
ध्ययने चतुर्थो-  
देशकः ।

एते जिआ० × × × × ( सू० ) ॥ १० ॥

नव्याख्या—एतेऽन्यमरितिनो ‘जिता’ अभिभूता रागदेव्यादिभिः, भो इति शिल्पामन्त्रणं, एवं त्वं जानीहि, यथा-एते  
शरणं कस्यचिक्राणाय न समर्थः । ‘जात्य’ त्वि यत्राऽज्ञाने बालोऽज्ञो लग्नः सन् अवसीदति । तत्र ते व्यवस्थिताः ‘बाला-  
पणिडअमाणिणो’ इति कवचित्पाठस्तत्र ‘बाला’ निर्विवेका अपणिडतमानिनः कस्याऽपि न ज्ञाणाय  
स्युरित्यर्थः । तत्त्वत्यमाह—‘हिच्चा पां’ति—‘हित्वा त्यक्त्वा पूर्वसंयोगं—चतुर्स्वजनादिकं, णामिति चाक्षयालङ्कारे, सिता-  
बद्धाः परिग्रहारम्भेषु, पुनः किम्भूताः ‘कृत्यं’ कार्यं पचनपचनादि, तस्योपदेशं गच्छन्ति इति कृत्योपदेशगाः । अथवा  
'सिया' इत्यार्पत्वात् स्युभवेयुः । ‘कृत्यं’ साच्चायाचुष्टानं, तत्प्रवानाः कृत्या—गृहस्थास्तेप्राप्तेशः—

“ संकटपो० × × × × ( सू० ) ॥ १ ॥ ”

संरभम समारम्भरूपः, स विद्यते येषां ते कृत्योपदेशिकाः, प्रव्रजिता अपि कर्त्तव्येगुहस्थेभ्यो न मिद्यन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥  
एवमभूतेषु तीर्थेषु सत्साधुना यत्कर्त्तव्यं तदाह—

तं च भिक्षव० × × × × ( सू० ) ॥ २ ॥  
नव्याख्या—‘तुं’ पाखणिडलोकं ‘परिक्षाय’ सम्यग् ज्ञात्वा ‘भिक्षुः’, संयतो विद्वान् तेषु न पूर्ण्येत्, तैः सह ॥ १४ ॥

समर्थन्यं न कृपयति । किं ताहि कुर्यात् ? हत्याह—अतुक्षम्बुद्धीनान्, उत्कषेपी महसंतं अकुर्वन् तथा अप्रलीनोऽसम्बद्धस्तीर्थिके  
गृहस्थेषु पार्श्वस्थादिषु वासं श्लेषमहुवैरं ‘मड्येन’ शगदेष्योरन्तरालेन सञ्चारन् मुनि—जंगत्वयवेदी यापये—दात्मानं वर्तयेत्,  
तेषु निन्दां स्वयं प्रशंसां च परिहरन् साधुर्मद्यस्थवृत्त्या चरेदित्यर्थः ॥ २ ॥ कथं तीर्थिकाखाणाय न स्फुरित्याह—

सपरिगगहा ॥ य०    ×    ×    ×    ( सू० ) ॥ ३ ॥

वयाख्या—‘सपरिग्रहा’ धनादियुक्ताः, घनाच्यमावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूच्छुर्चन्त्रः सपरिग्रहा एव तथा ‘वारम्भा’  
सावध्यव्यापाराः हतीह विचारे एकेषां आहयातं, यथा—किमनया शिरस्तुण्डमुण्डतादिक्रियया गुरोत्त्रुग्रहाद्यदा परमाक्षरा  
वासिसंवत्ति तदा मोक्षः स्यादेवं भाष्यमाणास्ते न त्राणाय स्युः । ये वातुं समर्थास्तानाह—‘अपरिग्रहा’, धर्मोपकरणं चिना  
शरीरोपभोगाय स्वल्पयोऽपि न विद्यते परिग्रहो येषां तेऽपरिग्रहा अनारम्भाश्च, तात् । भिक्षुः, साधुः शरणं ‘परिग्रजेत्’  
गच्छेत्, तेषां शरणं यायादित्यर्थः ॥ ३ ॥ परिग्रहारम्भवर्जनं यथा स्यात्तथाह—

कुण्डसु घास०    ×    ×    ×    ( सू० ) ॥ ४ ॥

वयाख्या—‘कुण्डसु’ गृहस्थैः इच्छं निष्पादितेषु ओदनादि पिण्डेषु यासमाहारं ‘एषयेत्’ याचेत इति षोडशोद्दसम  
दोषपत्यागः सूचितः, तथा ‘विद्वान्’ संयमनिषुणो ‘दत्तं’ परेराशंसादोपरहितैर्भेष्यसतुद्वया वितीर्ण, तत्र एषणां—ग्रहणैषणां  
चरेत् । दत्तमित्यनेन षोडशोत्पादनादेषाः एषणां चरेदित्यनेन दश एषणादोपाश्च छांचिताः, एतदोपत्यागेन पिण्डं गृहीया-

प्रथमश्रुते  
स्कन्धस्य  
ग्रामा-  
दयते

चतुर्थे-  
देशकः ।

दित्यर्थः । 'अगुह्यो' मूलेभूतो 'विप्रमुक्तो' रागदेवरहितश्च आहारे स्थादिति पञ्चांसैषणादोपत्यागयुक्तः । स एवम्भूते  
भिक्षुः परेषामङ्गमानं परिचर्जेत्, तपोमदं ज्ञानमदं च न कृपादित्यर्थः, आत्मनः सकाश्चात् परान् हीनान् न पश्येदिति  
तात्पर्यम् ॥ ४ ॥ स्वमतं प्रलयात्पुनः परमतं दर्शयति—

लोगचार्यं०    ×    ×    ×    ( स० ) ॥ ५ ॥

व्याख्या—लोकानां पाखण्डिकानां वादमझीकारं 'निसामिडजा' निशामयेत्—जानीयात् । तददर्शयति इह संसारे  
केषाञ्चित् इदमाहयातं यथा 'विपरीता' भिक्षा या ग्राहा, तथा 'सम्भूतं' उत्पन्नं विष्वस्तुद्विष्ट्रियत्यर्थः । तथा  
अन्यैरविवेकिभियदुक्त 'तदनुगं', तत्सहस्रं, अविवेकिजननाक्यपदशमिति ॥ ५ ॥ लोकादसेवाह—

अणंते गितिए०    ×    ×    ×    ( स० ) ॥ ६ ॥

व्याख्या—न विद्यते अन्तो यस्येत्यनन्तः नित्यः शाश्वतो निरन्वयनाशेन न नक्षयति यो याद्विग्द्ध भवे स परमवेऽपि  
तादश एव, पुरुपः पुरुप एव अङ्गना अङ्गनेवेति । अथवाऽनन्तो—इपरिमितो निरवधिकस्तथा 'नित्यः' अप्रच्छुतातुपचास्त्रैक-  
रूपः । तथा शाश्वतः, कार्यदर्थं भवदपि प्रान्ते परमाणुत्वं न त्यजति । तथा न विनक्षयति दिग्गत्याकाशाद्यपेक्षया । तथा  
अनन्तवान् लोकः, सपद्वीपा वसुन्धरेरेति परिमाणोक्तास्ताद्वक् परिमाणो 'नित्यः' इति 'शीरः' साहसिको न्यासादिस्तीक-  
पक्षयति ॥ ६ ॥ किंश्च—

अपरिमाणं० × × × × ( सू० ) ॥ ७ ॥

व्याख्या—न विद्यते परिमाणमियचा क्षेत्रतः कालतो वा यस्य तद्-अपरिमाणं विजाताति कश्चिचीर्णिकः अपरिमित द्वौऽसौ अतीन्द्रियहृषा न पुनः सर्वज्ञः यदाऽपरिमितज्ञोऽभिप्रेताधर्यतीन्द्रियहर्षोऽन् न पुनः सर्वदर्शी । यदुकम्—“ सर्वं परयतु वा मा चा, इष्टमर्थं तु परयतु । कीटसहस्र्यापरिज्ञानं, तस्य न कोपयुज्यते ॥ १ ॥” इति । इह केषां सर्वज्ञापहृष्वादिनामिदमारुप्याते, तथा सर्वत्र क्षेत्रे काले चा ‘मपरिमाणं’ परिमाणयुक्तं, वी-बुद्धिस्तया राजते इति धीर, इत्येवमसाचतीते परयति, दिव्यं वर्षमहसं ब्रह्मा स्वपिति, तावत्कालं त एवयति किञ्चित्, पुनरस्ताचन्तकालं जागर्ति तत्र परयति एवं बहुधा प्रवृत्तो लोकवादः ॥ ७ ॥ अस्योत्तरमाह—

जो केह तसा पाणा० × × × × ( सू० ) ॥ ८ ॥

व्याख्या—ये केविज्ञप्ताः प्राणिनस्तिष्ठन्ति, अथवा स्थाचराः, तेषां स्वकर्मपरिणत्याऽप्यं पर्यायोऽस्ति, ‘अंजु’ चिप्रशुणोऽव्यभिचारी, तेन पर्यायेण ते त्रमस्थाचराः स्मुः । त्रसत्वमतुभ्य कर्मपरिणत्या स्थाचराः स्थाचराः स्थाचरमन्तर्भूय वसाश्चभवन्तीति, ततो यो यादगिहमने स परभवेऽपि तादगिति तियमो न युक्तः ॥ ८ ॥ अत्र द्वषान्तमाह—

उरालं जगओ० × × × × ( सू० ) ॥ ९ ॥

व्याख्या—‘उदार’ स्थूलं जगतो योगं, औदारिकाः प्राणिनो गर्भकललार्दुरुपादवस्थाविशेषाद्विपरीतं चालकुमार—योज-

ब्रह्मकृताङ्गः

सूत-  
दीपिका ।

॥ १६ ॥

नादिकं उदारं योगं परिसमनतात् ‘अयंते’ गच्छन्ति संर्पयन्ते । अयमर्थः । औदारि कशीरिणो मनुष्यो देवीलकुमाराधवस्था विशेषाः प्रत्यक्षेण हक्कयन्ते, न पुनर्याहक्क प्राक् ताद्योग यज्ञेन्द्रेति । एव मर्वेषां स्थावरजग्जमानामन्यथा मनने ज्ञेयं । तथा आकान्ता पीडिता दुःखेन सर्वे जन्तवस्तस्ते अहिभिता भवन्ति तथा कामे । अथवा ‘इकान्तं’ अप्रियं दुःखं येषां तेऽकान्तदुःखाश्चाशब्दात् प्रियमुखाश्च, अतः मर्वाच्च हिस्यादिति दृष्टान्तो दृष्टिं उपदेशश दतः ॥ ९ ॥ किमर्थं मर्वाच्च हिस्यादित्याह—  
एवं खु नाणिणो० × × × × ( सू० ) ॥ १० ॥

विजानीयते, एतदेव ज्ञानिनः सार यत्किञ्चन प्राणिगतं न हिनस्ति । ‘अहिंसा समता चेव’ एताचत् लक्षणान्पृष्ठा न ब्रूयाच्चादर्चं गुह्योयाचाऽब्रह्म से न न परिगदं कुपर्णीदिति ॥ १० ॥ मूलगुणातुक्त्वो तरगुणानाह—  
उत्सिए० य० × × × × ( सू० ) ॥ ११ ॥

विविष्मते कथा ‘उपितः’ स्थितो दशविष्मामाचार्य व्युपितः, विगता आहारादौ गृद्धिर्यस्य स विगतगृद्धिः साधुः, आदीयते ग्राम्यते मोक्षो येन तत् आदानीयं-ज्ञानादित्रयं, तत्सम्प्रग्र इष्येत् । तथा चर्यापनशुद्धयात्, चर्या-गमनं आसनं-निषीदनस्थानं शृण्या-चयतिः, संस्तारको च, तेषु तथा भक्ते पाने चाऽन्तशः समयगुपयोगवता भाव्यं । अयमर्थः । ईर्यामापैषणादाननिषेषप्रतिष्ठानसमितियु उपयुक्ताऽन्तर्वयो भक्तपानं चात्रभिदीपमन्त्रेषणीयं ॥ ११ ॥ गुनहतरगुणानाह— ॥ १६ ॥

एतोहि तिह० × × × × || १२ ||

व्याख्या—एतानि त्रीणि स्थानानि, यथा—ईयमितिरित्येकं स्थानं १, आमनं शब्देत्यादानभाण्डमात्रनिक्षेपणा समितिरिति द्वितीयं २, भक्तं पानमित्येतन् एषणामितिः, मक्तपानार्थं च प्रविष्टस्य भाषणासम्भवाङ्गापासमितिराक्षिपा, सति चाहारे उच्चारप्रश्वरणादीनां सङ्घावात् प्रतिष्ठापनमितिरथ्यायात्, इति दूतीयं स्थानं ३, एतेषु विषु स्थानेषु सम्बयग् यतः संयतं, आमोक्षाय परिव्रजेदित्युत्तरलोकेन सम्बन्धः तथा सततं सुनिः ‘उत्कर्षो’ मानः ‘उत्कर्षो’ कोधः ‘णूसं’ति गहनं मायेत्यर्थः, संसारमध्ये सर्वदा भवतीति ‘मध्यस्थो’ लोभः!, च मधुचये, एतान् मानादीन कपायाच ‘विरिंचणू’ति विवेचने-दात्मनः पृथक्कुर्यात् । ननु क्रोध एवादौ सर्वत्र स्थापयते, अत्र हु कथं मान ? इति चेदुच्यते—माने सत्य उच्चरयम्भावी क्रोधः, क्रोधे च मति मानः स्याच्च वेत्यर्थस्य दर्शनाय क्रमोल्लहनमिति ॥ १२ ॥ उपसंहारमाह—

समिए य० × × ( सू० ) || १३ || निषेमि ॥

व्याख्या—पञ्चममितिभिः समितः साधुः पञ्चमहावतोपेतत्वात् पञ्चमकारसंबरसंबृहतः, च शब्दाङ्गुष्ठस्तथा गृह-पाशादिषु ‘सिता’ चदा गृहस्थास्तेषु इसितो न बद्धो—न सूक्ष्मिलो भिक्षुमार्चमिक्षुः, आसमंतात् मोक्षाय परिमंतात् वजेः, संयमात्राननतो भवेत्स्वमिति शिख्यस्थोपदेशः । इति: समाप्तौ, ब्रह्मीति पूर्ववत् ॥ १३ ॥

इति तपागच्छाधिपश्चीहेमविमलसुरीवरशिराहर्षकुलप्रणीतायां श्रीसुत्रकृताङ्गदीपिकाचार्यां प्रथमं समयाध्ययनं समाप्तम् ॥ श्रीरस्तु ॥

सहस्रदशी अतोऽस्मात् पोपय अन्यथा तथा प्रवर्ज्ञा शहणादिह लोकस्त्यक्तः असमत्परिपालत्यगाच्च परलोकमपि  
त्वं जहासि-स्पृजसि ॥ १५ ॥

अचन्नेहि मुच्छुता असंतता नरा मोहं याति सदुषुप्ताने च मुखान्ति । तथा विषमैरुत्संयतेनिषमं असंयमं ग्राहिता असंयमे  
प्रवर्तितास्ते पापैः कर्मभिः पुनः प्रग्निभाता धूष्टताङ्गुताः ॥ २० ॥

तम्हादविहवलं पडिए पाचाओ विरतेऽभिनिवृद्धेऽ । पणए बीरे महाविहं सिद्धिं पदं योआउअधुनं ॥ २१ ॥  
तस्माद् द्रव्यमतो मुक्तियोग्यं पठिडतः सन् ईश्वर-विचारय पापाद्विरतः अभिनिवृतः कोणादित्यागात् यीतीभृतः  
तथा गीराः कर्मविदारणममर्था महावीर्यं महामार्गं प्रणताः प्राप्ताः नान्ये महावीर्यं किञ्चता सिद्धिपर्णं ज्ञानादिमार्गं  
प्रतिनेतारं प्रापकं भुग्मन्यभिचार इति ज्ञात्वाऽसंयमप्रगल्भेन्माव्यमिति ॥ २१ ॥

वेतालिअमग्गमागतो मणन्यसा काएण संबुद्धो । वित्तावित्तं च नायओ आरंसं च सुसंबद्धे च दिव्यज्ञाति तित्वेभि ॥  
कर्मणां वैदारिकं विदारणसमर्थं मार्गमागतो मनोवाकायासंवृत्तस्त्यक्त्वा विचं घनं ज्ञातीन् सञ्जनात् सान्त्वाप्रकृतं च  
सुसंबद्धत इन्द्रियैः संयमे चरेत इति ब्रनीमीति पूर्ववत् ॥ २२ ॥

चैतालियाख्यद्वितीयाध्ययनस्य प्रथमोदेशकः ॥

## अथ सप्तमाध्ययनमारम्यते ॥

अस्य च नालन्दीयमिति नाम, तस्यायमर्थः—नालन्दा—राजगृहनगरे वाहिरिका, तस्यां भवं नालन्दीयमिति । पूर्व-  
सकलेन सुव्रक्तुताङ्गेन साभावाचारः प्ररूपितः, अत्र हु श्रावकविभिरुच्यते । तस्येन्द्रं सुन्नम्—  
तेण कालेण तेण सप्तएण रायगिहे नामं नयेरे होत्था, ( इत्यादि ) जावपडिल्लवा ( स० ) ॥ १ ॥  
व्याख्या—तस्मिन् काले तस्मिन् समये—इस्मरे राजगृहं नाम नगरमस्वत् रिद्विस्फीतं समृद्ध वर्णको वाच्यः, याचत्  
'प्रतिरूपं' अनन्यसदृशं । तस्य नगरस्य वाहिरुचरपूर्वस्यां दिग्भिः नालन्दानाम बाहिरिकाऽसीत्, सा चानेकस्वनश्चत्प्रसिद्धि-  
विष्टा नैकगृहसङ्कीर्णेत्यर्थः ॥ २ ॥

तथं नालंदाए वाहिरियाए लेवे नामं गाहावई हुत्था ( इत्यादि ) अग्रिमुद आवि होत्था ( स० ) ॥ २ ॥

व्याख्या—तस्यां नालन्दायां लेपो नाम 'गृहपतिः' कुटुम्बिक आसीत् । स च आढो 'दीपस्तेजस्वी 'वित्तो' विरुद्धातो  
विस्तीर्णविपुलमवनशयनासनयनानवाहनाकीणो बहुधनो बहुजातरूपरजत 'आयोगा' अर्थोपायाः 'प्रयोगा' प्रयोजनाति,  
तेः ' सम्प्रयुक्तः ' संयुतः इतश्चेतश्च विशिष्टप्रबुरभक्तपानो बहुदास्यादिपरिषुतो बहुजनस्यापरिषुत आसीत् ॥ २ ॥  
से एं लेवे नामं गाहावई समणोचासए याविहृत्था ( इत्यादि ) अप्याणं भावेमणे एवं च एं विहरह ( स० ) ॥ ३ ॥  
व्याख्या—स लेपो नाम गृहपतिः अमणोपासकोऽभिगतजीवाजीव इत्यादि, 'निर्गांथे' चिं आहंते प्रवचने निःशङ्कितः

निर्वकालिकाऽन्यमतनिराकाराद्देशः, ‘विचिकित्सः’ चित्तच्छुतिर्विद्वज्जुगुणसा वा, तद्रहितो तिर्विचिकित्सो ‘लब्धाथौ’ द्वितीय-  
ज्ञातरत्वः ‘गृहीतार्थः’, स्वीकृतमोक्षमार्गः विशेषतः पूर्णोऽथ येन स पृष्ठार्थः प्रतीतोर्भु-  
शुत्-  
सेन स तथा, आस्थिमिङ्गा-इस्थिमहं, याचद्दमें प्रेमानुरागेण इक्कोइत्यन्तं सम्बन्धतानासितनित इत्यर्थः । केननिद्रम् पृष्ठः  
इत्यस्य  
प्राह—अयमायुषमन् ! जेनष्मोऽर्थः—सत्त्वं प्रमार्थरूपः, शोपः सनीत्यनर्थः । ‘कस्त्रियफलिह’ चिति ‘उच्छ्रुतं’, प्रहृष्यात्  
स्फुटिकवचिमलं गशो यस्य ! अप्रावृतं, अस्थिगितं द्वार गृहस्य येन सोऽप्राप्युतदारः, परतीर्थोऽपि गृहं प्रविश्य धर्मं यदि-  
वदेव, तदत्तुमतस्य परिज्ञोऽपि सम्यक् तन्माचालयितुं गमयते, तदुभीत्या न द्वारप्रदानमित्यर्थः । प्रीतिकारी राजा-  
अनन्तःपुरेऽपि प्रवेशो यस्य स तथा, कोऽर्थः ? राजान्तःपुरे हि कोऽपि न प्रवेश्यस्तत्राद्यसौ प्रतीतपुण्यत्वेन प्रवेशयोग्य इत्यर्थः ।  
तथा चतुर्दश्यष्टयादिषु तिथिषु उद्दिष्टात् महाकलयाणकममनिष्ठतया पृष्ठतिथित्वेन प्रसिद्धात्, तथा पौष्णमासीषु च  
तिष्ठृत्यपि चातुर्मासिकतिथिषु एवंभूतेषु धर्मादिग्रसेषु ‘सुच्छु’ अतिशयेन प्रतिष्ठूण सम्पूर्णमाहारशरीरामत्कारत्वस्थचर्याऽन्यापा-  
रूपं पौष्धमतुषालयन् तथाविधात् सद्गुणात् श्रमणात् एषणीयेन शुद्धेनाशनादिना प्रतिलापयन् चहुभिः शीलवत्पुणिरमण-  
प्रत्याख्यान-पौष्योपवासेसरात्मानं भावयन् । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, च समुच्चये ऊं बाक्यालक्ष्मारे, निरहरित-आस्ते ॥ ३ ॥  
तस्म ऊं लेवस्स गाहाचाराद्यस नालदाए वाहिरियाए (इत्यादि) किंहे, वणाओ वणसेडस (सू०) ॥ ४ ॥

न्यारात्या—तस्य लेपस्य गृहपते: सम्बन्धिनी नालन्दायाः पूर्वोत्तरस्यां दिशि गृहोपपुकरोपदव्येण कृता [इति शेष-  
द्रव्यानाम् ] उदकशालाऽसीदते कस्त्रमणुनसन्निविदा प्रासादीया याचत्प्रतिरूपा, तस्याश्चोत्तरपूर्वदिग्गमागे दस्तियामाख्यो

वनखण्ड आसीरे, कुण्ड इत्यादि चण्को वनखण्डस्य चान्दयः ॥ ४ ॥

तस्मै च ण गिहपूर्समि भयं गोयमे विहरह (इत्यादि) उदए पेढालपुत्रे भयं गोयमं एवं वयासी (सू०) ॥ ५ ॥  
 उद्यारुद्या — तस्मन् च वनखण्डे गौतमो विहरति, तस्मिन्नारामे स्थितः । अथ उदकारन्यो निर्यन्थ  
 पेढालपुत्रः पाश्चायित्यस्य-पाश्चायित्यस्याऽपत्यं शिष्यः । स च मेदायो गोत्रेण ‘जेणेच’ चिं यस्यां दिशि गौतमस्तत्रागत्येदं ते  
 प्राह—आयुष्मन् भो गौतम ! अस्ति मम कश्चित्प्रदेशः पृष्ठच्यः; तं प्रदेशं मम यथाश्रुतं तवया यथादशितं श्रीचीरणे तथा  
 ‘व्याघणीहि’ कथय, स चाय मगचानु यदि चा सह चादेन सवादं पृष्ठस्तमुदकं पेढालधुपुत्रमेवमवादीत् । अपि चायुष्मन्  
 उदक ! श्रुत्वा त्वदीय प्रश्नं निशम्य चाचधार्य गुणदोषविचित्ररेण सम्यग् ज्ञास्येदं, तदुक्त्यता विश्रब्धं तवया स्वाऽभिम्रायः  
 ‘स चायं’, स सद्वाचं चा उदकः पेढालपुत्रो गौतमं एवं अचादीत् ॥ ६ ॥

आउसो गोयमा ! अस्थि खलु कुमारपुत्रियानाम समणा निगथा (इत्यादि) तेषि च यं चावरकायसि उववण्णाणं ठाणमेय घर्तं (सू०) ॥ ६ ॥  
 उद्यारुद्या—भो गौतम ! ‘अतिथि’ मन्त्रि कुमारपुत्रा नाम निर्यन्था युष्मदीयं प्रवचनं प्रवदन्तः, तथाहि—‘गृहपति’  
 अमणोपासकं, उपमम्पन्न, नियमग्रहणोद्यतं प्रत्याख्यापयन्ति—प्रत्याख्यानं कारयन्ति । तद्यथा—त्रसेषु ‘दण्डं’, हिसं-  
 निहाय त्यक्त्वा ग्राणातिपातनिवृत्तिं कुर्वन्ति । ‘नन्त्रथन्ति’ नान्यत्र स्वमतेरन्यत्र राजाध्यग्नियोगेत यः ग्राणिधातो न  
 तत्र निवृत्तिरिति, तत्र स्थूलप्राणिविशेषणात्तदन्यपां जीवानां हिंसानुमतिदोषः स्यादित्याशङ्काचान् प्राह—‘गाहावह-  
 चोर’ चिं, अस्यायोऽग्ने भावायित्यते । ‘एवंह’ चिं, उदक एवाह पद्मिति चाक्ष्यालङ्कारे । एवं प्रत्याख्यानं कुर्वतां श्रादानां

दृष्टप्रत्याहयां भरति, प्रत्याहयानभासङ्गानात् च । एवं ‘प्रत्याहयाप्रतीका’ प्रत्याहयानं भवति, एवं प्रत्याहयानं कुर्वन्तः कारणाहयानं कुर्वन्तः स्वां प्रतिज्ञामतिवर्द्धय-इति लक्ष्य-निन् ‘कलसं नं तं हेतुं’ करमाद्वेत्रोरित्यर्थः । प्रतिज्ञाभज्जकारणमाह—‘संसारिणा’ इत्यादि, सामारिका: खलु प्राणिनः स्थानवरा अपि प्राणिन-समतया प्रत्यायान्ति त्रसाश्च स्थानात्वेनेति । एव मति प्रतिज्ञालोपः स्थात्, यथा नागरिको न हंतव्यः । इति प्रतिज्ञा ये न कृता म यदि उद्यानस्थं नागरिकं दृष्ट्यात्तदा तस्य किं प्रतिज्ञालोपो न स्थात् ? एवमत्रापि, ये न त्रसवधनिषुक्तिः कृता म यदि तमेन त्रसं स्थानरकायस्थितं दन्तित तदा तस्य किं न भवेत् प्रतिज्ञालोपः ? भवत्येवेत्यर्थः, त्रमलापान्मुक्त्यमानाः स्थानरकाये उत्पद्यन्ते स्थानरकायान्मुक्त्यमानास्तु त्रसताये, न च किञ्चित्लिङ्गमस्ति येन ज्ञायतेऽयं त्रसोऽभृत् पूर्वं स्थावरो वेति । तेस्मि च पां तेपां त्रसाना स्थानरकाये उत्पन्नानां आद्रस्थारम्भतः ‘स्थानमिदं’ स्थानरकाय घातयं स्थात् एवं नागरिक-दृष्टान्तेन त्रसमेव हनते: प्रतिज्ञालोपः स्थात् ॥ ६ ॥ उद्भवः पुनः स्थानमिप्रायमाह—

एवं पचकलातां सुपचकलायं भवेद्, पचकलावेमाणाणं सुपचकलावियं भवत्वा (इत्यादि) अवियाहं आउसो गोयमा ! त्रुठांपि एव रोहई (सू०)७ यतां च न स्प्रप्रतिज्ञालोपः । ‘णणणत्थे’त्यादि, एवं गृहस्थः प्रत्याहयाति—‘त्रसभृतेषु’ वर्त्तमानकाले त्रसत्वेनोत्पन्नेषु ग्राणिषु दण्डं वधं ‘निहाय’त्यक्त्वा प्रत्याहयानं करोति, तदिदृ भूतत्वविशेषणात् स्थानरप्यप्राप्तस्य वधेऽपि न प्रतिज्ञालोपः, नान्मन्त्राऽमियोगेन राजाद्यभियोगादन्त्यन् गुइपतिचौरविमोक्षणातयेति सम्पर्कं, तरमाद्भूतविशेषणाहीकरारे

यथा श्रीरविकृतिप्रत्याख्यायिनो दधिभक्षणेऽपि न प्रतिज्ञामङ्गः, तथा ऋसभूता न हंतव्या इति प्रतिज्ञावतः स्थाचरहिमाया-  
मपि न प्रत्याख्यानातिचारः, एवं विद्यमाने सति ‘भाषायाः’ प्रत्याख्यानाचः पराक्रमे—भूतविशेषणाहोपपरिहारमामद्ये-  
एवं दोपपरिहारोपाये सति केचन क्रीघादा लोभादा श्रावकं लिर्विशेषणमेव प्रत्याख्यापयन्ति तेषां मुषाचादः स्यात्, एहतो  
च ब्रतलोपः । तदेवमयमपि नोऽस्मदीयोऽङ्गीकारः । किं भवतां तो ‘नैयायिको’ न्यायोपक्रो भवति ? अपि च आपुमन्  
गौतम ! एष पक्षस्तुभ्यमपि रोचते ॥ ७ ॥

सचायं भगवं गोयमे उदय पेढालपुत एव वयासी (इत्यादि) तेषि च णं तसकायसि उवक्त्वाणं ठाणमेयं अवतं (म्ब०) ॥ ८ ॥  
व्याख्या—सचादं भगवान् गौतमस्तं उदकं पेढालपुत्रं एवमनादीप्—आपुमन् उदक ! नो खलु अस्मर्यं एवहु रोचते,  
यदिदं त्रसकायविचरते भूतत्वाविशेषणं तदऽस्मर्यं न रोचत इत्यर्थः । एवं सति ये श्रमणा चा व्राह्मणा चा एवं आख्यानित  
ते यथार्थं भाषां न भाषन्ते किन्तु अनुतापितीं भाषां भाषन्ते, अत्यथा भाषणे हि परस्यातुतापो भवति, ते अभ्याख्यानित  
असणोपासकान्, असङ्घृतदोप्रकटने नाभ्याख्यानं ददते ‘जोहिं’ति येष्वपि अन्येषु जीवेषु ये ‘संयमयन्ति’ संयमं कुर्वन्ति,  
तद्यथा—‘व्राह्मणा मया न हन्तव्या’ इत्युक्ते स यदा बणान्तरे तिर्यक्षु वा स्थितस्तद्येषे व्राह्मणवच आपद्यते, भूतशब्द-  
विशेषणा माचात् । एवं शूकरादिनं हन्तत्य इत्यादि विशेषवतानि ते ‘ऽभ्याख्यानिते’ दृष्ट्यन्ति, कस्मादेतोः ? यस्मात्सांसारिका  
प्राणाद्वासः स्थाचरत्वेन स्थाचराद्वात्मत्वेन प्रत्यायान्ति, त्रसकायाचादापुष्केन मुच्यमानाः स्थाचरकायाच तद्योग्य-  
कर्मणा मुच्यमानाच्छ्रुतकाये उत्पद्यन्ते, तेषां त्रसकाये समुत्पन्नानां स्थानमेतत्क्रसकायाचाहृ भवति, शूल-

प्राणिवातानिवृत्तः श्राद्धस्त्रिवृत्तया च त्रसस्थानमधात्यं स्थावत्, तथ्य तीव्राऽद्यवसायोत्पादकत्वाल्लोकगाहितत्वाच्च स्थावर-  
कायाचाचानिवृत्त इति तत् स्थानमस्य घातयमिति ॥ ८ ॥ उदक आह—

सवांयं उदए पेढालपुते भगवं गोयम् एव वयासी अक्षरा ( इत्यादि ) अयंपि-भेदो से तो नेआउए भवइ ( सू० ) ॥ ९ ॥  
व्याख्या—उदको गौतममवादीत्-हे आयुष्मन् ! गौतम ! कतशान् प्राणिनो यूय बद्ध त्रसप्राणिन हति अथ सडांचं  
गौतम उदकमवादीत्-आयुष्मन् उदक ! यान् प्राणिनो यूय बद्ध त्रसभूतान् त्रमत्वेन वर्तमाना नारीता नार्येहया ; तानेव  
वयं वदामल्लसा इति, ये(?)यान् वयं वदामल्लमांमत्तान् ययं बद्ध त्रसभूतान् एते द्वे स्थाने तुल्ये एकार्थं एव, नात्र कश्चिदर्थं  
मेदः, एव सति गयं युष्मदीयः पक्षः किं ‘सूपतीरतरो’ युक्तियुक्तः ? त्रमभूताः प्राणा इत्ययं तु पक्षो दुष्परीतरोऽयुक्तः  
प्रतिमासते, कोऽयं व्यामोहो भवतां ? येन शब्दमेदादिंकं पक्षमाकोशय द्वितीयं त्वमिनन्दथ, इत्ययं देशाङ्गीकारो मवतां  
नो नैयायिको न न्यायोपपत्तः उभयोरपि पक्षयोस्तुल्यत्वात् ॥ ९ ॥ कुमतनिषेचमाह—

भगवं च णं उदाहु-संतेगड्या गणस्ता भवति ( इत्यादि ) तपि तेसि कुसलमेव भवइ ( सू० ) ॥ १० ॥  
व्याख्या—मगवान् गौतमः पुनराह-सन्नित ‘एके’ केचन मतुज्या ; येपां साधोर्धमकथकस्य पुर इदमुक्त भवति-यथा  
न खलु वयं ‘मुण्डा मनितु’ प्रवल्लयं ग्रहीतुं शक्तुमः, अगारादनगारितां प्रवजितुं, वयं ‘आत्रपूर्वेण’ क्रमेण क्रमेण ‘गोत्रं’  
साधुत्वमऽनुलेपयिष्यामः । कोऽयः ? वयं देशविरति पालयामः, ततः क्रमेण चारित्रं, तत (१) एवं ते ‘सङ्घरण्यं’ व्यक्तस्था  
आवयन्ति-प्रत्याख्यानं कुर्वन्तः प्रकाशयन्ति, ते एवं व्यवस्थां स्थापयन्ति च नान्यक्रामियोगेन, अभियोगो—

द्वितीय-  
श्रुत-  
स्फुर्वस्य  
द्वितीया-  
इयन्ते-  
सप्तमो-  
देशकः ।

राजाभियोगादिस्तेन श्रसं हनतोऽपि न व्रतमङ्गः, तथा गृहपति-चौरविमोश्चणतयेति ।

अस्यार्थः कथागम्यः, सा चेयं-रत्नपुरे रत्नशेखरराजा स्वान्तःपुरादिक्षीणां स्वैरकीडारूपः कौमुदीमहोत्सबोऽनुज्ञातः, पुरुषेण केनापि नगरमध्ये न स्थेयमित्याघोषणा कारिता, तृपाद्यः पुरुषाः सर्वेऽपि उद्याने सायं जग्मुः । एकस्य वर्णिजः पद् पुत्राः क्रयविक्रयादिर्यग्राः पुरमध्ये एव तस्युः, स्थगितानि गोपुराणि, ततो निष्कान्ते महे राज्ञारक्षकाणापुक्तं-पदयत नगरे कोऽपि नरोऽस्ति न वेति ! तैर्विलोक्यद्धिः पदपुत्रास्ते वृष्टा, राज्ञो निवैदिताः, राज्ञा कुपितेन पणामपि वधः समादिष्टस्तरदपिता शोकाकुलो राजानं विहापयति श्म, देव ! मा कृथाः कुलश्यमस्माकं, सर्वधनं गृहस्तां, मुच्यतां पुत्राः । एवमुक्तेऽपि राजा कथमपि न मुञ्चति पुत्रान्, ततः पिता सर्वप्रवृत्यात्रप्रवृत्त राजानं ज्ञात्वा पञ्चानां मोचनं याचितचान्, राजा पञ्चापि न मुञ्चति, ततश्चत्वारो याचिता तथाऽपि न मन्यते तृपस्ततत्त्वयो याचितास्तेऽपि न मुक्तास्तो द्वौ मार्गितो, तावपि अमुञ्चन्त तृपंसेकं पुरं याचितः, समग्रपौरजनविजसो तृपः पुत्रमेक द्येष्ट मुक्तान् । अत्रेयं दृष्टान्तयो जना । समयकर्तव्यचान् आदः सर्वप्राणातिपातनिर्विति कर्तुमशक्तो तृपस्थानीयपद्कायपितुलयेन साधुना प्रेरितोऽपि मर्वचिरति नाङ्गीकुरुते, पठपि जीवकायान्मोचयति साधुः, आद्वस्तु षणां मोचनेऽशक्तो ज्येष्ठमेकं त्रसकाय मुञ्चति, पालयतीत्यर्थः साधुरेकमोचनेनाऽपि कृतार्थमात्मानं मन्यते । यथा च रस्य वर्णिजो न शेषपञ्चपुत्रवधातुजा एवं माधोरपि न शेषप्राणिवधा-तुमतिः किन्तु यदेव व्रतं गृहीत्वा यानेव स्थूलमन्त्वान् सङ्कल्पवधनिष्वत्तो रक्षति आदः, तन्निमितं कुशलात्मन्व एवेत्याह—‘तसेहि’, त्रसेभ्यो ‘दण्ड’ हिमां त्यक्तव्यं वाचिद्विरसति वाचनस्य कुण्डं पुन्यमेवेति ॥ १० ॥

द्वितीय—  
श्रुति—  
स्कन्धस्य  
द्वितीया—  
व्याख्या—  
सप्तमो—  
देशक ॥

तसावि दुर्बन्ति तसा (इत्यादि) ते महाकाया ते चिरहिंशा (सू०) ॥ ११ ॥

न्याहया—त्रमा अपि द्वीनिद्रियाहगोऽपि त्रमा उच्यन्ते । त्रमात्मप्रसम्भारकुत्तेन कर्मणा स्फुः, सम्मारो नाम कर्मणो-  
द्वयम् विषाफातुभवेन वेदनं, तच्च त्रसनाम प्रत्येकनाम हत्यादिकं त्रसत्वेन संबद्धं यदायुक्तं उदयप्राप्तं हत्यात्तदा त्रसनामादि-  
कर्मणा त्रमा उच्यन्ते, त्रसायुर्द्वा क्षीणं स्यात्रप्रकायस्थितिश्च क्षीणा स्यात्, सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्तमुष्टः सातिरेकमहस्तद्-  
यसागरमानास्ततस्ते त्रसायुस्त्वयजन्ति, अन्यान्यपि तत् महाचरकर्मणिं त्यक्त्वा स्यात्वरत्वेन प्रत्ययायान्ति, स्थावरा अपि तथेच  
कर्मणा स्थावरत्वेनोत्पद्यन्ते, एवं मति स्थावरकायं उन्तुः आद्वय कर्यं स्थूलप्राणातिपातनि वृत्तिक्रतमङ्ग ॥ इति । किञ्च  
'थावर आउ'ति, यदा स्थावरायुक्तमपि क्षीणं स्यात्तथा स्थावरकायस्थितिश्च, सा जघन्येनान्तर्मुहूर्तेषु, उत्तमुष्टेऽनन्तरकाल-  
मसहृदयेयाः पुद्लपरावर्तीः, ततस्ते स्वापुः परित्यज्य 'भृत्ये' पुनरपि परलोकतया स्थावरकायस्थितेरभाकात्सामधया-  
त्वसत्वेन प्रत्ययान्ति, ते त्रमाः प्राणा अप्युच्यन्ते त्रमा अप्युच्यन्ते महा कायास्ते यो जनलक्षप्रमणशरीरविकृणात् ।  
चिरस्थितिकास्ते मनस्थित्यपेक्षया ऋग्विश्वतसागारायुक्तमावाद् । ततस्तमनिकृतिरेव आदेन छता न तु स्यावराणां, नाग-  
रिकहटान्तोप्ययुक्तः, नागरिको न हन्तव्य इति प्रतिज्ञां कृत्वा चहिःस्थितं तमेव पर्यायापन्ते बनतो व्रतमङ्ग इति त्वत्प्रधः, स  
चायुक्तो, यो हि नगरधर्मेनपेतः स चहिःस्योऽपि नागरिक एवातः पर्यायापन्ते इति विशेषमयुक्तं, सर्वेया नगरधर्मत्यगे-  
तु रमेवेति नोपपद्यते, स चान्य एवेति । तथा त्रसत्वत्यागायदा स्थावरत्वं प्राप्तस्तदाऽन्य प्राप्तस्तदाऽन्य एवायमिति, चतो न व्रतभङ्गः  
॥ १२ ॥ पुनरुदकः प्राह—

सवायं उदए वेदालपुरे भयव गोयम् एवं वयासी (इत्यादि) तेसि च णं शावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं षतं ( स० ) ॥ १२ ॥

व्याख्या—सवादमुदको गौतममवादीव—हे गौतम ! नास्ति स किंश्चित् पर्यायो यस्मिन्ब्रेकप्राणातिपातविरपणेऽपि श्रमणो-

पासकस्य ६ दण्डो ७ वधो ८ निक्षिपः ९ परित्यक्तः १० स्यात् । कोऽर्थः ? श्राद्धेन ऋमपुद्विष्य प्रत्याहयानं कुर्वे, संसारिणं

चान्योन्यगमनसम्भात्, त्रसाः सर्वेऽपि स्थावरत्वं प्राप्तास्तदा त्रमानामसावानिर्विषयं प्रत्याहयानमित्यर्थः ११ कस्स पां १२ ति

केन हेतुना इदपुच्यते ? सांमारिकाः खलु प्राणाः स्थावराह्वयतया त्रमा अपि स्थावरतया प्रत्याहयानिति, स्थावरकाये—

द्विप्रमुच्यमानाः स्वायुषा १३ सर्वे १४ निरवशेषकाह्वयकाये समुत्पद्यन्ते, त्रसकायादपि तदायुषा मुच्यमानाः सर्वे स्थावरकाये

समुत्पद्यन्ते, तेषां त्रसानां स्थावरकायोत्पन्नानां स्थानमेतदृष्टात्यं, यथा केनचित् प्रतिज्ञानं सम्या नगरनिवासी न हन्तन्यः

तच्च उद्दिसितं नगर, ततो निर्विषयं प्रत्याहयानं, एवमत्राऽपि त्रमानामसावानिर्विषयत्वमिति ॥ १५ ॥

अथ गौतमः प्राह—सद्वाचं—

सवायं भावं गोयमे उदयं पेडालपुत्र एवं वयासी ( इत्यादि ) अयपि मेदे से णो नेयाउए भवह ( स० ) ॥ १६ ॥

व्याख्या—सद्वाचं गौतम उदकमनादीत्, अस्माकमिति मगधदेशे सर्वजनप्राप्तिं संस्कृतमेवोच्चार्यते तथैकात्र पठितं, तदे-

वसमस्माकं सम्बन्धिनां वचतव्येन नैतदशोभनं, किन्तर्वै ? युध्माकमेवाऽनुप्रवादेन एतदशोभनमिति, अस्मद्वक्तव्येनास्य चोद्य-

स्यातुरुथानमेव । तथाहि—नैतद्वृत्तं न च भवति नापि च भविष्यति यस्मैऽपि स्थावराह्वयत्वं प्रतिपद्यन्ते स्थावराणामानंत्यात्

त्रसाना चापङ्कलयेयत्वेन तदाधारत्वं न युक्तं, त्रसा अपि स्थावरत्वं न प्रतिपक्षा न च प्रतिपक्षन्ते नापि प्रतिपद्यन्ते, न च

कदाचिन्पश्चात्यः संसारः स्यादिति भवदाक्षेषो बृथै अस्त्यग्र पर्यायो यच्छ्रमणोपासकस्य सर्वप्राणिभिरुमत्वेन भूतेरुप-  
नैदेण्डो निधिसो—वधस्त्यकः, केन हेतुनेत्याह—‘संसारिया’ इत्यादि, पूर्वचत, यावत् त्रसमाये उत्पन्नानां स्थानमेतदधात्य-  
स्यात् । ते च त्रसाः प्राणा उत्कृष्टते त्रसा अप्युक्तपत्ते, ते महाकामाश्चिरस्थितिकाः, ते त्रसा बहवो, ये: आद्रस्य सुप्रत्याख्यात  
भवति, अनदभिग्रायेण सर्वस्थावरणां त्रसत्वेनोत्पत्तेः, तेऽल्पतरका यैः; आद्रस्याप्रत्याख्यातानं भवति, अल्पशब्दोऽभावत्वाचकः,  
न सञ्चरेव त्वदभिग्रायेण ते जीरा येवु अप्रत्याख्यातमिति । एवं ‘से’ तस्य आद्रस्य महतस्तपकायाद् उपशान्तस्य विरतस्य  
सुप्रत्याख्यातं स्यादिति । एवं सति सध्य बहव अन्यो वा वदति यज्ञात्स्यसौ पर्याय इत्यादि सुगमं । यावत्वो नेयाङ्ग  
भवति ॥ १३ ॥ अथ त्रसानां स्थावरत्वं प्राप्ताना वधेऽपि न ब्रतमङ्गः स्यादित्यन्तं हृष्टान्तश्चयमाह—  
भगवं च एव उदाहु नियंठा स्तु पुनित्यवना (इत्यादि) से एवमायाणितव्यं ( सू० ) ॥ १४ ॥

व्याख्या—भगवान् गौतम ‘उदाह’ उक्तगान् नियन्त्याः पुष्टवाः, नियन्त्यानां सर्वोपासन्येतसमतमिति ज्ञापनाय  
नियन्त्यपश्चः । किमुक्तरानित्याह—शान्तिप्रधाना इह केचिन्पत्तुल्याः स्युः, तेषा एतमुक्तपूर्वं भवति—अर्यं वत्प्रहणविशेषः  
स्यात् । यथा—ये इमे मुण्डामृत्वाऽगाराजिर्गत्यान्प्रारितां प्रतिपन्नाः, एतेषामुपरि मसा मरणान्तो दण्डो निष्ठिसो—वधस्त्यकः;  
कोऽर्थः? केनापि यतीनाश्रित्य वतं गृहीतं, यथा—यावजीवं मया यतयो न हन्तव्या इति, ये च हमे ‘उगारं’ गृहमाचमन्ति  
तेषां दण्डो न ल्यक्तः, गृहस्थानां हिंसा न प्रत्याख्याता इत्यर्थः । तत्र केचित्श्रमणः कियन्तमपि कालं प्रवद्यां प्रतिपालय,  
कालमानमाह—‘वासाणि’ति, वर्णणि चत्वारि पञ्च वा पह दश वा, अस्योपलक्षणादन्योऽपि कालविशेषो व्येष्टस्तमेवाह—  
॥ २२ ॥

अदपतरं प्रभूतरं च कालं तथा ‘देसं दूहज्जित्ति विहृत्य कमोदयोद्देहमावसेयुग्महस्था भवेयुः; एवमभूतः पर्यायः किं सम्भाव्यते ? उत नेति प्राप्ता निर्गत्या प्रत्यूचुः हन्त गृहवासं वजेयुः । ‘तस्य च’ यतिवष्टुहीतवतस्य तं गृहस्थं इनतः किं ब्रतभज्ञो भवेत् उत नेति ? ते आहुनेति, एवं श्राद्धस्य व्रसवधनिवृत्तस्य स्थावरत्वं प्राप्तं त्रसं इनतो न स्याद्वत्भज्ञः ॥ १४ ॥

अथ हितीयं हृष्टान्तं प्रत्याख्यातुविषयमातं दर्शयन्नाह—

भगव च ण उदाहु नियठा ‘खलु’ पुच्छित्यन्ता ( इत्यादि ) से एवमायाणियन्तं ( सू० ) ॥ १५ ॥

नयाख्या—भगवान् गोतमः प्राह—निर्वन्याः प्रष्टव्याः, इद खलु गृहपतयो वा तथाप्रकारेषु श्रेष्ठकुलेषु उत्पद्य धर्मश्रणार्थमागच्छेयुस्तेषां धर्मं आरुयात्तव्यः ? इति पृष्ठे अमणा आहुः—हन्त आरुयात्तव्यः । किं ते तथाप्रकारं चुदं धर्मं श्रुत्वा एवं वदेयुः ? इदमेव निर्वन्यमस्त्रनिधं प्रवचनं सत्यं याचत् सर्वदुःखप्रहीणमागः ‘हत्थं’ति अत्र स्थिता जीवा सिद्धान्तिर्याचत्सर्वदुःखानामन्तं तुच्छन्ति, तदाङ्गया तथा गच्छामस्तथा चेष्टामहे याचत् तथा ‘उत्थया’ प्रयत्नेन प्राणिनां ‘सयमेन’ हिमानिवृत्या ‘संयमामो’, संयमं कुमो, यथा जिनाङ्गा, एवं ते वदेयुः ? इति पृष्ठे श्रमणा आहुः—हन्त चदेयुः । पुनः अमणा एवुच्छिति-किं ते तादृशेयोऽया: कल्पन्ते प्रवाजगिर्तुं ? अमणा आहु—हन्त कल्पन्ते इत्यादि । ‘तेस्मि च पां तेस्तथाविधैः सर्वजीवेभ्यो दण्डस्त्यकः. एवंविधास्ते विहन्तो वर्पणि चत्वारि पश्च वा पह दश वा अल्पतरं चहुतरं वा कालं देशग्रामादावुद्यतविहारेण विहृत्य पश्चात्प्रिणामास्मन्तोऽगारं वजेयुः । गृहस्था भवेयुरित्यर्थः । निर्वन्धा पृष्ठचरमाहुः—हन्त वजेयुः तेषां सर्वप्राणिभ्यो दण्डो नो निशिसः, तेषामवस्थात्रयमाह—पूर्वं गृहस्थवै सर्वजन्तुवधो न त्यक्तः;

अथ यः स साधुत्वे सर्वजन्तुवधस्तेन व्यक्तः, पुनः साधुत्वं सुकर्वेदार्तीं गृहस्थे जाते सर्वजन्तुवधो न व्यक्तः, पूर्वमसंयत २,  
आरतः संयतः ३, इदानीं मसंयतः ३, असंयतस्य सर्वजन्तुवधो न व्यक्तः, तदेवं जानीत निर्गच्छास्तदेवमाज्ञातव्यं । एवं  
यथाऽन्नस्थान्वयथात्वं स्यात् एवं त्रसस्थानवरयोरपि ह्वेषम् ॥ १५ ॥

अथ तृतीयं हृष्टान्तं परतीर्थिकानुहित्याह—

भगवं च ण उदाहु नियंठा खलु पुच्छियवा ( इत्यादि ) से एवमायाणियवं ( च० ) ॥ १६ ॥

व्याख्या—सुगमार्थमिदं खृतम् । तात्पर्यर्थस्तु अयम्, पूर्वं परिचाजकादयः सन्तोऽसम्भोग्या साधुतां, गृहीतश्रामण्याश्च  
साधुतां सम्भोग्याः पुनः श्रामण्यत्यगेऽसम्भोग्याः, एवं पर्यान्वयथात्वं व्रसस्थानवराणामपि योज्यं ॥१६॥ एवं दृष्टान्तत्रयेण  
निदोपां देशविरतिं प्रसाद्य पुनरपि तदुगतमेव विचारमाह—

भयव च णं उदाहु संतोगइया समणोवासगा भवति ( इत्यादि ) जाव अयपि मेदे से नो नेयाउए भवह ( स० ) ॥ १७ ॥

व्याख्या—मगवान् गौतम उदकं प्रत्याह-शान्तिप्रधाना एके अमणोपासका भवन्ति, तेपां च इदमुक्तपूर्वं भवति,  
यथा-न खलु वयं शक्तुमः प्रवदयां गृहीतुं, किन्तु वयं चतुर्दश्यत्प्रयादिपु लिथिपु सम्पूर्णं पौष्ठं सम्यगनुपालयन्तो  
विहरियामः । तथा स्थूलप्राणातिपातमुपावादचादानमेयनपरिग्रहं प्रत्याहयामो दिविधं कृतकारितमेहाव्, श्राद्धस्य  
अनुमतेरनिपिद्धत्वात् । ‘विविधेन’ मनोवचनकायैः ‘मा’, निषेधे, पौष्पस्थस्य मम कृते किञ्चित् पचनपाचनादिकं मा  
कार्पणं परेण मा कारयत, सर्वयाऽपमभवितो वरद्वनोऽनुमतेरपि निषेद्धस्तत्रापि प्रत्याहयास्यामः । ते श्रावका अभ्यक्त्वाऽपीत्या-

इत्यात्मा च पौपद्युक्तरचादासन्दीपिठिकातः प्रत्यारुद्याऽवतीर्य समयक् पौपदं कृतवन्तरस्ते किं सम्पृक्तकाला-  
उत्तासम्यक् ? एवं पृष्ठेनिग्रन्थेरवश्यमेवं वक्तव्यं—ते सम्यक्फलगताः, एव कालगतानामवश्यं भावी देवलोकोत्पादस्तत्रो-  
तपनाश्च ते त्रसा एव ततश्च कर्म निर्विपयता प्रत्यारुद्यानविषये इति ॥ १७ ॥ पुनः आद्वैतेन प्रत्यारुद्यानविषये दर्शयति—  
भगवं च न उदाहु संतेगद्या समणोवासगा भवति, ( इत्यादि ) जाव अयपि मेदे से णो गेयाउए भवह ( स० ) ॥ १८ ॥

व्याख्या—गौतमः प्राह—‘सन्ति’ विद्यन्ते ‘एके’ केचन अमणोपासकास्तेपामेतदुक्तपूर्वं मवति, यथा न शक्तुमो वयं  
प्रवर्जया ग्रहीतुं नापि चतुर्दश्यादिषु सम्यक् पौपदं पालयितुं, वयं चापश्चिमया संलेखनक्षपणया क्षपितकायाः, यदि वा ‘संले-  
खनजोपणया’, सेवनया ‘जोपिता’ सेविता, उत्तमार्थगुणेरेवमधुताः सन्तो भक्तपानं प्रत्यारुद्याय ‘कालं’ दीर्घकालमनवकाल्ह-  
माणा विहरिद्यामः । कोऽर्थः ? न खलु वयं दीर्घकालवतं पालयितुं समर्थीः, किन्तु वयं सर्वमपि प्राणातिपातादिकं प्रत्या-  
रुद्याय संलिखितकायाश्चतुर्विधाहारत्यगेन जीवितव्यं कुसमर्थो । इति स्मरेणीवाह—‘सन्तवं पाणाहवाय’मित्यादि,  
यावत्ते तथाकालगताः, किं वक्तव्यमेतत्स्यादृ ? समयक् ते कालगता इति पुष्टा निर्ग्रन्था आहुर्यथा ते सन्मनसः शोभनचित्ताः  
कालगता इति । ते कालं कृत्वा सुरलोकेषुपद्यन्ते, तत्र चोत्पन्ना यद्यपि हन्तुं न शक्यन्ते तथापि त्रसत्वाचे शाद्वस्य त्रसत्वध-  
निवृतिप्रत्यारुद्यानविषय विषयाः स्युः ॥ १९ ॥

पुनः प्रत्यारुद्यानविषयमाह—  
भगवं च ण उदाहु संतेगद्या मणुस्सा मवति तं जशा ( इत्यादि ) मेदे से णो गेयाउए भवह ( स० ) ॥ २० ॥

व्याख्या—भगवानाह एके केचन मतुर्भुता एवमभूता भवन्ति तथाथा—महारम्भा महापरिग्रहा इत्यादि सुगमं—यावद्येरादानं प्रथमवत्प्रहणं, तत आरम्भ्य मरणान्तं यावद्द्व॒हो निक्षिस्त्यक्तः ते च तस्माद्वात् स्वायुपं जहति, त्यक्त्वात् सज्जीवितं स्वकं पापमादाय—गृहीत्वा दुर्गतिगमिनः स्युः, महारम्भपरिग्रहत्वाते मृता नरके नारकत्रस्त्वेनोत्पन्नाः सामान्येन प्राणिनुच्यन्ते, विशेषतस्तु त्रसा महाकाया इत्यादि पूर्ववत् ॥ १९ ॥

पुनः प्रत्याख्यानविषयं दर्शयति—

भगवं च ण उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवन्ति, तं जहा (इत्यादि) जाव णो नेयाउए भवइ (सू०) ॥ २० ॥

व्याख्या—पूर्वोक्तेभ्यो महारम्भादिभ्यो विपरीताः सुशीलाः साधवः, एते च सामान्यश्रावकास्तेऽपि त्रसेद्वेव देवेषु-त्पद्यन्ते, ततोऽपि न निर्विषयं प्रत्याख्यानम् ॥ २० ॥ किञ्च—

भगवं च ण उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवन्ति तं जहा (इत्यादि) जाव तो नेयाउए भवइ (सू०) ॥ २१ ॥

व्याख्या—मुगममिदं स्वत्रम् । एते चालपेच्छादिविशेषणा अवश्यं प्रकृतिमहतया सहतिगामित्वेन शस्त्रपद्यन्ते ॥ २१ ॥ किञ्चान्यत्—

भगवं च ण उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवन्ति तं जहा (इत्यादि) जाव तो नेयाउए भवइ (सू०) ॥ २२ ॥

व्याख्या—एके मतुर्भुता एवमभूताः स्युः ‘आरण्यका’ अरण्यवासिनः, आचासथिका ग्रामनिमन्त्रिका: ‘केषड्हुइ रह-स्त्रिया’ कवचित्कार्यं रहस्यका:, एते सर्वेऽपि तीर्थिकविशेषाः, ते च नो बहुसंपत्ताः क्रियासु, तो बहु प्रतिविरताः सर्व-

जन्मतुवभाज निष्टुताः, सत्यासूताणि वाक्यानि परेषु एव वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रयुज्जन्मित ‘एवं विष्पडिवेदेति’ क्वचित् पाठः,  
 एवंचिध-प्रकारेण प्रतिवेदयन्ति-ज्ञापयन्ति, यथा—अहं न दन्तव्योऽन्ये हन्तव्या, अहं नाज्ञापयितव्योऽन्य आज्ञापयितव्या  
 इत्यादीन्यपदेशवाक्यानि ददति । एवमभूतास्ते कामासकाः किञ्चिदद्वाजनतपःपराः कालं कृत्वा इन्यतरेऽप्यसुरीषेषु स्थानेषु  
 किञ्चिवपिषेषु असुरदेवाधसेषु उत्पद्यन्ते, अथवा प्राण्युपपातकोपदेशदातारो मोगमूर्छिङ्गता ‘अमृषेषु’ नित्यान्धकारेषु  
 किञ्चिवप्रधानेषु नरकस्थानेषु समुद्धयन्ते ते च देवा नारका चा त्रमत्वं न व्यभिचरन्ति, तेषु च यद्यपि द्रव्यप्राणातिपातो  
 न सम्भवति तथापि मावप्राणातिपातस्य विरतेविष्यतां प्रतिपद्यन्ते । ततो देवलोकाष्युता नारकादुद्वुता चा क्षिष्टपञ्चेन्द्रिय-  
 तियक्षु हीनमतुषेषु चा एडमृकतया तमोरूपतया अन्धविधरतया प्रत्यायान्ति, ते चाऽवस्थादेऽपि त्रसत्वं न व्याभिचरन्ति,  
 ततो न निर्विषयं प्रत्याख्यानं, एषु च द्रव्यप्राणातिपातोऽपि सम्भवति ॥ २२ ॥ अथ प्रकटमेव विरतिविषयमाह—  
 भगवं च ण उदाहु संतेगदया पाणा दीहाउया, (इत्यादि) जाव नो नेयाउए भवह (सू०) ॥ २३ ॥

व्याख्या—मगवानाह—यो हि प्रत्याख्यानं गुणाति तस्मात् दीघीषुकाः प्राणिनस्ते च नारकमनुष्यदेवा द्वित्रि  
 चतुष्पञ्चेन्द्रियस्तिर्यश्च सम्भवन्ति; ततः कथं निर्विषयं प्रत्याख्यानमिति । येषं सुगमम् ॥ २३ ॥  
 भगव च ण उदाहु संतेगदया पाणा समाउया, (इत्यादि) जाव नो नेयाउए भवह (सू०) ॥ २४ ॥  
 व्याख्या—इदं समायुक्तमूर्त्रं पूर्वचत् ॥ २४ ॥  
 भगवं च ण उदाहु संतेगदया पाणा अप्याउया (इत्यादि) जाव नो नेयाउए (सू०) ॥ २५ ॥

लयारक्षण्या—इदमन्वयायुक्त्युरामपि शब्दं । नारं यावते न भ्रिगन्ते तापत् प्रत्याक्षयानन्दग्नियः; त्रसेषु वा नमुत्तराच्चः  
संतो निषयतां प्रतिपथन्ते ॥ २५ ॥

पुनः आराक्षणं दिग्गतार्थेण प्रत्याक्षयानविगां दर्शयति ।

॥ २५ ॥

भागव च ए उदाहु सतेग्नेया समग्रोक्तासमा भवति, (जगारि) जाव अर्यपि मेरे से० ( स० ) ॥ २ ॥ २६ ॥  
लयारक्षण्या—सुधमं, नार—‘देसावगारिसिनं’ति पूर्णशहीतस्य दिग्गतस्य गोजनशतादिकस्य यत्प्रतिदिनं भवन्त्वासि  
योजनगतवतादिमानं करोति, तदेषामारुचिक्रमुक्तपते, तथाहि—‘पुरत्यापाईण’मिति, ‘पुरत्थ’ति प्रावरे ग्रहया  
स्वप्नानामरे दिग्गतिगोप्त्वात् प्रत्याक्षयानं करोति, यथा—‘प्राचीनं’, स्वर्गाभिमुखं पूर्विदियं प्रग्राम्याऽयं गन्तव्यं  
‘प्रतीचीनं’ पवित्रमाया दिग्गिदक्षिणमया ‘उदीक्षा’ उत्तरमां एताऽद्य गन्तव्य, एवं प्रत्याहं ग्रहयान्वयानं करोति, तेन च  
यतेन गृहीतपरिमाणात् परेण ददु निविस्तो—घस्तयक्तः, ततथ म आनकः मर्दीवेषु शेषक्करोडमसमीत्यव्यवमायी भ्यात्,  
तत् गृहीतपरिमाणे देखो ये शारेण व्रगः नेषु वाराहक्षयादारयामरणान्तं दण्डमत्यक्तः, ते त्रसाः स्वाधुक  
परित्यज्य तन्मै गृहीतपानदेश एव अस्तवेन ग्रहयायानित, गृहीतपरिमाणेषो त्रसामुक्तं परित्यज्य त्रसेष्वेतोत्पव्यन्ते, तेषु  
आदस्य सुप्रत्यारुद्यान इयादुप्रययापि त्रसत्तरगद्वागादिति । शेषं सुगमम् ॥ २६ ॥

ततथ आरेण जे नसा पाणा (जगारि) जाव अर्यपि मेरे से षो० ( स० ) ॥ २ ॥ २७ ॥

लयारक्षण्या—अन आरादेशुवतिनस्यमा आरादेशुवतिषु स्यावरेषु उत्पव्यन्ते ॥ २७ ॥

तथ जे आरेणं तसा पाणा ( इत्यादि ) ( सू० ) || ३ || २८ ||

व्याख्या—अत्र आरादेशवाचिनस्तु सा गृहीतपरिमाणादेशाद् बहिर्यं त्रसा स्थावराश्च तेषुत्पद्यन्ते ॥ २८ ॥

तथ जे आरेण थावरा पाणा ( इत्यादि ) अयपि मेदे से णो० ( सू० ) || ४ || २९ ||

व्याख्या—आरादेशवाचिनो ये स्थावरास्ते आरादेशवाचिनो ये त्रसास्तेषुत्पद्यन्ते ॥ २९ ॥

तथ जे ते आरेण जे थावरा पाणा ( इत्यादि ) अयपि मेदे से णो० ( सू० ) || ५ || ३० ||

व्याख्या—आरादेशवाचिनो ये स्थावरास्ते तेषु तदेशवाचिनेव स्थावरेषुत्पद्यन्ते ॥ ३० ॥

तथ जे ते आरेण थावरा पाणा ( इत्यादि ) जाव अयपि मेदे से णो० ( सू० ) || ६ || ३१ ||

व्याख्या—परदे( ? आरादे )शवाचिनो ये स्थावरास्ते गृहीतपरिमाणस्ये ( परदेशवाचिं ) पु त्रसस्थावरेषुत्पद्यन्ते ॥ ३१ ॥

तथ जे ते परेण तसा थावरा पाणा ( इत्यादि ) जाव अयपि मेदे से णो० नेयाउए भवइ ( सू० ) || ७ || ३२ ||

व्याख्या—परदेशवाचिनो ये त्रसा॒ः स्थावरास्ते आरादेशवाचिं पु त्रसेषुत्पद्यन्ते ॥ ३२ ॥

तथ जे ते परेण तसा थावरा पाणा ( इत्यादि ) जाव अयपि मेदे से णो० ( सू० ) || ८ || ३३ ||

व्याख्या—परदेशवाचिनो ये त्रसा॒ः स्थावरास्ते आरादेशवाचिं पु स्थावरेषुत्पद्यन्ते ॥ ३३ ॥

तथ जे ते परेण तसा थावरा पाणा ( इत्यादि ) जाव अयपि मेदे से नो॒ नेयाउए भवइ ( सू० ) || ९ || ३४ ॥

व्याख्या—परदेशवाचिनो ये त्रसा॒ः स्थावरास्ते परदेशवाचिं त्रसस्थावरेषुत्पद्यन्ते । एवं नकापि सुत्राणि भणितानि,

तत्र यत्र त्रिसास्त्रादानशः प्रथमवत्प्रहणादारभ्य श्रावकेणामरणान्तो दण्डः परित्यक्त इति योजयं, यत्र तु स्थावरास्त  
आर्थिय दण्डो न निषिद्धो—न त्यक्तः, अनथर्यि च दण्डः परित्यक्त इति । शेषं सुगमम् ॥ ३४ ॥ तदेवं बहुदृष्टान्ते: श्रावक-  
प्रत्याख्यानस्य सविषयतां प्रसाइयाधुना परप्रशस्यात्प्रत्यन्तासम्बद्धतां दर्शयन्नाह—  
भगव च एं उदाहु न पूर्य न एय भव न एय भवित्वस्ति (इत्यादि) जाव तो नेयाउए भवई ( सू० ) ॥ ३५ ॥  
उद्याख्या—गौतमस्त्रामी उदकं प्राह—नैतद भूतं नैतद भाव्यं नैतद भविष्यत् यत् त्रसाः सर्वथा उच्छेत्स्यन्ति स्थावरा  
एव भविष्यन्ति, तथा स्थावरा उच्छेत्स्यन्ति त्रसा एत भविष्यन्ति, एतदद्वयं न सम्भवति, नहि कृदायेन सम्भवोऽस्ति  
यत् प्रत्याख्यानितमेकं विहायान्येषां नारकाणां द्वीनिद्र्यादितिरथां मनुष्याणां देवानां च सर्वथाप्यमावः । एवं हि न स-  
प्रत्याख्यान निविष्यं स्याख्यदि प्रत्याख्यानिनो जीवत एव नारकायात्स्त्रसाः समुच्छियन्ते, न चायं प्रकारः सम्भवी, स्था-  
वराणां चाऽनन्ततत्त्वानासहृदयेषु त्रसेषुत्पादमम्भवः, एवं मति यद् वदत यूपमन्त्यो वा वदति, तद्यथा नास्त्य॑सी पर्यायो  
यत् श्रावकस्यै सञ्चसविषयो दण्डत्याग इति, तदेवं तदीयं प्रेयं सर्वेषां मनमिति ॥ ३५ ॥

भगव च एं उदाहु आउसेतो उदगा । जे ललू समणं वा परिभासेइ ( इत्यादि ) दिसि पहारेत्य गमणाऽ ( शु० ) ॥ ३६ ॥  
उद्याख्या—गौतमस्त्रामयाह—आयुषमन् उदक ! जे ललू ‘ अमण ’ यथोक्तकियाकारिणं ‘ माहनं ना ’ मदद्वयनयोपेतं  
‘ परिभाषते ’ मैश्च मन्यमानोऽपि निन्दति । ममयग् ज्ञानं दर्शनं चारित्रं च ‘ आगम्य ’ प्राप्य पापानां कर्मणामकरणाय  
॥ ३६ ॥

स्वरुपतङ्ग  
सूत्र  
दीपिका ।

॥ २८ ॥

भार्त्सतकलिकालुयाः, शिष्यास्तेषां यथार्थनामानः । श्रीचुमतिसाधुग्रन्थो लक्ष्मीसुरगीकारग्रन्थोग्रन्थः  
ततपदे प्रचादेभिस्त-पूरणचिन्ततमणीयमानानाम् । लडधाधिकमानानाम् । सुहेमविमलागिधानानाम्  
स्वरीन्द्रगच्छनायक-पदवीप्राप्तिस्त्रानाम् । शिष्याणुरुणशासन-जननीतिय समिग्रे ( १५८३ ) चर्चा  
विवृधिविवृद्धे चाहया( ? )× श्वस्य श्वस्तये परोपकृतये च । स्त्र॒व॒कृताऽस्यैतों, हृ॒प॒कृत्लो दी॒पि॒कृत्प॒लित्यत्  
काश्चित्प्रमाणयुक्ती-रप्तय नात्र सुगमताहेतोः । तत एव त्वं विहितो, लक्षणमनिष्टत्वा क्वापि  
स्वावासङ्गतमत्रा-वादि कथाच्चिन्मया यदहरतया । तच्छोधयन्तु सुधियः, कृपया मात्सर्गत्वसार्य  
ग्रन्थमितिरुमिताऽन्त च, सप्तमहस्ताणि किञ्चिद्दूनानि । विवृधग्रन्थाव्यग्रानोऽयं, ग्रन्थोऽयं जगति जगतु चिरम् ॥ १३ ॥



X “विवृधनामकशिष्यः” इति मुद्रितायाम् ।

प्रष्टस्ति ।

॥ २६ ॥

उत्थितः स खलु तुच्छप्रकृतिः पण्डितंमन्यः ‘परलोकस्य’ सद्गते: ‘पलिगत्थाय’ विघाताय लिपुति । यः पुनर्महासद्यः  
 सागरवद्गम्भीरः अपगादी न ‘परिगापते’ न निन्दति, तेषु च परमां मैत्री मन्यते सम्यग् ज्ञानादीन्यतुगमय पापकृमणा  
 मकुरणायोविधितः म खलु पालो कविशुद्ध्या लिपुति, अनेन चारेन परनिन्दानज्ञनायशास्त्रियार्थकथेन श्रीगौतमः स्वौद्रत्यं  
 परिहरणति स्म, एवं श्रीगौतमेन यथास्त्रियार्थकथापितोऽप्युदको यदा गोतममनादियमाणो यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतस्तामेव  
 दिग्यं गमनाय प्रधारितवान्-चितितवान् ॥ ३६ ॥ तदा गौतमः प्राद—

भगव च एं उदाहु आउसंतो उदगा । (इतादि) जावकलाण मंगल देवयं चेइयं पञ्जुनासह (सू०) ॥ ३७ ॥  
 उगारुया—गगवान् गौतम आह—हे आयुषमन् उदक ! यः खलु तथापूतस्य धमणस्य व्राक्षणस्य वा ‘अनितके’ ममीपे  
 एरुमण्यायं खार्मिंकं सुवन्ननं श्रुत्वा निरामयाऽप्यथार्य आतमन एन तदउत्तर योगशेषमपदमित्यनगमय भूक्षमया तुख्या प्रत्युपेक्षय-  
 विचार्य अहमनेन योगशेषमपदमनुत्तर ‘लभिष्यतः’ प्रापितः मन सोऽपि तावल्लोकिकोऽपि तमुपदेशदातारमादियते-पूज्योऽप्य  
 भिति जानाति कलयाणं महान् दरातं चैत्यमिन पूर्णास्ते, प्राकृतजनोऽपि चेद्वितोपदेशदातार पूजयति तदा किं पुनर्वाच्य  
 मनुत्तरवर्मोपदेशकपूजायां विवेकिजनस्येति गावः ॥ ३७ ॥

तए एं से उदगः पेढालपुरे भगव गोयां एन चयासी (इतादि) एवमेव जहा ण तुवमे वयह (सू०) ॥ ३८ ॥  
 उगारुया—उहको गौतमस्त्रामिनगाह, यथा—एतेषां पदाना पूर्णमज्ञातयाऽनन्तर्णेन ‘अबोऽप्या’  
 श्रवणेयनवीचात् ‘अभिगमेन’ बोधेऽपि सम्यगप्रतिपत्त्याऽद्युतानाम कुतानागनिजातानां ‘अनिस्टुपानां’ गुरुणाऽदत्तानां

